वर्ष – 12, अंक – 12 ISSN - 0975-2560 पंजीयन क्र. 04/14/01/08825/06

P-468

पारमिता

स्थापना 1994

सम्पादक
प्रो. श्रीकान्त मिश्र

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

कार्यसमिति

प्रो. भरत कुमार तिवारी
अध्यक्ष
दर्शन एवं योग विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन विभाग
अ.प्र. सिंह विश्वविद्यालय,
रीवा (म.प्र.)

डॉ. अवनीश चन्द पाण्डेय
उपाध्यक्ष
दर्शन विभाग
सतीश चन्द्र कालेज, बलिया, (उ.प्र.)

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया
उपाध्यक्ष
बसंत महाविद्यालय, राजघाट,
वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. देवदास साकेत
कोषाध्यक्ष
दर्शन विभाग
अ.प्र.सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.

डॉ. विवेक कुमार पाण्डेय
सहसचिव
दर्शन एवं धर्म विभाग,एम.एम.व्ही.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. रेनू चौधरी
सहसचिव
सी.एम.पी.डिग्री कालेज
प्रयागराज (उ.प्र.)

डॉ. दिनेश पाटीदार
सहसचिव
दर्शन विभाग
शास.कमलाराजा कन्या स्वशासी
महाविद्यालय, ग्वालियर(म.प्र.)

सम्पादक मण्डल

1. डॉ.प्रदीप खरे, भोपाल
2. डॉ.गौतम कलोत्रा, दिल्ली
3. डॉ.विवेक पाण्डेय, वाराणसी
4. डॉ.अवनीश चन्द पाण्डेय, बलिया
5. डॉ.जयन्त उपाध्याय, वर्धा
6. डॉ.सिन्धु पौडियाल, त्रिपुरा
7. डॉ.दिनेश पाटीदार
8. डॉ.देवदास साकेत, रीवा
9. डॉ.सूर्यप्रकाश द्विवेदी, रीवा
10. डॉ.ज्योति चौधरी, इन्दौर

परामर्शदात्री समिति

1. प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल, वर्धा
2. प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय, वाराणसी
3. प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, वाराणसी
4. प्रो. हरिशंकर उपाध्याय, प्रयागराज
5. प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय, प्रयागराज

पारमिता

वर्ष – 12, अंक – 12

R-468

सम्पादक
प्रो.श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र.एवं छ.ग.)

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ)

पारमिता

वर्ष – 12, अंक – 12

प्रकाशक : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

सर्वाधिकार : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

प्रकाशन वर्ष : 2023

मुद्रक : अनिल प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स
विवेकानन्द नगर, रीवा (म.प्र.)

नोट : शोध पत्रिका में प्रकाशित शोध–पत्र के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे। लेखक के विचारों से परिषद् की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय

दर्शन–परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़) की शोध–पत्रिका 'पारमिता' वर्ष 12 अंक 12 आपके कर कमलों में है। परिषद् का यह प्रयत्न है कि अधिवेशनों में प्रस्तुत शोध आलेखों का प्रकाशन सुनिश्चित हो सके। इसीलिए पिछले अंक में राजनाँदगांव (छ.ग.) सत्र 2019–20 तथा रीवा (म.प्र.) सत्र 2020–21 के अधिवेशनों में प्रस्तुत शोध आलेखों को सम्मिलित करते हुए उसे प्रकाशित किया गया था तथा प्रस्तुत अंक में 2021–22 के रीवा अधिवेशन के आलेखों को सम्मिलित करते हुए प्रकाशित किया जा रहा है।

शनैः शनैः मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में दर्शनानुरागियों की संख्या लगातार वृद्धि को प्राप्त हो रही है तथा उनके चिन्तन में गहराई भी दृष्टिगोचर हो रही है। यह सुखद है कि अधिवेशनों में युवा दार्शनिक बढ़–चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं। यह हिस्सेदारी दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) तथा दर्शन परिवार के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करता है। वर्तमान समय में मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़ के साथ–साथ उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, झारखण्ड, त्रिपुरा, कर्नाटक आदि प्रदेशों से युवा शोधार्थियों और अध्येताओं की, परिषद् के साथ सक्रिय हिस्सेदारी हमें आत्मतुष्ट कर रही है। हम अपने लेखकों/पाठकों तथा उन सभी आत्मीय जन को शुभकामना प्रेषित करते हैं, जो किसी न किसी रूप में दर्शन परिवार से जुड़े हैं।

शोध–पत्रों/आलेखों के प्रकाशन में यह प्रयत्न किया गया है कि मानक स्तर के लेख ही प्रकाशित हों, तथापि किसी प्रकार की त्रुटि है, तो उसके लिए सम्पादक के नाते मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। मैं दर्शन परिषद् के पार्षदों से अनुरोध करता हूँ कि अपने शोध–पत्र के लेखन में उचित और प्रामाणिक सन्दर्भों का समावेश अवश्य करें ताकि अपनी शोध पत्रिका 'पारमिता' एक स्तरीय पत्रिका के रूप में स्थापित हो सके।

सहयोग की अकांक्षा के साथ,

वसंत पंचमी
दिनांक 26 जनवरी 2023

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
सम्पादक

अनुक्रमणिका

क्र.	प्रतिभागी का नाम	शोध–पत्र का शीर्षक	पृ.संख्या
1	डॉ. भरत कुमार तिवारी	रामचरित मानस में भक्ति का स्वरूप	06
2	आचार्य प्रियव्रत शुक्ल	आत्मानुसंधान : श्री रमण महर्षि	11
3	डॉ. हरनाम सिंह अलरेजा	आधुनिक भारत की समस्याएँ तथा स्वामी विवेकानन्द	17
4	डॉ. दिनेश कुमार पाटीदार	व्यावहारिक वेदान्त की संकल्पना पर विचार	24
5	डॉ. राजेश कुमार चौरसिया	भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा पर विमर्श	27
6	डॉ. रेनू चौधरी	नाथपंथ दर्शन एवं योग एक अध्ययन (सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के विशेष सन्दर्भ में)	39
7	डॉ. मीनाक्षी पिंपलापुरे	पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानव दर्शन	47
8	डॉ. कृष्णमुरारी सिंह	पंडित दीनदयाल का शिक्षा दर्शन	51
9	डॉ. अशुतोष व्यास	डॉ. अम्बेडकर के आर्थिक विचारों का दर्शन:कुछ विचार, कुछ टिप्पणियाँ	56
10	डॉ. ज्योति चौधरी	महामति प्राणनाथ और विश्व धर्म की अवधारणा	61
11	प्रियंका यादव	श्री अरविन्द का राजनैतिक विचार और वर्तमान के लिए सन्देश : एक दार्शनिक अनुशीलन	66
12	पुष्पेन्द्र कुमार साकेत	बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य : एक दार्शनिक विवेचन	71
13	डॉ.श्रीकान्त मिश्र एवं लाल बिहारी कुशवाहा	गाँधी दर्शन के नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता	78
14	मनीष प्रसाद गौतम	गाँधी जी का दर्शन	84
15	पुष्पलता	स्वतंत्रता–पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन	90
16	ऋचा सिंह	स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन : स्वतंत्रता पूर्व परिस्थितियों के विशेष सन्दर्भ में	94
17	विकास आर्य	वेद और राष्ट्र	98
18	रघुनाथ पटेल	डॉ.भीमराव आंबेडकर : सामाजिक दर्शन	103
19	धनक सिंह	महर्षि अरविन्द घोष के विचारों में 'धर्मदृष्टि' की संकल्पनात्मक अवधारणा	106
20	डॉ.संदीप कुमार चौरसिया	महात्मा गाँधी के विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन	112
21	डॉ. सानू तिवारी	धार्मिक सहिष्णुता और सार्वभौम धर्म : विवेकानन्द के विशेष सन्दर्भ में	116
22	डॉ. वन्दना काले	पं.दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन में धर्म का स्वरूप	121
23	डॉ. देवेन्द्र जाटव	योग सम्प्रत्यय की चिकित्सा दर्शन विषयक अवधारणा	125
24	डॉ. रश्मि पटेल	ओशो का शिक्षा दर्शन	128
25	डॉ. रमेश कुमार साकेत	बाबा साहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर का दार्शनिक चिन्तन	130
26	डॉ. विनय कुमार पटेल	स्वामी सत्यानंद जी की शिक्षाओं का दार्शनिक अवलोकन	135

27	डॉ.विवेक कुमार पाण्डेय	महामना का शिक्षा दर्शन : समकालीन समस्याएँ एवं समाधान	139
28	डॉ. देवदास साकेत	पर्यावरण दर्शन में प्रो.हेमन्त नामदेव का नीति दर्शन	145
29	डॉ.गोविन्द प्रसाद मिश्र	आचार्य श्रीराम शर्मा के चिंतन में मानव उत्कर्ष एवं उसके समाधान–सूत्र	149
30	डॉ. एस.एन. देवलिया	नई शिक्षा नीति 2020 एवं गांधी का शिक्षा दर्शन	156
31	डॉ. नरेन्द्र कुमार बौद्ध	बाबा साहेब का सोसल इन्डोस्मॉसिस	160
32	डॉ. निवेदिता साबत	रविन्द्र संगीत का दार्शनिक विवेचन	166
33	डॉ.भगवन्त सिंह एवं श्री योगेश्वर साहू	'दिव्य जीवन'की स्थापना में "पूर्ण अद्वैत योग"की भूमिका: श्री अरविन्द के परिप्रेक्ष्य में	170
34	रंजना शर्मा	धर्म अर्थात् सर्वमुक्ति–राधा कृष्णनन् के अनुसार	175
35	डॉ. तृप्ति तिवारी	गांधी–दर्शन	179
36	डॉ. बबीता सिंह	अरविन्द दर्शन में विज्ञानमय पुरुष की अवधारणा	182
37	नम्रता यादव	चन्देल कालीन मूर्ति शिल्प में मनोरंजन के तत्व	186
38	डॉ.ज्योति गोयल	सर्वोदय की अवधारणा एवं न्यायिकता का सिद्धान्त	193
39	डॉ. सिंधु पौडियाल	Existence and Life: Finding some theories in History of Humanity	197
40	ज्ञानेन्द्र कुमार तिवारी	Re-learning and Re-imagining Gandhi in Contemporary World	202
41	तिखे अश्विनी शाम डॉ.अखिलेश सिंह	Concepts of psycho-social wellness in Yoga Satras of Patañjali	205
42	मनीषा राव	Aurobindo's Defense of Indian Philosopy and Culture: A Response to the West	210
43	गौतम कलोत्रा	Foundation of Sakhya Doctrine:A Theoretical Re-Visiting	213
44	हिमांशु सिंह	General and Spiritual Philosophy of Acharya Rajneesh Jain	219
45	डॉ. ऋचा कपूर मेहरा	Balancing Peace from Inner to Outer	222
46	रिकी जादवानी	Analysing Gandhi's Dandi March and Vande Mataram by Speech Act Theory	225
47	डॉ.तिखे शाम गनपत	Yoga Therapy for Diabetes Management	230

दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) में संचालित व्याख्यानमालाओं तथा पुरस्कारों का विवरण

1	श्री रमण महर्षि व्याख्यानमाला	233
2	स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला	234
3	स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव स्मृति योग व्याख्यानमाला	235
4	स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ नीति दर्शन व्याख्यानमाला	236

5	स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज योग व्याख्यानमाला	237
6	स्वामी श्री विष्णुतीर्थ स्मृति वेदान्त व्याख्यानमाला	238
7	स्व.हजारी लाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला	239
8	स्व.श्री श्याम सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला	240
9	श्रीकीर्ति योग व्याख्यानमाला	240
10	स्व.प्रो.सुरेन्द्र सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला	241
11	मालती देवी–पुन्नीलाल पटेल स्मृति पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला	243
12	स्व.झाडूराम मरावी श्रीरामचरित मानस व्याख्यानमाला	243
12	स्व.प्रो.सुरेन्द्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार	244
13	राय बहादुर डॉ.हीरालाल राय ग्रन्थ पुरस्कार	245
14	स्व.श्री श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार	246
15	स्व.प्रो.हेमन्त नामदेव स्मृति नीति दर्शन निबन्ध पुरस्कार	247

****

रामचरित मानस में भक्ति का स्वरुप

प्रो. भरत कुमार तिवारी
विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र एवं योग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

भक्ति शब्द की उत्पत्ति 'भज' धातु से हुई है, जिसका अर्थ सेवा करना या भजना है, अर्थात श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इष्टदेव के प्रति आसक्ति। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूप और अमृत स्वरूप कहा गया है, व्यास ने पूजा में अनुराग को भक्ति कहा है। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त और वरुणसूक्त में भक्ति के मूल तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। उपनिषदों में उपासना की प्रधानता से निर्गुण भक्ति और कहीं–कही प्रतीकोपासना पुनःजागृत हो उठती है। छान्दोग्योपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् आदि में विष्णु, शिव, रूद्र, अच्युत, नारायण, सूर्य आदि की भक्ति और उपासना के पर्याप्त संकेत पाये जाते हैं।

मध्ययुग में भागवत भक्ति के चार प्रमुख सम्प्रदाय प्रचलित हुए (1) श्री सम्प्रदाय (रामानुजाचार्य द्वारा प्रचलित) (2) ब्रह्मसम्प्रदाय (मध्वाचार्य द्वारा प्रचलित) (3) रूद्रसम्प्रदाय (विष्णु स्वामी द्वारा प्रचलित) और सनकादिक सम्प्रदाय (निम्बार्काचार्य द्वारा प्रचलित) इन सभी सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद, मायावाद तथा कर्मसन्यास का खण्डन कर भगवान् की सगुण उपासना का प्रचार किया।

भागवत धर्म के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार है, सृष्टि के उत्पादक एक मात्र भगवान हैं। इनके अनेक नाम हैं, जिनमें विष्णु, नारायण, वासुदेव, जनार्दन आदि मुख्य हैं। वे अपनी योग माया प्रकृति से समस्त जगत् की उत्पत्ति करते हैं। उन्हीं से ब्रह्म, शिव आदि अन्य देवता प्रादुर्भूत होते हैं। जीवात्मा उन्हीं का अंश है, जिसको भगवान का सायुज्य तथा तादात्म्य होने पर पूर्णता प्राप्त होती है समय–समय पर जब संसार पर संकट आता है तब भगवान् अवतार धारण कर उसे दूर करते हैं। उनके दस प्रमुख अवतार हैं जिनमें राम और कृष्ण प्रधान हैं।

रामचरितमानस एक पवित्र, पठनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना लगभग 1584 ई. में गोस्वामी तुलसीदास ने की। इसकी भाषा अवधी है, किन्तु इस पर ब्रजभाषा और भोजपुरी का भी प्रभाव है। रामचरित मानस में भगवान राम का चरित्र वर्णित है। इसमें सात सोपान तथा काण्ड हैं–(1) बालकाण्ड, (2) अयोध्याकाण्ड, (3) अरण्यकाण्ड, (4) किष्किन्धाकाण्ड, (5) सुन्दरकाण्ड, (6) लंकाकाण्ड, (7) उत्तरकाण्ड। रामचरितमानस मूलतः काव्य है किन्तु इसका उद्देश्य है भारतीय धर्म और दर्शन का प्रतिपादन करना। इसलिए इसमें उच्च दार्शनिक विचार, धार्मिक जीवन और सिद्धान्त–वर्णाश्रम, अवतार, ब्रह्मनिरूपण और ब्रह्मसाधना, सगुण और निर्गुण भक्ति का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

रामचरितमानस में व्यक्त माया, जीव, जगत्, ब्रह्म आदि के आधार पर बहुत से दार्शनिक उन्हें अद्वैतवादी मानते हैं। विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को सगुण रुप माना जाता है। इस विचारधारा के अनुसार ब्रह्म और जीव में परस्पर अन्तर है। इस संसार रुपी सागर के पार उतरने का

एकमात्र साधन श्री राम की कृपा है। तुलसीदास के काव्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जा है कि उनके काव्य पर अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद दोनों का प्रभाव है। वे ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं किन्तु वह भक्तों के उद्धार के लिए सगुण रूप धारण करते हैं उनके सगुण राम ब्रह्म हैं वे अविनाशी, अनीह, अनाम, अज हैं। तुलसीदास के अनुसार निर्गुण और सगुण में को वास्तविक भेद नहीं;

"सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि परान बुध वेदा।।"

उनके अनुसार निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो स्वरूप है और भक्तों के प्रेम से वशीभू निर्गुण सगुण रूप धारण करते हैं;

"अनुग अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।"

रामचरितमानस में भगवान राम का नामकरण संस्कार भी निर्गुण ब्रह्मभाव से सम्पन्न दिखाया गया है। इस प्रसंग में कहा गया है कि ये जो आनन्द के समुद्र और सुख की रा है, जिस आनन्द सिन्धु के एक कण से तीनों लोक सुखी होते हैं, उनका नाम 'राम' है, जो सु का भवन और सम्पूर्ण लोकों को शान्ति देने वाला है।

"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर में त्रलोक सुपासी।।
जे सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा।।"

श्री रघुनाथ जी से विमुख रहकर मनुष्य चाहे करोड़ों उपाय करे परन्तु उसका संसा बन्धन कौन छुड़ा सकता है। जिसने सब चराचर जीवों को अपने वश में कर रखा है, वह माय भी प्रभु से भय खाती है।

"रघुपति विमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव बंधन छोरी।।
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सो भय भाखे।।"

भगवान माया को भौंह के इशारे पर नचाते हैं। ऐसे प्रभु को छोड़कर कहो और किसक भजन किया जाए। मन, वचन और कर्म से चतुराई छोड़कर भजते ही श्री रघुनाथ जी कृप करेंगे।

"भृकुटि बिलास नचावइ ताही। उस प्रभु छाडि भजिअ कहु काही।।
मन क्रम बचन छाडि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।।"

तुलसीदास स्पष्ट संकेत करते हैं कि सगुण साकार को निर्गुण निराकार की दृष्टि देखना और इसी दृष्टिकोण से परोपकारपूर्ण व्यवहार करना ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। बिन्दु सिन्धु का भाव हृदय में रखे बिना श्रेष्ठ भक्ति बनती ही नहीं। सगुण के प्रति निर्गुण का व्याप और असीम भाव रखने से इतनी सुन्दर भक्ति बनती है, जैसे स्वर्ण की डिबिया में हीरा रखा हो

रामजी ने कहा कि सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्यगति होता है मुझे छोड़कर उसको कोई दूसरा सहारा नहीं होता।

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।।

भक्त की शक्ति भगवान का ही असाधारण कार्य है, क्योंकि भक्त और भगवान आत्मि प्रेम के कारण भिन्न नाम और अभिन्न शरीर होते हैं। हनुमान जी द्वारा सुरसा विजय भी भक्त की भक्ति और भगवान की शक्ति का सुन्दर उदाहरण है। क्योंकि सुरसा ने योजन भर (वा

कोस में) मुंह फैलाया तब हनुमान जी ने अपने शरीर को उससे दूना बढ़ा लिया। उसने सोलह योजन का मुख किया। हनुमान जी ने तुरन्त ही बत्तीस योजन हो गये। जैसे–जैसे सुरसा मुख का विस्तार बढ़ाती थी, हनुमान जी उसका दूना रूप दिखलाते थे। उसने सौ योजन का मुख किया। तब हनुमान जी ने बहुत ही छोटा रूप धारण कर लिया और वे उसके मुख में घुसकर तुरन्त बाहर निकल आये और उसे सिर नवाकर विदा मांगने लगे। उसने कहा कि मैंने तुम्हारे बुद्धिबल का भेद पा लिया, जिसके लिए देवताओं ने मुझे भेजा था। शिवजी राम की इसी शक्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हे उमा! उसमें वानर हनुमान की कुछ बड़ाई नहीं है। यह प्रभु का प्रताप है, जो काल को भी खा जाता है।

लंका दहन में भी राम की अलौकिक शक्ति का परिचय इस प्रकार मिलता है कि उस समय भगवान् की प्रेरणा से उनचासों पवन चलने लगे। हनुमान जी अट्टहास करके गर्जे और बढ़कर आकाश से जा लगे। हनुमान जी ने एक ही क्षण में सारा नगर जला डाला। एक विभीषण का घर नहीं जलाया। जिन्होंने अग्नि को बनाया, हनुमान जी उन्हीं के दूत हैं। इसी कारण वे अग्नि से नहीं जले।

हनुमान जी ने कहा भगवान को भूलना ही विपत्ति है। आप स्वयं ब्रह्म हैं। हे प्रभु! विपत्ति तो वही है जब आपका भजन स्मरण न हो।

कह हनुमंत विपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई।।
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना।।
साखामृग कै बड़ि मनसाई। साखा तें साखा पर जाई।।
नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।

सिंधु पर सेतु निर्माण में पत्थरों का जल पर तैरना भी राम की दिव्य शक्ति प्रकट करता है। चतुर नल और नील ने सेतु बांधा। श्रीरामजी की कृपा से उनका उज्जवल यश सर्वत्र फैल गया। जो पत्थर आप डूबते हैं और दूसरों को डुबा देते हैं, वे ही जहाज के समान स्वयं तैरते और दूसरों को पार ले जाने वाले हो गये। यह न तो समुद्र की महिमा वर्णन की गई है, न पत्थरों का गुण है और न वानरों की ही कोई करामात है।

गोस्वामी तुलसीदास जी प्रत्येक स्थान पर पदे पदे उनके ब्रह्मभाव को स्पष्ट करते और स्वयं भी भक्ति का आनंद लेते चलते हैं, जो रामावतार को साकार साधारण मानव की भावभूमिका से ऊपर उठाकर निर्गुण निराकार के ब्रह्मभाव में स्थिति का प्रबल प्रमाण है।

श्रीराम जी को मायातीत, निर्गुण ब्रह्म रूप में चित्रित कर कहा गया है कि एक श्री रघुवीर के ही माया नहीं लगी। सब वानरों ने और लक्ष्मण जी ने भी उस माया को सच मान लिया। वानरों ने राक्षसी सेना में भाई लक्ष्मण सहित बहुत से रामों को देखा।

भक्त भगवान् को याद करते रहते हैं तो भगवान भी भक्त को नहीं भूलते। तभी तो राम सोचते हैं कि यदि अवधि बीत जाने पर जाता हूं तो भाई को जीता न पाऊंगा। छोटे भाई भरतजी की प्रीति का स्मरण करके प्रभु का शरीर बार–बार पुलकित हो रहा है।

विभीषण के प्रति भी भगवान् का यही भाव द्रष्टव्य है। तभी तो श्री राम जी ने कहा कि हे विभीषण! तुम कल्प भर राज्य करना, मन में मेरा निरंतर स्मरण करते रहना। फिर तुम मेरे उस धाम को पा जाओगे जहां सब संत जाते हैं।

इस प्रकार रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के कई रूप और कई भेद बताए हैं जैसे – अनपायनी भक्ति, प्रेम भक्ति, अविरल भक्ति, नवधा भक्ति इत्यादि। श्री रामचरितमानस में सगुण–भक्ति पर जितना चिन्तान किया गया है, शायद ही इतना किसी अन्य ग्रन्थ में प्राप्त हो। रामचरितमानस में मंगलाचरण में सगुण–भगवान श्री राम की स्तुति है। गोस्वामी तुलसीदास जो कि स्वयं सगुण श्री राम के अनुरागी भक्त हैं।

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।

इसी तरह के अनेक उदाहरण रामचरितमानस में मिलते हैं जहां सगुण राम ही ब्रह्म है। अतः यहां कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने किसी एक मार्ग का अनुसरण नहीं किया बल्कि अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों से व्यवहारोपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर सगुण एवं निर्गुण भक्ति का समन्वय कर सर्वथा नवीन दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन किया। समाज में किसी से भी वैर या घृणा का भाव न रखना ही भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। यही आदर्श भक्ति तुलसी की अभीप्सा है, क्योंकि वे 'राम' का स्वरूप सब जड़–चेतन में स्वीकार करते हैं। अतः रामचरितमानस की भक्ति में सामाजिक सेवा, दान, परोपकार आदि का उदात्त भाव सर्वथा निहित है सबमें एक राम को देखना ही समाज में समता, एकता और परोपकार की भावना प्रबल करके किसी भी राष्ट्र को सुदृढ़ कर सकता है। वर्तमान काल में जो समस्याएं राष्ट्र को कमजोर कर रही हैं, वे मानस के आदर्श समाज और रामराज्य से ही हल हो सकती हैं।

संदर्भ :–

1. डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्मकोश, पृ. 464
2. वही, पृ. 464
3. मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि।
4. जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
   सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा।। रामचरितमानस 1/196/3
5. रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव बंधन छोरी।।
   जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे।। रामचरितमानस 1/199/2
6. रामचरितमानस 1/199/3
7. हिय निरगुन नयननि सगुन रसना नाम सुनाम।
   मनहु पुरट सम्पुट लस्यो, तुलसी ललित ललाम।। तुलसीकृत दोहावली, 7
8. रामचरितमानस 4/2/4
9. जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा।।
   सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ।।
   जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा।।

सत जोजन तेहिं आनत कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।।
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। भगा बिदा ताहि सिरू नावा।।
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा।।
उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई। रामचरितमानस 5/1/4,5

10. हरि प्रेरित्त तेहि अवसर चले मरूत उनचास।
अट्टाहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।।
जारा नगरू निमिष एक माहीं। एक विभीषन कर गृह नाहीं।।
ताकर दूत अनल जेहिं सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा।।
रामचरितमानस 5/25/3,4

11. रामचरितमानस 5/133/5

12. बांधा सेतु नील नल नागर। राम कृपा जसु भयक उजागर।।
बूड़हिं आनहि बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई।। रामचरितमानस 6/2/4

13. महिमा यह न जलधि कई बरनी।
पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी।। रामचरितमानस 6/2/5

14. सो माया रघुबीरहि बांची। लछिमन कपिन्ह सो मानी सांची।।
देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी।। रामचरितमानस 6/88/4

15. बीतें अवधि जाऊं जौं जिअत न पावउं बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर।। रामचरितमानस 6/116 ग

16. करहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमरेहि मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहां संत सब जाहिं।। रामचरितमानस 6/116 घ

17. नाथ भगति अति सुखदायनी। देह कृपा करि अनपायनी।।
सुनि प्रभु सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी।। रामचरितमानस 5/33/1

18. नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुत धरू मन माहीं।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथी भगति मम गुन करइ कपटि तजि गान।।
मंत्र जाप दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सौ बेद प्रकासा।।

19. छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।।
सातवें सम मोहि मम जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।।
आठवें जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहीं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियें हरष न हीना।।
नव महुँ एकउ जिन के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।
रामचरितमानस 3/34–1/35/1,2,3

20. रामचरितमानस, मंगलाचरण (रामस्तुति)

21. रामचरितमानस 4/25/7

आत्मानुसंधानः श्री रमण महर्षि

आचार्य प्रियव्रत शुक्
पूर्व कुलपति, म.छ.बु.वि.वि., छतर
दर्शनशास्त्र स्नातकोत्तर अध्यय
रानी दुर्गावती विश्वविद्याल
जबलपुर (मध्य प्रदे

वर्ष 1879 में भारत भूमि में जन्मे भगवान श्री रमण महर्षि अनेक विद्वानों द्वारा बीस शताब्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध संतों एवं अद्वैत धारा के अनुभवसिद्ध मनीषी माने जाते हैं। उ प्रायः भगवान कहकर संबोधित किया जाता है। महर्षि को सत्रह वर्ष की अल्पायु में ही प्रबो प्राप्त हो गया था। आध्यात्मिक रूपान्तरण की इस अलौकिक घटना के उपरांत रमण महर्षि अरुणाचलम् की पर्वत श्रेणियों की ओर प्रस्थान किया। अपनी अनूठी प्रणाली के अंतर्ग आत्मानुसंधान के गहन एवं आधारभूत सहज उपदेश के माध्यम से उन्होंने अद्वैत दर्शन की दुरू विषयवस्तु का बोध भारतीय एवं विदेशी मूल के जिज्ञासुओं को समान रूप से कराया। इस प्रक शीघ्र ही महर्षि की गणना एक विश्व गुरु के रूप में की जाने लगी। रमण आश्रम ने महर्षि शिक्षा और संवादों से सम्बद्ध सत्तर से अधिक ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिन्हें उन अनुयायियों ने लिखा व संपादित किया है। महर्षि के साथ संवादों को उनके सम्मुख रिका किया जाता था और पुनः उन वार्तालापों के अँग्रेजी अनुवाद को महर्षि से अनुमोदित करवा जाता था। अँग्रेजी भाषा पर महर्षि का विशेष अधिकार था। एलन जेकब्स के अनुसार –

"श्री भगवान महर्षि रमण आज सारी दुनिया में महान विश्व गुरु के रूप में जाने जा हैं। वे आधुनिक युग के महान आध्यात्मिक गुरुओं में से हैं, जिसकी वजह से सारे संसार उनका प्रभाव देखा जा सकता है"। पाश्चात्य जगत के भारत वर्ष से जुड़े अनेक पारंपरिक गू विषयों तथा अध्यात्म में विशेष रुचि रखने वाले प्रसिद्ध विद्वान पाल ब्रन्टन महर्षि के सान्नि में आए थे और उन्होंने भगवान से प्रभावित होकर अपने ग्रंथ ब्वदेबपवने त्नसपजल में लिखा

"In the presence of the Maharshi I felt security and inward peace. The spiritu radiations that emanated from him can never be reported. Face to face with the Maharsh sometimes I felt in the presence of a visitor from another planet, at some times with a bei of another species."

प्रस्तुत व्याख्यान/आलेख मूलतः महर्षि रमण से सम्बद्ध उनके अत्यंत लघु ग्रंथ 'हू ए आई?' पर केन्द्रित है जिसके अंतर्गत प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। महर्षि अपने पुराने अनुया शिवप्रकाशम पिल्लई के आत्मानुसंधान से संबन्धित विभिन्न प्रश्नों या जिज्ञासाओं का लिखि रूप में उत्तर देते हैं जो मूल रूप में तमिल भाषा में था। कालांतर में इसको अँग्रेजी एवं अ अनेक भाषाओं में अनुवादित किया गया है। उक्त अतिलघु ग्रंथ के भूमिका भाग में डाक्टर ट एम. पी. महादेवन ने अत्यंत संक्षेप में महर्षि की 'हू एम आई?' में वर्णित मूल शिक्षा को बहुत अ

से समझाया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत आलेख में महर्षि द्वारा वर्ष 1901 में लिखित उनके प्रथम लघु ग्रंथ 'सेल्फ इन्क्वायरी' को भी सम्मिलित किया गया है। इन दोनों ही लघु ग्रन्थों को हम महर्षि की मौलिक गद्य रचना की श्रेणी में रख सकते हैं जिनमें उन्होंने अद्वैत के केन्द्रीय तत्त्व को निरूपित करते हुए यह भी प्रतिपादित कर दिया है की मोक्ष का साक्षात् पथ आत्मानुसंधान ही है। डाक्टर महादेवन लिखते हैं–

"Along with Vicharsangraham (Self Enquiry) Nan Yar (Who am I?) Constitutes the first set of instructions in the Master's own words. These two are the only prose pieces among Bhagawan's works. They clearly set forth the central teaching that the direct path to liberation is Self-enquiry. The particular mode in which the enquiry is to be made is lucidly set forth in Nan Yar."

इस ग्रंथ को महर्षि ने मात्र 22 वर्ष की आयु में लिखा था। श्री रमण महर्षि ने विभिन्न भक्तों से विभिन्न काल खण्डों में आत्मानुसंधान से संबन्धित वार्तालाप किए हैं जो उनके इस विस्तृत संवाद को उनके ही आश्रम के द्वारा संग्रहीत किया गया था और कालांतर में हिन्दी में श्री दिनेश चन्द्र शर्मा द्वारा अनुवादित कर महान दार्शनिक डाक्टर टी. एम. पी. महादेवन की भूमिका के साथ प्रकाशित किया गया है। उक्त ग्रंथ को भी हम अपने अध्ययन में सम्मिलित करने का लोभ नहीं छोड़ सकते क्यों कि इसमें उनके 'हू एम आई?' विषयक मौलिक विचार का पर्याप्त विश्लेषण किया गया है।

विचारों के बाहुल्य के बीच केंद्रीय रूप में 'मैं' या 'अहम्' के विचार का पाया जाना (who am I)] पुनः उस विचार के स्वरूप को खोजना या निश्चित करना कि वह यथार्थ में है क्या या कौन, कौन आत्म (Self) है और कौन अनात्म है (not self); और उसका भी विनिश्चयन करना जिसके सम्मुख अहम विषयक उक्त विचार प्रस्तुत हो रहा है (To whom do they arise?)। इस आत्मानुसंधान की अनवरत प्रक्रिया में वस्तुतः जिसे हम 'मैं' समझते आए हैं वह सब विलीन या विगलित हो जाता है और अंततः अहम् विषयक विचार भी चला जाता है और परम अद्वैत आत्म शेष रहता है।

"अहम् भाव के उदय से पूर्व वह कितना सुखी था! अहम् भाव का उदय ही वर्तमान क्लेशों की जड़ है। यदि वह अहं भाव के मूल की खोज कर ले तो वह उस अवस्था में पहुँच जाएगा जहां असीम आनंद है और निद्राहीन निद्रा। आत्मा सदैव वहीं रहती है;–इससे अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। चूंकि हमने भूल से खुद को सीमित बना दिया है; हमें उससे पार जाना होगा, उस सीमा को पार करना होगा।"

श्री रमण महर्षि आगे इस बात को समझाने और अद्वैत की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उन दस मूर्खों के कथानक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार दस लोग नदी नौका में पार करने के बाद खुद को छोडकर बारंबार सबको गिनते हैं और कुल संख्या नौ मात्र पाकर दुखी होते हैं तथा दसवें की व्यग्रता से तलाश करते हैं। और, अंततः किसी एक के न होने के भाव से सभी शोकग्रस्त हो जाते हैं। रमण महर्षि स्वयं को गुरु नहीं कहलवाते थे किन्तु उनके संवादों में उनकी भूमिका सदैव एक गुरु जैसी ही प्रतीत होती है। जिज्ञासु के प्रश्नों के समाधान में वे मात्र

सिद्धान्त न बतलाते हुए अभ्यास की प्रविधि भी प्रायः निदर्शित कर देते थे। परंतु सभी प्रकार उपायों के मध्य उनके द्वारा आत्मानुसंधान के उपदेश को सर्वाधिक और केंद्रीय महत्व दिया है। आस्बोर्न स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः यह कोई नई विधि नहीं है, अपितु प्राचीन काल में थी। उनके अनुसार–"प्राचीन काल में यह मार्ग उनके लिए था जो एकांत में रहते थे और दुनि से कटकर ध्यानमग्न हो जाते थे। वर्तमान में जैसा कि अपेक्षा की जा सकती है, यह तेजी दुर्लभ हो रहा है। भगवान ने इसे कर्म मार्ग के साथ जोड़ते हुए नया रूप दिया और इस बनाया कि इसे आधुनिक जगत की दशाओं के बीच अपनाया जा सके। इसके लिए किसी बा रूप या अनुष्ठान की जरूरत नहीं, यह हमारे समय की जरूरतों के अनुसार आदर्श उपाय

महर्षि का भी मानना था कि मन को अधीन करने के लिए आत्मानुसंधान से बेहतर उपाय नहीं हो सकता। वैसे मन को दूसरे उपायों से भी न्यून किया जा सकता है, लेकिन फिर पुनः अपने रूप में आने में देर नहीं लगती। ये एक प्रत्यक्ष उपाय है, जबकि अन्य उ अहम् के साथ अपनाए जाते हैं इसलिए उनमें कई संदेह उत्पन्न होते हैं और महर्षि के अनु मूल प्रश्न कहीं और दबा रह जाता है। वहीं इस उपाय में अंतिम उपाय केवल एक ही है उसको आरंभ से ही उठाया जाता है। महर्षि के अनुसार– "आत्मानुसंधान प्रत्यक्ष तौर आत्मज्ञान की ओर ले जाता है और उन बाधाओं को दूर करता है जिनके कारण आपको नहीं चलता कि आत्मा तो पहले की प्रबुद्ध है। ध्यान करने के लिए आपको कोई वस्तु चा जबकि आत्मानुसंधान में केवल एक विषय है, कोई वस्तु नहीं है। यही इन दोनों के बीच अंतर है।"

जब महर्षि से यह प्रश्न किया गया कि आखिर आत्मानुसंधान को ही ज्ञान को प्र करने का एक सीधा रास्ता क्यों माना जाए तो उन्होंने जो समझाया उसमें ही उनकी प्रवि का मूल अंतर्निहित है। उन्होंने कहा–"क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पथ में मन निरोध को ही उसे पाने का साधन माना जाता है, इसका पालन मन के बिना नहीं किया सकता। अभ्यास के दौरान अहम कई तरह के सूक्ष्म और विभिन्न रूप धर सकता है परंतु कभी नष्ट नहीं होता। आत्मानुसंधान के अलावा अहम या मन के नाश के अन्य उपाय ऐसे हैं मानो एक चोर पुलिस वाला बनकर उस चोर को पकड़ रहा हो, जो वह स्वयं ही है। के आत्मानुसंधान से ही यह सत्य प्रकट हो सकता कि अहम या मन का कोई अस्तित्व नहीं है व्यक्ति को उसके विशुद्ध अस्तित्व या आत्मा के निकट ले जा सकता है।"

आत्मानुसंधान की पद्धति के निरूपण के प्रथम चरण में ही महर्षि प्रस्तुत विकल्पों निषेधात्मक विश्लेषण या उनके प्रति नेति नेति के सूत्र का प्रयोग करते दिखते हैं। यहाँ उन मूल लघु ग्रंथ से ही उद्धृत करना युक्तिसंगत होगा। वे लिखते हैं–

"The gross body which is composed of the seven humours (dhatus), I am not; the fi cognitive sense organs, viz., The senses of hearing, touch, sight, taste and smell, whi apprehend their respective objects, viz., the organs of speech, locomotion, grasping, exc tion and procreation, which have as their respective functions, speaking, moving, graspi excreting and enjoying, I am not; the five vital airs, prana, etc., which perform respectiv

the five functions of in-breathing, etc., I am not; even the mind which thinks, I am not; the nescience too, which is endowed only with the residual impressions of objects and in which there are no objects and no functionings, I am not."

उपर्युक्त प्रकार से उक्त सभी इंद्रियादि और उनकी क्रियाओं का निषेध करने के उपरांत प्रश्न उठता है कि फिर अंततः मैं हूँ कौन अथवा यह कि क्या है वह जो शेष रहता है। महर्षि के अनुसार इन निषेधों के बाद जो बचता है वो है 'अवेयरनेस' या चेतना। वही 'मैं' है। पुनः यह पूछे जाने पर कि इस चेतना या अवेयरनेस का स्वभाव क्या है, महर्षि का समुचित उत्तर है कि यह सत–चित–आनंद स्वरूप है। अपने प्रथम ग्रंथ 'सेल्फ इंक्वैरि' अथवा 'विचार संग्रहम्' में महर्षि आत्मानुसंधान के विभिन्न आयामों का निर्देश करते हैं। इसी क्रम में वे आत्म का स्वरूप निदर्शन भी करते हैं। उनके अनुसार,

"The Self is self-luminous without darkness and light, and is the reality which is self-manifest. Therefore, one should not think of it as this or as that. The very thought of thinking will end in bondage. The purport of meditation on the Self is to make the mind take the form of the Self. In the middle of the heart cave the pure Brahman is directly manifest as the Self in the form of 'I-I'. Can there be greater ignorance than to think of it in manifold ways, without knowing it as aforementioned?"

रमण महर्षि का मानना था कि चूंकि प्रत्येक विचार, मैं का विचार उत्पन्न होने के उपरांत ही पैदा होता है और मन विभिन्न विचारों की 'पोटली' के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, तो 'मैं कौन हूँ?' के आत्मानुसंधान से मन को भी शांत किया जा सकता है। इस प्रकार के अनुसंधान में शेष सभी विचारों का भी स्वतः ही क्षय होना सुनिश्चित है। "वे स्वयं ही उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे जलती हुई चिता की लकड़ियों को हिलाने वाली लकड़ी भी अंततः जल जाती है।"

मनोस्थितियों और मनोविकारों के अध्ययन हेतु मनोविज्ञान विषय के अंतर्गत अंतर्मुखता या आत्म निरिक्षण (introspection) की प्रविधि का प्रयोग किया जाता है। सहज ही उत्कंठा हो सकती है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित आत्मानुसंधान की तुलना क्या हम अंतर्मुखता या आत्म निरिक्षण की प्रविधि से कर सकते हैं। महर्षि के वचनों एवं उनके सिद्धांतों के जानकार विद्वान इस तुलना से सहमत नहीं प्रतीत होते। उनके अनुसार–

"——भगवान ने जो आत्मानुसंधान की शिक्षा दी, वह मनोविज्ञानियों की अंतर्मुखता से अलग है। वास्तव में, यह कोई मानसिक प्रक्रिया है ही नहीं। अंतर्मुखता का अर्थ है कि मन के संरचना तथा सामग्री का अध्ययन, जबकि यह मन से परे जाकर आत्मा तक जांच करने का प्रयास है जिससे यह पैदा होता है। ——आत्म अनुसंधान आत्म निरीक्षण नहीं है, जैसा कि मनोविज्ञानियों ने इसे जाना। उसी तरह यह कोई तर्क या अनुमान भी नहीं है, जैसा कि दार्शनिक समझते आए हैं।" वैसे भी अध्यात्म एवं मनोविज्ञान के उद्देश्य सदा से परस्पर भिन्न रहे हैं अतः इनकी प्रविधियों की भिन्नता स्वाभाविक है। पुनः यह नहीं विस्मृत करना चाहिए कि श्री रमण महर्षि का अभीष्ट है अद्वैत की उपलब्धि जबकी सारे ही विज्ञान विषय विषयी के द्वैत पर आधृत होते हैं। 'मैं' की खोज किसी वस्तु या विषय का अनुसंधान नहीं है, अपितु यह 'मैं' या अहम् के मूल स्रोत का अनुसंधान है। मैं कौन हूँ की जिज्ञासा कौन उठा रहा है, या यह किसके

सम्मुख उठ रही है, उसे ही खोजना है। पुनः जब इसे पा भी लिया जाता है तो इसके वि चैतन्य स्वरूप को हम सदा से ही उपलब्ध भी स्वीकारते हैं। ऐसा कुछ विज्ञान की खोजों अनुसन्धानों में कभी नहीं घटित होता।

किसी भक्त के प्रश्न करने पर कि क्या यह मजाक जैसा नहीं प्रतीत होता कि 'मैं' 'मैं' को खोज रहा है, और क्या इस प्रकार यह खाली सूत्र मात्र बनकर नहीं रह जाएगा इसको किसी मंत्र की भांति रटा जाए। भगवान रमण इसका समाधान करते हुए कहते हैं– 'आत्मानुसंधान कोई खाली सूत्र नहीं है। यह किसी भी मंत्र के दोहराव मात्र से कहीं अधिक ——आत्मानुसंधान का उद्देश्य ही यही है कि मन को उसके स्रोत पर केन्द्रित किया जा स इस तरह यह किसी एक 'मैं' की ओर से किसी दूसरे 'मैं' की खोज का प्रश्न नहीं है। इसमें मन की गहन गतिविधि शामिल है जिसमें यह धीरे धीरे विशुद्ध चेतना में स्थित होता आत्मानुसंधान एक ऐसा प्रत्यक्ष साधन है जो आपके उस सच्चे और परम अस्तित्व को सा लाता है, जो आप सही मायनों में हैं।"

महर्षि शुद्ध अहं के विषय में स्पष्ट करते हैं कि यह दो अवस्थाओं अथवा दो संक की संधि में होता है। यह उस कीड़े के समान है जो पकड़ी हुई वस्तु को तभी छोड़ता है दूसरी को पकड़ लेता है। इसका वास्तविक स्वरूप तभी जाना जा सकता है जब यह किन्हीं पदार्थों, वस्तुओं या संकल्पों से संपर्क में न हो। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्विचार और संक विकल्प हीनता की अवस्था में ही आत्मा चेतन को निज स्वरूप की वह अनुभूति हो सकती जिसकी ओर शुद्ध अहं संकेतित करता है।

प्रायः भक्त आत्मानुसंधान एवं 'सोऽहम्' के ध्यान पूर्वक अनुचिंतन या जप के मध्य भ्र हो जाते थे। महर्षि दोनों स्थितियों के बीच अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

'आत्मानुसंधान, 'मैं शिव ही हूँ' तथा 'सोऽहम्' के ध्यान से विभिन्न पद्धति है। आत्मज्ञान पर बल देता हूँ क्योंकि जब आप विश्व में उसके स्वामी को जानने का प्रयत्न प्रार करें तो उससे पहले आपको अपने बारे में पता होना चाहिए। 'सोऽहम्' तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' में थो मानसिक विचार है परंतु आत्मानुसंधान की पद्धति बिलकुल सीधी है। यह अन्य पद्धतियों से श्रे है। जब आप आत्मा की तलाश करते हुए और अधिक गहराई में उतरते हैं तो सच्ची आ आपको और भीतर ले जाने के लिए आपकी राह देख रही होती है। और तब जो भी होता वह उसके द्वारा ही होता है, उसमें आपका कोई हाथ नहीं रहता। इस सारे सिलसिले में संदेह स्वयं ही मिट जाते हैं——"

अंततः महर्षि के मतानुसार आत्मानुसंधान की पद्धति आत्मज्ञान के प्रयास में सन् अन्य अनेक पद्धतियों से निश्चित रूप से बेहतर है। अनुयायियों के द्वारा यह पूछे जाने पर आत्मानुसंधान की उक्त पद्धति को कब तक अपनाए रखना होगा, महर्षि स्पष्ट करते हैं कि तक विषयों या वस्तुओं की छाप मन में शेष हो तब तक 'मैं कौन हूँ' प्रकार की पद्धति प्रयोज रहेगी। जैसे और जब भी ऐसे विचार उत्पन्न हों उन्हें तत्काल ही इस अनुसंधान की प्रवि माध्यम से उनके स्रोत में ही समाप्त कर देना है। अंततः महर्षि मोक्ष की परिभाषा भी आत्मा ान की पद्धति के महत्व के साथ–साथ ही स्पष्ट करते हैं। यह जिज्ञासा व्यक्त किए जाने

कि मोक्ष क्या है, महर्षि का संक्षिप्त किन्तु अत्यंत सारगर्भित उत्तर था:
"Inquiring into the nature of one's self that is in bondage, and realising one's true nature is liberation."

अर्थात् मोक्ष आत्मा के यथार्थ स्वभाव का प्रबोध मात्र नहीं है, अपितु वह अविद्या के कारण बंधन ग्रस्त प्रतीति वाले आत्मा के स्वभाव को जानने हेतु किए गए आत्मानुसंधान की प्रक्रिया में भी निहित है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ:

1. एलन जेकब्स, 'प्रस्तावना', रमण महर्षि के अनमोल वचन, संपादक आर्थर आस्बोर्न, रचना भोलायामिनी द्वारा हिन्दी में अनुवादित, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, 2018, पृष्ठ 9
3. The Teachings of Raman Maharshi, Edited by Arthur Osborne, first published by Century Hutchinson Ltd in 1962, current edition (2014) reissued by Rider, London, p. vii
4. Who am I? : TheTeachings of Bhagavan Sri Raman Maharshi, Shri Ramanashramam, Tiruvannamalai, thirty second edition 2021
5. श्री रमण महर्षि, Self-Enquiry, published in the Collected Works of Sri Raman Maharshi, published by Ramana Ashrmam, Tiruvannamalai, Tamilnadu, 2019 edition, pp. 3-35.
6. Who am I? : TheTeachings of Bhagavan Sri Raman Maharshi, p. 3-4
7. श्री रमण महर्षि से बातचीत, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1958
8. वही, पृष्ठ 65
9. आर्थर आस्बोर्न, रमण महर्षि के अनमोल वचन, पृष्ठ 103
10. वही, पृष्ठ 104
11. वही
12. वही
13. Who am I? : The Teachings of Bhagavan Sri Raman Maharshi, i''B 5
14. वही, पृष्ठ 6, सूत्र 3
15. Collected Works of Sri Raman Maharshi, पृष्ठ 27
16. रमण महर्षि के अनमोल वचन, पृष्ठ 105 "—the thought 'Who am I?' will destroy all other thoughts, and like the stick used for stirring the burning pyre it will itself in the end get destroyed. Then there will arise Self - realization." (Who am I?: The Teachings of Bhagavan Sri Raman Maharshi, पृष्ठ 8, सूत्र 10)
17. वही, पृष्ठ 105–7
18. वही, पृष्ठ 113
19. श्री रमण महर्षि से बातचीत, पृष्ठ 231
20. वही, पृष्ठ 125
21. Who am I? : The Teachings of Bhagavan Sri Raman Maharshi, पृष्ठ 11, सूत्र 15
22. वही, पृष्ठ 16, सूत्र 28

आधुनिक भारत की समस्याएँ तथा स्वामी विवेकानंद का दर्शन

डॉ.हरनाम सिंह अलरेजा
विभागाध्यक्ष (दर्शन एवं योग)
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय
राजनांदगांव (छ.ग.)

प्राचीन काल से लेकर आज के आधुनिक भारत तक के संदर्भ में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत मूलतः धर्म को प्रधानता देने वाला देश है। भारतीय धार्मिक सांस्कृतिक परम्परा को भारतीय मानस और उसके सामाजिक जीवन शैली से विछिन्न करना असम्भव है। इसलिए यह भी तय है कि इस देश में यदि कोई परिवर्तन करना हो या इस देश की समस्याओं का कोई ठोस समाधान ढूँढना हो तो किसी पाश्चात्य विचारक या आयातित अधार्मिक विचारधारा द्वारा यह संभव नहीं है, इसके लिए हमें इस देश के ही ऐसे विचारकों दार्शनिको को खोजना पड़ेगा जो इस देश को इस देश कि संस्कृति को समझते थे। स्वामी विवेकानंद उनमें से एक हैं।

आज के आधुनिक भारत कि समस्याओं पर दृष्टि डाले तो भारत की ताकत विविधता पूर्ण सांस्कृतिक सामंजस्यता है भारत धर्म, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, नस्ल आदि विविधताओं से भरा हुआ अद्भुत देश है। लेकिन समस्या यह है कि विविधता के कारण परस्पर विरोधी घटकों का आपस में भेद, ध्रुवीकरण, खंडित करने का प्रयास कर इस सांस्कृतिक एकमयी श्रृंखला को तोड़ने की कोशिश का जाती है। इस सांस्कृतिक सामंजस्यता को किस प्रकार अक्षुण्य रखा जा सकता है ? तथा इस समस्या का समाधान क्या हो सकता है। इसके अलावा भारत की दूसरी समस्या भ्रष्टाचार या रिश्वत खोरी जैसे अनैतिक व्यवहार की है। प्रस्तुत शोध पत्र में इन्ही दो प्रमुख समस्याओ को आधार बनाकर, इनका समाधान विवेकानंद के दर्शन में खोजने का प्रयास किया गया है।

आधुनिक भारत की समस्याएँ तथा स्वामी विवेकानंद का दर्शन" प्रारम्भिक काल के भारत से लेकर आज तक के आधुनिक भारत के दृष्टयात्मक अवलोकन करने से, यह तथ्यात्मक स्वरूप तो निश्चिततः स्पष्ट हो जाता है कि मूल रूप मे भारत एक धार्मिक देश है तथा भारतीय धार्मिक संस्कृति को भारतीय मानस एवं उसके सामाजिक जीवन शैली से विच्छिन्न करना असंभव है धर्म भारतीयों के अंदर और बाहर इस कदर अंतर्याप्त है कि वह अपनी व्यक्तिगत नैतिक सामाजिक हर प्रकार की समस्याओं पर मूल्यांकन करते समय धार्मिक दृष्टि को ही प्रायः आधार बनाता है। इसलिए आधुनिक भारत की विवेचना के पूर्व भारत की धार्मिक संरचना को समझना अनिवार्य है।

विभिन्न समाजों में निहित पंथो, मजहबों धर्मो का उत्पत्ति काल मध्य युग अथवा प्राचीन युग रहा है। जाहिर है जब इनका अवतरण हुआ होगा, उस समय की परिस्थितियों एवं मानव का जीवन, वर्तमान आधुनिक समय से बिल्कुल भिन्न रहा होगा। जैसे जैसे मानव और समाज

का धीरे धीरे विकास हुआ वैसे–वैसे इन पंथों, मजहबों, धर्मों में भी सोपानवत बदलाव हुए हालांकि देखा जाए तो यह परिवर्तन या बदलाव उस धर्म या मजहब के मूल तत्वमीमांसा या उसके केन्द्रीय विचार का ना होकर अधिकांशतः समयानुसार लौकिक व्यवहार या धार्मिक कर्मकाण्डों के प्रक्रियात्मक रूप का ही हुआ। जिन धर्मों, मजहबों ने इन परिस्थितिजन्य सहज परिवर्तनों को स्वीकार नही किया उनकी एक अन्य शाखा की उत्पत्ति हो गई। किसी भी धर्म या मजहब और उसकी परिवर्ती शाखाओ का तुलनात्मक अध्ययन कर, उस धर्म या मजहब के परिवर्तित स्वरूप को जाना जा सकता है।

हिन्दू धर्म में इन बदलावों का सामान्य वर्णन करते हुए स्वामी विवेकानंद का मत था कि 'धर्म के क्षेत्र में तीन विभिन्न स्तरों को स्वीकार करना चाहिए उनमे से पहला है प्राचीन ऐतिहासिक सनातनी धर्म, दूसरा है मुस्लिम शासन काल के सुधारवादी पंथ, तीसरा है वर्तमान काल के सुधारक सम्प्रदाय, परन्तु ये सभी समान रूप से हिन्दू धर्म के घटक हैं।' स्वामी विवेकानंद ने स्वय भी, औपनिषदीय तत्वमीमांसा और वेदांतिक मान्यताओं का सुधार करते हुये उनके एक नवीन व्यावहारिक रूप को प्रस्तुत किया। उन्होंने, सन्यस्त होकर हिमालय और गहन कन्दराओं की ओर जाने वाले, विरक्त साधकों को संसारोन्मुख करते हुए उनके लिए रामकृष्ण मिशन रूपी एक प्लेटफार्म तैयार किया तथा उनकी स्वमुक्ति हेतु त्याग युक्त जीवन शैली में, व्यावहारिक करूणा और सेवा मूल्य को अनिवार्य साधन–संस्थित कर दिया। यही नही उन्होंने तो आध्यात्मिक उत्थान हेतु दार्शनिक चिंतन परपरा में विरोधाभासी मान्यताओं सगुण और निर्गुण को एक साथ स्वीकार कर स्थापित किया। सगुण से निर्गुण की ओर को उन्होंने आध्यात्मिक सोपानगत विकास कहा और उसे तार्किक रूप प्रदान किया। भारतीय दर्शन की दार्शनिक मूल्य दृष्टि हमेशा से ही धार्मिक और आध्यात्मिक रही है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मुक्ति या मोक्ष यानि वृत्ति एवं त्याग पूर्ण जीवन को ही प्रमुख माना जाए. इसे स्वामी विवेकानंद ने समझा था तथा उनका मानना था संपूर्ण जीवन एक विकासवत निरंतर सोपान द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरूषार्थ, आयु के विशेष काल में अपना महत्व रखते हैं। इसी प्रकार सगुण और निर्गण में भी सामंजस्यता है। इसी विचार धारा के कारण स्वामी विवेकानंद का मानना था कि सन्यासी जैसे उच्च क्षमतावान महापुरूष का कर्तव्य केवल स्वमुक्ति नही वरन अपने पिछले सोपानो के प्रति उनका गहन दायित्व भी है। उनके गुरू रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें भी इसी प्रकार तैयार किया था।

धर्म मजहब के परिवर्तित रूपों, शाखाओं, असंख्य साधन पद्धतियों की उर्वर भूमि भारत ही है। भारत में धार्मिक विचारधाराओं और मार्गों की विभिन्नताओं को देखकर, विस्मय से किसी की भी आंखे फटी की फटी रह जाती है। प्राचीन काल से भारत के नागरिक को कम से कम इस बात पर तो कोई आपत्ति नही रही है कि कोई भी व्यक्ति किन धार्मिक क्रियाओं या साधना पद्धतियों से अपनी आस्था या धार्मिक विश्वास को अभिव्यक्त कर रहा है। धार्मिक साधनाओं का अन्तर्मुक्तिकरण, मिश्रण तथा प्रभाव प्राचीन काल से, तब ही प्रारंभ हो गया जब आहार की तलाश में, भारत की ओर आकर्षित होकर आने वाली विदेशी जातियों और बर्बर समूहों के आक्रमण हुये।

फिर उनके इस देश मे रहवास, स्थायित्व से, जो उनकी सभ्यता और संस्कृति थी उसका या की संस्कृति और सभ्यता से जो संविलयन, सम्मिश्रण और समन्वयीकरण हुआ। इससे यहां व धार्मिक विविधता का कलेवर और भी विशाल, विराट और समृद्ध हो गया। फिर यहां शास्त्रा की मानयोग्य परम्परा, पक्ष–प्रतिपक्ष आपसी वाद–विवादों ने परस्पर विरोधी पंथों को भी स्वस सह अस्तित्व मान स्थान दे दिया।

इस प्रकार देखा जाए तो आज का आधुनिक भारत धर्म, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, नस आदि के रूप में विविधताओं से भरा अद्भूत देश है और इस बहुविध सभ्यता और संस्कृति क आपसी सामंजस्य तथा सहज अविरोधात्मक स्वरूप, इस देश की सबसे बड़ी विशेषता औ ताकत है। किन्तु यही विशेषता, इस देश के इतिहास में कई बार दुर्बलता और कमजोरी औ भयानक समस्या के रूप में प्रकट हुई है। दूसरे शब्दों में यह विविधता, जहां समृद्ध सांस्कृतिव समरसता पूर्ण ताकतवर भारत का प्रतीक है तो वहीं इसमें, एक दूसरे को बांट देने वाली, खंडि कर देने वाली संभावना भी मौजूद है, जिसका परिणाम फूट डालो ध्रुवीकरण, धार्मिक हिंसा, दंग आदि क्रियाओं मे देखा जा सकता है। यह आज भी भारत की एक प्रमुख समस्या है। इसलि आज दार्शनिकों, विचारकों, बुद्धिजीवियों का मुख्य कार्य भी यही कहा जा सकता है कि व भारत की इस विविधता में होने वाले परिवर्तनों की जांच करें तथा इनके मध्य सामंजस्यता व मूल तत्वों की तलाश कर, इनमें समन्वय को स्थापित करने का प्रयास करें क्योंकि सारी समस्य की जड़े, अंतर्विरोधात्मक भेद में ही है। यही कार्य अपने समय में स्वामी विवेकानंद ने किया था

भगिनी निवेदिता लिखती है कि विवेकानंद के "अपने ही कथानुसार प्रारम्भ से ही उनव एकमात्र कर्तव्य था हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों की खोज करना, अपनी सहज स्वाभावि प्रेरणा के द्वारा, उन्हे बोध हुआ था कि इन आधारों को खोजना तथा उन्हे सबल बनाना यह उनकी मातृवत हिन्दू धर्म को, उसके अटूट यौवन तथा शक्ति के विषय में एक आनंदमय आत विश्वास प्रकट करने का उपाय है।"[2] स्वामी विवेकानंद का स्पष्ट मानना था कि भारत व सामान्य आधार धर्म ही है धर्म ही इसका गौरव है और यह हमें सारे विश्व से अलग और विशिष बनाता है। हमारे धर्म में ही हमें सामंजस्यता के सारे सूत्र तथा तत्व प्राप्त होते है इसीलिए ह इसी पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वे कहते है कि "प्रत्येक जाति अपनी निजी विशेषताएँ औ व्यक्तित्व लेकर जन्म ग्रहण करती है। सब जातियां मिलकर एक सुमधुर एकतानसंगीत की सृषि करती है, किन्तु प्रत्येक जाति मानों राष्ट्रों के स्वर सामंजस्य में एक एक पृथक स्वर व प्रतिनिधित्व करती है, वही उसकी जीवन शक्ति है, वही उसके जातिय जीवन का मेरूदण्ड व मूल भित्ति है। हमारी इस पवित्र मातृ भूमि का मेरूदण्ड मूल भित्ति या जीवन केन्द्र एक मा धर्म ही है। भारतीय धार्मिक संस्कृति में केवल भारत को ही नही सारे विश्व को एकजुट कर के सार्वभौमिक क्षमता विद्यमान है। इसलिए स्वामी विवेकानंद ने विश्व या सार्वभौम धर्म व सिद्धांत की खोज की।

विवेकानंद कहते है कि इस प्रश्न की जांच प्रमुख है कि भारत में ही नहीं, संसार के स धर्मों में आपसी मतभेद के बिन्दु क्या है, उनके अनुसार यदि देखा जाए तो प्रत्येक धर्म या मजह में जो प्रारंभिक स्तर की वैषम्यता है उसे ही उस धर्म या मजहब का मूल मान लेने के कार

समस्या उत्पन्न होती है। जबकि "मूर्तियाँ, मंदिर, गिरजाघर या ग्रंथ तो धार्मिक जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र है और उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए। उन्होने बार बार आह्वान कर बतलाया कि धार्मिक वैषम्यता के प्रारंभिक स्तरों को स्वीकार कर लिया जाए, जो कि स्वाभाविक होती है तो इसके बाद प्रत्येक धर्म मजहब का सार्वभौमिक रूप प्रकट होता है, जो सारे भेदों को समाप्त कर देता है। "वस्तुतः हर धर्म सार्वभौम है हम अपनी सुविधा तथा वाह्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस धर्म की सार्वभौमता की उपेक्षा कर उसे सांप्रदायिक बना देते है। जो कि आपसी मदभेद और अलगाव का कारण बन जाता है। यदि विचार कर देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के सभी धर्मों या मजहबो में प्रारंभिक वैषम्यता तो होगी ही, क्योंकि मूल सत्ता के प्रति भावना और श्रद्धा की अभिव्यक्ति, सभी जातियों में एक समान किस प्रकार हो सकती हैं? "धर्म आत्मा की वस्तु है और वह विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं तथा रीति–रिवाजों के माध्यम से अपने को प्रकट करता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व के धर्मों में अंतर अभिव्यंजना का है तत्व का नही और उनमें जो समानता या एक रूपता है, वह आत्मा की है जो उनमें अंतर्निहित है क्योंकि आत्मा की भाषा, चाहे जिन राष्ट्रों तथा जिन परिस्थितियों में अपने को अभिव्यक्त करे, एक है।'

इसलिए वे मानते है कि संसार में जितने मनुष्य हैं उतने पंथ, संप्रदाय भी हो जाए तो भी कोई फर्क नही पड़ता क्योंकि धार्मिक विविधता, वैषम्यता सृष्टि की सुंदरता है, लेकिन यह बोध भी होना जरूरी है कि उच्चतम तल पर सभी समान हो, यह सामंजस्यता अनिवार्य है। वे कहते है– 'इससे पहले मैं एक बात तुमसे पूछता हूँ कि पृथ्वी के सभी धर्म क्या परस्पर विरोधी है? मेरा आशय उन ब्राम्हाचारों से नही है, मेरा आशय विभिन्न धर्मों में व्यवहृत मंदिर, भाषा, क्रिया काण्ड, शास्त्र प्रभृति की विविधता से नही है, मैं प्रत्येक धर्म के भीतर की आत्मा की बात कहता हूँ।"

इस दृष्टिकोण से स्वामी विवेकानंद भारत की इस समस्या का समाधान करते है तथा भारतीय मानस को आह्वान करके संदेश देते है कि वे किसी भी भेदभाव बहकावे में ना आकर अपने धर्म के सार्वभौम आत्म–तत्व का अनुभव करें यही भारत की पहचान है। यदि इस प्रकार की वैचारिक परिपक्वता उत्पन्न हो जाए तो भारत में विद्यमान वैविध्यता तो क्या पूरे विश्व में किसी को भी, किसी प्रकार के भेद की शिकायत नही होगी।

हम आधुनिक भारत की दूसरी प्रमुख समस्या पर विमर्श करें तो इसकी विवेचना इस प्रकार प्रारंभ की जा सकती है कि किसी भी देश की पहचान वहाँ की सभ्यता और संस्कृति के साथ इस पर भी आश्रित है कि उस देश के नागरिक की सोच अपने देश के प्रति किस प्रकार की है? यह आश्चर्य जनक है कि इतनी प्राचीन संस्कृति, नैतिक मूल्यों की सूक्ष्म व्याख्या, पारलौकिकता का सम्मान, उदारता की महान परम्परा वाले हमारे देश का व्यक्ति संवैधानिक नियमों, कानूनों को धता बताने वाला, स्वार्थ के लिए भ्रष्टाचार करने वाला, विचार और व्यवहार मे बनावटी है? नियमों को तोड़ना और भ्रष्टाचार आधुनिक भारत की दूसरी बड़ी समस्या है। इसके कारण की तलाश हमें अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था और स्वतंत्र धार्मिक उदारता की जड़ों की ओर ले जाती है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत के दीर्घ इतिहास में जो विशाल धार्मिक, नैतिक अन्तर्भक्तिकरण हुआ है तथा व्यक्ति को जो साधन संबंधी असीम स्वतंत्रता प्रदान की गई है इसका परिणाम है कि जहां धर्म के क्षेत्र में वृक्ष पूजा, पशु पूजा, पूर्वज पूजा, मंत्र, तंत्र यंत्र जैसी आदिम परम्पराएं है तो साथ ही अनिश्वरवादी सिद्धांत, सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित मूर्तिपूजा तथा अमूर्त ब्रह्म चिंतन भी दिखलाई पड़ता है। यही नही नैतिक मूल्यों से संबंधित समस्याओं पर भिन्न–भिन्न रूपों में इतने प्रश्नोत्तर, तर्क–वितर्क आदि मंथन हुआ है कि एक स्थान पर जिस नैतिक मान्यता को सत्य बतलाया गया है वही दूसरे स्थान पर उसके विलोम रूप के भी प्रतिष्ठित किया गया है। सत्य–असत्य, शुभ–अशुभ, पवित्रता–अपवित्रता, हिंसा–अहिंसा संबंधी अनेक मापदण्ड हमें प्राचीन संहिताओं और ग्रन्थों में मिलते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय मानस को प्रदाय बहु सांस्कृतिक धार्मिक स्वतंत्रता का उस पर उप परिणाम यह हुआ कि उसने अपना एक सुविधा जनक नैतिक व्यवहार गठित कर लिया है। उसे लगता है इस देश में नियमों का दृढ़ता से पालन का कोई बंधन नही है। इसे स्पष्ट करते हुए आधुनिक विचारक पवन के. वर्मा ने अपनी पुस्तक "भारतीय होने का अर्थ" में लिखा है कि "आवश्यक बात यह है कि हिन्दू परम्परा में हमेशा नैतिक प्रोत्साहन के प्रति एक–एक सुविधा जनक विखंडित प्रतिक्रिया की अनुमति दी है। सही और गलत की कोई निर्विवाद परिभाषाएँ नही है। एक मात्र समरूप बात है अंतिम परिणाम।" सीधा और स्पष्ट है कि भारत मे निवासरत अनेक जाति समूहो, असंख्य धार्मिक मान्यताओं और नैतिक अवधारणाओं से यह तय हो जाता है कि एक भारतीय इसलिए संहिता बद्ध नैतिक विधानों के प्रति कोई निश्चित मत नही रखता है क्योंकि उनके सही या गलत होने के मापदण्ड की सीमा का निर्धारण नही है वह अपने को दी गई इस स्वतंत्रता का दुरूपयोग करता है तथा नियमों को तोड़कर अपने अनैतिक व्यवहार को, किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेखित उदरण या तर्क द्वारा उसे सत्य स्थापित करने की कोशिश करता है। दरअसल "प्रतिमानों को धता बताने और संहिताओं का अर्थ तोड़ने–मरोड़ने के अनेक तरीके हैं। यह कारण हो सकता है। जो उसे नियम भंगता की ओर प्रेरित करता है किन्तु यह उच्छृंखलता किसी भी देश की व्यवस्था और इसकी छवि हेतु घातक है। कोई भी व्यक्ति नैतिक संवैधानिक नियमों का उल्लंघन कर भ्रष्टाचार तब ही कर सकता है जब उसका स्वार्थ देश से बढ़कर होता है।

इस अनैतिक और उच्छृंखलता व्यवहार के निदान की तलाश, यदि स्वामी विवेकानंद की विवेचनाओं में किया जाए तो यह तो निश्चित हो जाता है गुलाम भारत में विवेकानंद के समय यह समस्या नही थी, किन्तु स्वामी विवेकानंद दूर दृष्टि पूर्ण निश्चित बुद्धि के साधक थे उन्होंने अपने समय में ही देख लिया था कि भारत का नव युवक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर किस प्रकार का बन रहा है और उसका अपने अपने देश के प्रति क्या विचार है।

स्वामी विवेकानंद का यह मानना था कि अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को जो शिक्षा प्रदान की जाती है वह उनके व्यक्तित्व को पूर्णतः निषेधात्मक बनाने के साथ–साथ अपने देश के प्रति हीन दृष्टि को भी उत्पन्न कर देती है। अंग्रेजों द्वारा शिक्षा पाठ्यक्रम के संदर्भ में उनका मत था कि

"कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है तो सब से पहली बात जो उसे सिखाई जाती है वह है– तुम्हारा बाप मुर्ख है। दूसरी बात वह सीखता है, वह यह कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात तुम्हारें जितने शिक्षक और आचार्य है, वें पाखण्डी है और चौथी बात तुम्हारे जितने पवित्र ग्रन्थ है उनमें झूठी और कपोल कल्पित बातें भरी हुई है। इस प्रकार की निषेधात्मक बातें सीखते सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुंचता है तब वह निषेधों की खान बन जाता है।"[6] वह पाश्चात्य संस्कृति को उच्च तथा भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं को पिछड़ा हुआ मानने लगता है। उसे भारतीय परंपराएँ अतार्किक लगती है और वह हर प्रकार की प्राचीन मान्यताओं, नियमादि का खंडन करने लगता है।

यह दुर्भाग्यजन्य है कि जिस अंग्रेजी शिक्षा पर स्वामी विवेकानंद ने एक सदी पूर्व प्रश्नचिन्ह लगाया था वह गुलामी के समय से, आजादी के बाद आज तक हमारें शिक्षा पाठ्यक्रम का आधार बनी हुई है। हमें ऐसे चितंकों और विचारकों की संख्या कमोबेश कम ही दिखलाई पड़ती है जिन्होंने इस देश की परपंरा को गौरवपूर्ण और प्रतिष्ठित किया हो वरन् आज हमें भारत में ऐसे बुद्धिजीवियों के दो वर्ग, हर क्षेत्र मे अवश्य दिखलाई पड़ने है–एक विचारक वे जो भारतीय इतिहास, सांस्कृतिक मूल्यों को, पाश्चात्य प्रणालियों के खांचे में खरा ना उतरने के कारण उन्हें सत्य और प्रमाणिक नही मानते हैं, तथा दूसरे जो इन भारतीय मूल्यों के समर्थक है। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के इस दुरगामी परिणाम से स्वामी विवेकानंद अवगत थे इसलिए उन्होने जब रामकृष्ण मिशन की स्थापना की तो उसके प्रधान उद्देश्यों में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ यह भी प्रधान बिन्दु रखा कि राम कृष्ण मिशन का उद्देश्य"उन्नत चरित्र कर्मी तैयार करना जो विज्ञान और अन्य विषयों में पारंगत होकर जन साधारण की भौतिक और अध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेंगे। भारत की शिल्प, साहित्य एवं ललित कलां आदि की उन्नति और विस्तार करना।।"

स्वामी विवेकानंद की संपूर्ण विचारगत कर्म शैली और उर्जावान जीवन में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उनमें अपने भारत देश के प्रति असीम भक्ति थी तथा उनका भारतीय संस्कृति में अगाध विश्वास था। वे अपने अखण्ड अतुल्य भारत का आत्म सम्मान गौरव लौटाना चाहते थे। वे चाहते थे कि पूरी दुनिया को भारत के ज्ञानमयी सूक्ष्म और करूणावान विशाल दृ ष्टिकोण का पता चलना चाहिए। उन्हें लगता था कि भविष्य के विश्व को जिन सार्वभौमिक मूल्यों की आवश्यकता होगी वे प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यमान है इसलिए वे बारंबार भारत की जनता से मार्मिक आह्वान करते हुए कहते थें "आगामी पचास वर्षों के लिए यह जननी जन्म भूमि भारतमाता ही मानों आराध्य देवी बन जाए। .... अपना पूरा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर है और सर्वत्र उसके कान है।"[7]

देश प्रेम ही वह समाधान है जो भ्रष्टाचार और नियम भंगता जैसी भारत की विकराल समस्या का निदान है। दोनों हाथ बांधे स्वामी विवेकानंद अपनी भेदक और निर्भय दृष्टि से मानो भारतीय जनता को यही संदेश या प्रेरणा दे रहे हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. भगिनी निवेदिता, स्वामी विवेकानंद– जैसा उन्हे देखा अनुवादनक स्वामी विदेहात्मा पृष्ठ 150 रामकृष्ण मठ नागपुर – 2018
2. वही पृष्ठ 148
3. पंचम खण्ड पृष्ठ 44 विवेकानंद साहित्य अद्वैत आश्रम कोलकाता 2014
4. विवेकानंद साहित्य प्रथम खण्ड पृष्ठ 17 अद्वैत आश्रम कोलकाता 2014
5. लाल बसंत कुमार समकालीन भारतीय दर्शन पृष्ठ 57
6. विवेकानंद साहित्य नवम खण्ड पृष्ठ159 अद्वैत आश्रम कोलकाता
7. विवेकानंद साहित्य तृतीय खण्ड पृष्ठ 129 अद्वैत आश्रम कोलकाता 2012
8. वर्मा के. पवन भारतीय होने का अर्थ पृष्ठ 39 प्रभात प्रकाशन दिल्ली
9. वही
10. विवेकानंद साहित्य पंचम खण्ड पृष्ठ 194 अद्वैत आश्रम कोलकाता 4 1993
11. श्रीवास्तव मधुलिका रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन इतिहास, आदर्श एवं कार्य 11, प्रकाशक रामकृष्ण मठ नागपुर 2013
12. विवेकानंद साहित्य पंचम खण्ड पृष्ठ 193 अद्वैत आश्रम कोलकाता – 1993

व्यावहारिक वेदान्त की संकल्पना पर विचार

डॉ.दिनेश पाटीदार
सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र
शासकीय कमला राजे स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
ग्वालियर (मप्र)

दर्शनशास्त्र में अवधारणीकरण और सैद्धांतिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही अपने मत को स्थापित किया जाता है। और यह अवधारणिकरण या सैद्धांतिकीकरण मुख्यतया तर्क की सहायता से सम्पन्न होता है। कोई भी मत या मान्यता दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित तब मानी जाती है जब वह तर्क से पुष्ट हो। इसीलिए तर्क को दर्शन का सार कहा जाता है। भारतीय दर्शन में प्रस्थान–त्रयी (उपनिषद, गीता और ब्रह्म सूत्र) को वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त एक दर्शन संप्रदाय का नाम है, एक परंपरा का नाम है, सिद्धान्त का नहीं।

मुख्यतया वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर चिंतन आधुनिक भारतीय चिंतकों द्वारा किया गया। जिसमें स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, नारायण गुरु आदि प्रमुख हैं। आधुनिक भारतीय चिंतकों का यह एक ऐसा आंदोलन था जो संसार से विमुख होती वेदान्त की परंपरा को संसार के मध्य लाने का प्रयास कर रहा था। जिस प्रयास को व्यावहारिक वेदान्त का नाम दिया गया।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार "वेदान्त का आदर्श कितना ही उच्च क्यों न हो, वह किसी असंभव आदर्श को हमारे सामने नहीं रखता और वास्तव में यही आदर्श ठीक–ठीक आदर्श है। एक शब्द में इसका उपदेश है' तत्त्वमसि तुम्ही वह ब्रह्म हो' और इस के समुदय उपदेश की अंतिम परिणतिय ही है"। व्यावहारिक वेदान्त की जो संकल्पना है उसकी मुख्य पूर्व धारणा यह है कि वेदान्त के आदर्श को प्राप्त करने से लोक–व्यावहारिक रूप में कुछ प्राप्त होगा। जो स्वरूपतः व्यावहारिक होगा। स्वामी विवेकानंद के विचारों को देखने से स्पष्ट होता हैं कि वेदान्त के असांसारिक या अव्यवहारिक होने के मत की आलोचना कर रहे हैं। वस्तुतः एक दृष्टि से स्वामी विवेकानंद वेदान्त के ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का समन्वय ही कर रहे हैं। वेदान्त की व्यावहारिकता संभव है यह दर्शाने के लिए स्वामी विवेकानंद ने कुछ ऐसे उदाहरणों का वर्णन किया है जिनमें वेदांतिक ज्ञान व्यावहारिक जीवन के मध्य निःसृत हुआ है। उनके अनुसार वेदान्त की व्यावहारिकता का तात्पर्य यह भी है कि वेदान्त के ज्ञान की प्राप्ति की अधिकारिता के लिए व्यावहारिक वेदान्त किसी भी प्रकार की विभेदक आचार संहिताओं को स्वीकार नहीं करता। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में "वेदान्त दृढ़ रूप से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसकी उपलब्धि में स्त्री–पुरुष बालक–बालिका, जाति या लिंग आदि से सम्बद्ध किसी प्रकार का विभेद बाधक नही है क्योंकि वेदान्त दिखा देता है कि वह सत्य पहले से ही सिद्ध है और पहले से ही विद्यमान है"। स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारत के निर्माताओं मे से एक हैं। उनकी वैचारिकी का निर्माण ऐसी राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति में हुआ जब राष्ट्र अपनी स्वायत्तता से दूर था। ऐसे में जिस आदर्श को स्वामी

विवेकानंद ने राष्ट्र निर्माण के लिए सामने रखा, उसी आदर्श के अनुरूप उन्होंने समस्त प्रासंगि व्याख्याएँ की। उसी क्रम में वेदान्त की उनकी व्याख्या भी है। स्वामी विवेकानंद ने वेदान्त वह व्याख्या की, जिसकी महती आवश्यकता उन्होंने राष्ट्र निर्माण में महसूस की। जिस ऐक्य की आवश्यकता वे राष्ट्र निर्माण के आदर्श में देखना चाहते थे वह उन्हें वेदान्त के आदर्श में प्र हुई। प्रारम्भिक रूप में हम यह कह सकते हैं कि व्यवहार का तात्पर्य सांसारिकता या लं व्यवहार से है। व्यवहार्य क्या है, इसके संबंध में स्वामी विवेकानंद यह स्पष्ट करते हैं कि व्यवह होना हमेशा ही व्यक्ति निष्ठ प्रवृत्ति पर निर्भर नही होता, अर्थात इस प्रकार यह कहना अनु होगा कि अमुक कार्य व्यवहार्य नही है क्योंकि मैं इसे नहीं कर सकता। अमूमन यह देखा ग है कि हम व्यावहारिक उसे कहते है जो हमारे व्यवहार के, हमारे स्वभाव के, हमारी प्रवृत्तियों अनुकूल हो, जिसे करने के लिए हमें अपने स्वभाव में कुछ परिवर्तन न करना पड़े। परंतु स्वा विवेकानंद जो कह रहे हैं वह यह है कि यह व्यावहारिकता वेदान्त के आदर्श का स्वरूप है, जि हमारा व्यवहार बनाया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी विवेकानंद के व्यावहारि वेदान्त का तात्पर्य यही है कि लोक व्यवहार में रूढ़ व्यक्ति भी वेदान्त के आदर्श को प्राप्त क सकता है। व्यवहार से विमुखता इस आदर्श को प्राप्त करने की कोई शर्त नहीं है। वेदान्त व्यवहारिक होना किसी विशेष आयु, वर्ग, लिंग आदि तक सीमित नहीं है। वेदान्त व्यावहारि है, इस संबंध में दो और बातों पर विचार हमारी समझ को स्पष्ट करेगा। प्रथम तो यह कि लो व्यवहार का निर्वाह करते हुए भी कोई वेदान्त के आदर्श को प्राप्त कर सकता है और दूसरा कि उस आदर्श की प्राप्ति से हमें लौकिक रूप में कुछ प्राप्त हो जाएगा। वैदांतिक ज्ञान हम व्यवहार को पुष्ट और कुशल बना सकता है पर ऐसा कोई अनिवार्य संबंध मानने के लिए बारबार सोचना होगा। अब यदि वेदान्त व्यावहारिक है या वेदान्त को व्यवहार के स्तर पर ला जा सकता है तो वह किस रूप में आएगा। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "वेदान्त यदि धर्म स्थान पर आरूढ़ होना चाहता है तो उसे सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक बनना ही पड़ेगा"। यहाँ बातें कही जा रही है। प्रथम तो यह कि इस संदर्भ के अनुसार यह स्वीकारा जा रहा है धर्म पूर्णतया व्यावहारिक है और दूसरा यह कि यदि वेदान्त को धर्म होना है तो उसे व्यावहारि होना पड़ेगा। आधुनिक भारतीय चिंतकों में अधिकांश ने धर्म को जीवन के मूल के रूप में चिन्हि किया है। उन्होने यह समझा है कि मनुष्य के जीवन में आचार, नीति, तत्त्व आदि का व्यवह धर्म के द्वारा ही प्रसारित हुआ है। और इस प्रकार धर्म में व्यवहार का प्रत्यय अनिवार्य रूप जुड़ गया। प्रो. अर्जुन मिश्र के अनुसार "मानव के व्यावहारिक कार्य कलाप उसके धार्मिक अ वैज्ञानिक विश्वासों द्वारा निर्धारित होते हैं"। परंतु एक बात जो इस संबंध में मुख्य रूप विचारणीय है कि 'वेदान्त', जो कि एक सुविचारित, तर्काधारित दर्शन का सिद्धान्त है, के धर्म स्थान पर आरूढ़ होने के क्या मायने है। क्या वेदान्त धर्म के स्तर पर आरूढ़ होकर अपने में अवस्थित रहेगा? क्या स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत व्यावहारिक वेदान्त की संकल्प वेदांतिक सिद्धान्त का पुनर्निरूपण ही सिद्ध होगी? परंतु यह भी विचारणीय है कि व्याख्या अर्थ नीरूपण हमेशा ही पिष्ट पेषण नहीं होता, यह सृजन को भी सम्मिलित करता है। व्यव भेद दृष्टि पर आधारित है, या ये कहें कि व्यवहार भेद दृष्टि ही है। अर्थात हमारा लोक व्यव

द्वैत को पूर्व धारित करता है। अन्य का बोध हमारे व्यवहार की पूर्व शर्त है, और अनन्य की अनुभूति वेदान्त का आदर्श है। वेदान्त का आदर्श, जोकि अनन्य की अनुभूति है, और व्यवहार का स्वरूप, जोकि अन्य के बोध में रूढ़ है, प्रथम दृष्ट्या विरोधी स्थिति को इंगित करते हैं। तो ऐसी स्थिति में वेदान्त के धर्म के स्थान पर आरूढ़ होने और व्यावहारिक हो जाने की क्या संभावना है?

विवेकानंद वेदान्त के ज्ञान को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते है और इसी आदर्श की प्राप्ति के प्रयास में व्यवहार की सार्थकता और कुशलता स्वीकारते हैं। व्यवहार की समस्या स्वयं को खंडित, दुर्बल, हीन समझना है और इसके निराकरण के लिए जो उच्च आदर्श स्वामी विवेकानंद ने प्रस्तुत किया है वह 'अखंडतत्त्व की अनुभूति' का वेदांतीय आदर्श है। चूंकि वेदान्त के आदर्श की अनुभूति न तो सैद्धांतिक है और न ही धार्मिक अपितु तात्त्विक है, इसलिए वेदान्त धर्म के स्थान पर आरूढ़ होकर भी अपने मूल से अनवस्थित तो नहीं ही होगा। 'अखंडतत्त्व की अनुभूति' की अनिवार्य पूर्व शर्त न तो सैद्धांतिक समझ है और न ही धार्मिक या व्यावहारिक साधन। पर अवश्य ही 'आत्म' के अखण्डत्व की अनुभूति का आदर्श और उसको प्राप्त करने का यत्न व्यवहार को सार्थक तो बनाता ही है। स्वामी विवेकानंद के लिए व्यावहारिक का तात्पर्य है सर्व सुलभ होना। वो कोई भी इस आदर्श को प्राप्त करने का यत्न कर सकता है जो उसकी प्राप्ति का निश्चय करता है।

वेदान्त के आदर्श की प्राप्ति में 'व्यावहारिक' क्या है? क्या आदर्श को प्राप्त करने की प्रक्रिया व्यावहारिक है? क्या आदर्श प्राप्ति का फल व्यावहारिक है? या वेदान्त का जो आदर्श है वही व्यावहारिक है? विवेकानंद के विचार के अनुसार वेदान्त का आदर्श, प्राप्ति की प्रक्रिया और फल तीनों ही व्यावहारिक है। संभवतः व्यवहार का अर्थ है, जो हम है और सिद्धान्त (एक आदर्श के रूप में) का तात्पर्य है जो हमें होना है। और चूंकि वेदांतीय सिद्धान्त, जो हम वस्तुतः है उसीकी अनुभूति का उपदेश कर रहा है इसलिए वेदान्त व्यावहारिक है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "वेदान्त, 'आदर्श को कार्यान्वित किया जा सकता है' केवल यही नहीं कहता, किन्तु यह भी कहता है कि वह आदर्श हम लोगों को पहले से ही प्राप्त है और जिसे हम अब आदर्श कहते हैं वही हमारी प्रकृत्त सत्ता है वही हम लोगों का स्वरूप है। और जो कुछ हम देखते है, वह सम्पूर्ण मिथ्या है"।

अंत में आदर्श के संबंध में एक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना चाहूँगा। वस्तुतः आदर्श की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है, प्रेरित हुआ जा सकता है, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न किया जा सकता है। परंतु वस्तुतः हम 'आदर्श' को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जब हम उसे प्राप्त कर लेते है तब वह आदर्श नहीं बना रह सकता। और विशेषकर जिस संदर्भ में हम ये विचार कर रहे है वह "ब्रह्म विद ब्रह्मोव भवति" पर अवलंबित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. Narayanaswamy, Gokulmuthu.Theory and Practice of Vedanta, 2019.
2. Paramanand, Swami. Vedanta in Practice.The Baker and Taylor company. Newyork, 1908.
3. Complete works of Swami Vivekananda, AdwaitaAshrama, Kolkata, 2009.

प्रो सुरेंद्र सिंह नेगी व्याख्यानमाला
भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा पर विमर्श

डॉ. राजेश कुमार चौरसि
असि. प्रोफेसर, दर्शनशा
वसंत महिला महाविद्या
(बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विशेषाधिकार के अंतर्ग
राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 2210

प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी जी ने अपनी किताब महाभारत : समाज संस्कृति दर्शन में उपसंह के ठीक पहले तीनों वादों को किताब का एक अध्याय बनाया है: कर्मकांडवाद, ब्रह्मवाद अ ईश्वरवाद। यह तीनों वाद न केवल आज भी अपना एक दार्शनिक महत्व रखते हैं बल्कि इ तीनों वादों का आज भी भारतीय समाज में विशेषकर हिन्दुओं की जीवन शैली मे विशेष मह है। इन तीनों वादों में से अनेक पृथक–पृथक शोध–पत्र लिखे जा सकते हैं। कर्मकांडवाद, की वैदिक दर्शन में कर्म का प्राचीनतम अर्थ है, को मैंने यहाँ इस व्याख्यान का विषय बनाया

ऋग्वैदिक काल से अब तक, भारतीय दर्शन मे कर्म की अवधारणा परिष्कृत की जा रही है। ऋग्वैदिक काल के शुरूआती दौर में कर्मकांड अत्यंत सरल थे जो बाद में ब्राह्मण–ग्रं एवं कल्प सूत्रों के प्रभाव से अत्यंत जटिल और कठोर हो गए थे। इस समय तक कर्म तात्पर्य वैदिक कर्मकांड ही थे।

गीता तक आते–आते भारतीय कर्म की अवधारणा में सामाजिक और नैतिक–कर्म भारतीय कर्म की अवधारणा के प्रमुख अंग बन जाते है, लेकिन यहाँ भी अंततोगत्वा ये मोक्ष रू साध्य के साधन मात्र ही माने जा सकते हैं। प्रारंभिक मीमांसा कर्म को, कल्पसूत्रों के ही साम धर्म (वैदिक आदेश) की ही तरह देखती है, जो की प्रभाकर सम्प्रदाय के लिए स्वयं ए साध्य है, लेकिन बाद में इसमें भी मोक्ष का आदर्श जुड़ जाने से यहाँ भी उपनिषदों और गी के ही सामान धर्म (कर्म) भी मोक्ष के साधन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अवैदि विचारधारा बिल्कुल ही अलग ढंग से कर्म की अवधारणा पर विमर्श करती है। अवैदिक विच की प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ सामान्यत: कर्म कि अवधारणा की व्याख्या बिना कि अलौकिक सत्ता की अवधारणा से करने का प्रयत्न किया जाता है। लेकिन ऋग्वेद काल सक्रिय इस विचारधारा के बारे में हमें आज ज्यादा जानकारी नहीं है। हाँ, यत्र–तत्र वैदि साहित्य में ही इनके कुछ मतों का उल्लेख मिल जाता है, जिनमें अनिमित्तवाद और स्वभाव ये दो अवधारणाएं उनमें प्रचलित कर्म की अवधारणा को समझने में सहायक हैं। न स्वभाववाद की अवधारणा में व्यक्ति का कर्म स्वातंत्र्य सुरक्षित है और न ही शाश्वतवाद इसलिए बुद्ध ने इन दोनों अवधरणाओं के मध्य में मनुष्य के कर्म स्वातंत्र्य को सुरक्षित किया कर्म स्वातंत्र्य की स्थापना के लिए बुद्ध ने सैद्धान्तिक सत्ता की अवधारणा के स्थान अनंत–नैतिक–कर्म की अवधारणा को प्रतिष्ठित किया।

प्रमुख शब्द : कर्मकांड, ऋत और कर्म, ज्ञान और कर्म, निष्काम–कर्म, नैतिक कर्म, ज्ञान–कर्म–समुच्चय, क्रिया और कर्म, सृजनात्मक कर्म, वास्तविक कर्म, उपनिषद्, महाभारत, गीता, कर्मयोग, कल्पसूत्र, ब्राह्मण, श्रवण, इत्यादि।

1. प्राचीन वैदिक कर्मकांड का स्वरूप और प्रयोजन दोनों ही बिलकुल सरल थे। जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्रकृति की जानी–पहचानी शक्तियां थी और उन्हें जो हवि दी जाती थी उसमे दुग्ध, अन्न और घृत रहता था। प्रयोजन साधारण कामनाओं की प्राप्ति करना था जैसे संतान, पशु आदि अथवा कभी कभी यज्ञ का प्रयोजन केवल देवताओं की कृपा के लिए उन्हें धन्यवाद देना होता था। लेकिन यह एक विचार का विषय है कि कैसे वैदिक कर्मकांड की यह अवधारणा जिसमे एक प्रकार की बाल सुलभ उपासना थी वह पुरोहित प्रधान संगठित यज्ञ पद्धति में परिवर्तित हो गई। धीरे धीरे इस जटिल कर्मकाण्डीय व्यवस्था ने न केवल प्राचीन वैदिक देवताओं के अनन्तर नए नए देवताओ कि अवधारणाओं को जन्म दिया बल्कि अब देवताओं के स्थान पर यज्ञ की ही प्रधानता स्थापित हो गई। पहले देवताओं को प्रसन्न करना एवं उनसे समागम स्थापित करना यज्ञ का प्रयोजन होता था, लेकिन अब यज्ञ देवताओं को मनाने का साधन न रह कर यजमान को इष्ट वस्तु प्रदान करने के लिए उन्हें बाध्य करने का साधन हो गया। धीरे धीरे यह भी माना जाने लगा था कि देवताओं को जो यज्ञ में हवि दी जाती है उससे ही उनका देवत्व बना हुआ है। दूसरे शब्दों में अब यज्ञ का स्थान देवताओं से श्रेष्ठ हो गया, और इसी बात का तार्किक परिणाम बाद में यह हुआ कि पूर्व मीमांसा दर्शन ने देवताओं का पूर्ण निषेध कर दिया।

कालांतर में वैदिक कर्मकांड का स्तर इतना गिर गया कि इसमें अभिचार (जादू) का तत्त्व प्रविष्ट करा गया और पुरोहित अभिचारी बन गया। इतना ही नहीं ब्राह्मण ग्रंथों में यत्र–तत्र बिखरे वर्णाश्रम धर्मों को कल्पसूत्रों में व्यवस्थित किया गया और इनमें कर्मकांडों की प्रधानता को बतलाया गया। आप स्तम्भ–धर्मसूत्र (1/12/10) यहाँ तक कहता है कि पथ प्रदर्शन के सारे नियम ब्राह्मणग्रंथों में दिए गए हैं, लेकिन यदि किसी प्रचलित आचार के समर्थन में ब्राह्मणों में कोई वचन नहीं मिलता है तो उस आचार से यह अनुमान लगाना चाहिए कि कभी उनमें ऐसा वचन रहा होगा। यह कर्मकांडिक नियमों के प्रति कट्टरता की पराकाष्ठा है।

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक कर्मकांड का स्वरूप देवताओं के प्रति एक सहज सरल उपासना के रूप में था। ऋग्वेदीय आर्यों ने पाया होगा कि मनुष्य के जीवन में उसके भौतिक अस्तित्व के परे भी कुछ दिव्य है।उसका अस्तित्व इन्द्रिय अनुभव तक सीमित नहीं है। यह दिव्यता उसके अहंकारिक अस्तित्व से इतनी भिन्न रही होगी कि वह इस दिव्यता का आरोपण स्वयं से पृथक देवताओं के रूप में करनेलगता है। और प्रारंभिक कर्मकांड की उत्पत्ति में मूल भावना कृतज्ञता ज्ञापन की ही रही होगी। लेकिन मनुष्य की स्वार्थ परकता ने धीरे–धीरे इस सहज और सरल प्रवित्ति को विकृत रूप दे दिया।

प्रारंभिक अनेक उपनिषद्, याज्ञिक कर्मकांड की व्यर्थता का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन बाद के उपनिषद् इस सन्दर्भ मे अधिक संयमित दृष्टिकोण अपनाते हैं। वहां कर्मकांड का उचित

स्थान प्रतिपादित करने की कोशिश की गई। यह माना गया की आत्मज्ञान के पूर्व वैदिक से व्यक्ति का व्यवस्थित होना आवश्यक है। आपस्तम्भ–धर्मसूत्र (1/5/4) की तरह उपनिषद् बताता है कि धर्म वह है जिसका वेद में विधान किया गया है, यह उपनिषद् इतना जोड़ देता है कि इनके बगैर मनुष्य के जीवन को व्यवस्थित नहीं किया जा सकता है। अब कर्मकांड की धारणा में परिवर्तन आ जाता है। इस धारणा के अनुसार यज्ञ का प्रयोजन देवताओं से भौतिक वस्तुओं की याचना करना है और न ही वह अभिचार जैसी कोई व बल्कि कर्मकांड मनुष्य के हृदय के शुद्धि का साधन मात्र है जिससे मोक्ष की सम्भावना बढ़ है।

महाभारत में भी कर्मकांड के समर्थन में और विपक्ष में दोनों प्रकार की बातें कही हैं। गीता (2/43 और 9/20–21) कर्मकांड के लक्ष्य स्वर्गादि की व्यर्थता का प्रतिपादन है। महाभारत के शांति पर्व में एक पिता–पुत्र संवाद है। इस संवाद में पुत्र कहता है वि एक बुद्धिमान पुरुष हूँ, मैं क्यों उन यज्ञों को करने जाऊं जिनमे हिंसा होती है।

शांतिपर्व में ही यज्ञ निंदा सम्बन्धी एक और कथा मिलती है, जिसमे बताया गया जीव हिंसा का विरोधी एक वनवासी धर्मात्मा ब्राह्मण, पुण्यार्जन के ध्येय से यज्ञ में केवल की हवि देवताओं को अर्पित करता था। उसकी परीक्षा लेने के लिए, स्वयं धर्म मृग का धारण करके, स्वयं को उसके सम्मुख बलि के लिए प्रस्तुत कर देते हैं। किन्तु ब्राह्मण के करने पर मृगरूपधारी धर्म ने उसे पशु बलि के लिए प्रेरित करते हुए कहा कि इस बलि केवल ब्राह्मण को बल्कि उसे भी पुण्य प्राप्त होगा। पुण्य की लालच में मृग की बलि देते ही ब्राह्मण के द्वारा उपार्जित पूर्व जन्मों के सभी पुण्यों का क्षय हो गया, तब धर्म ने अपने वास्त स्वरूप में प्रकट होकर उस ब्राह्मण को अहिंसा धर्म की शिक्षा दी। इस कथा से, अर्जित कर्मों की क्षणभंगुरता और धर्म में अहिंसा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। हीरियन्ना लिखते हैं कि इस कथा से उन लोगों के कुतर्क का भी भंडाफोड़ हो जाता है पशु बलि को इस आधार पर उचित बताते है कि इससे बलि दिए जाने वाले पशु का भी क होता है। वैदिक कर्मकांड के बारे में उपर्युक्त विवेचन से या स्पष्ट हो रहा है कि:

* अपनी मूल एवं प्रारंभिक अवस्था में वैदिक कर्मकाण्ड का स्वरूप सहज था।
* कल्पसूत्रों तक आते–आते वैदिक कर्मकांड जटिल और कठोर हो गए, इन ग्रं कर्मकांडों की प्रधानता का प्रतिपादन किया गया।
* वैदिक कर्म कांडों में निहित मूल भावना के भुला दिए जाने के कारण इस संस्थ पतन हो जाता है, और पूर्व उपनिषद् कर्मकांड की हीनता एवं ज्ञान की प्रधानत प्रतिपादन करते हैं। लेकिन उत्तर उपनिषद् काल में पुनः कर्मकांड को चित्तशुद्धि प्रयोजन से स्वीकार किया गया।
* महाभारत में अनेक स्थलों पर यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। सा साथ महाभारत में ही अनेक स्थलों पर यज्ञकर्म की व्यर्थता का भी प्रतिपादन किया

है। महाभारतकार की यह अनिश्चतता की प्रविति तथा बाद के उपनिषदों में कर्मकांड को सम्यक स्थान प्रदान करने का तात्पर्य है कि हम मनुष्य के जीवन से पूरी तरह से कर्म का निषेध नहीं कर सकते हैं।

2 अभी तक के हमारे विवेचन में कर्म का अर्थ याज्ञिक अनुष्ठान और इससे सम्बंधित क्रियाएं रहा है, जिनका प्रतिपादन पहले ब्राह्मण ग्रंथों ने किया तत्पश्चात जिन्हें कल्पसूत्रों में व्यवस्थित किया गया। यह सही है की वैदिक कर्मकांड के युग में कर्म शब्द का प्रधान अर्थ यही रहा है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस युग में नैतिक अच्छाईयों को बिलकुल ही नकार दिया गया था। इसके विपरीत नैतिक शुद्धता को कर्म के मार्ग के अनुसरण के लिए अपरिहार्य बना दिया गया था। जैसा कि वशिष्ठ–धर्मसूत्र के इस तरह के वचनों से स्पष्ट है: "जिसका आचरण अधर्ममय है, और जो सम्यक मार्ग से च्युत हो गया है, उसे न वेद बचा सकता है, न यज्ञ और न ही औदार्य। इस काल में जिन नैतिक अच्छाईयों पर बल दिया गया है, उनके स्वरूप का अनुमान आपस्तम्भ धर्मसूत्र में बताये गए ब्रह्मचारी के इन लक्षणों से किया जा सकता है: "वह सौम्य और शांत होता है। वह अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता है। वह नम्र और साहसी होता है। वह आलस्य का पूर्णतया त्याग कर चुका होता है और क्रोध से शून्य होता है।" इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर्मकांड के अनुषंगी के रूप में नैतिक मूल्यों का महत्व हमेशा से ही प्रतिपादित किया जाता रहा है। लेकिन कहीं–कहीं इस कर्मकाण्डीय युग में भी नैतिक मूल्यों को याज्ञिक कर्मों से श्रेष्ठ भी बताया गया है। यह उदाहरण देखिये। ऋषि गौतम ने सबके प्रति दया, तितिक्षा, अनुसूया, शुद्धता, अध्यवसाय, प्रसन्नता, गौरव और संतोष को 'आत्मगुण' प्रतिपादित किया है। वे न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त इन नैतिक गुणों को आवश्यक बताते हैं, यहाँ तक की वे इन्हें धार्मिक अनुष्ठानों से श्रेष्ठ भी बताते हैं। उपरोक्त महाभारत की कथा में भी जब ब्राह्मण लालच के वशीभूत होकर मृग की बलि दे देता है तो उसके पूर्व जन्मों के सभी पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है। इस कथा में भी अहिंसा के नैतिक मूल्य को कर्मकांड से अधिक सारभूत बताया गया है। वैदिक परम्परा के अंदर ही उपनिषदों में और गीता में भी कर्म की अवधारणा का विकास देखने को मिलता है।

पूर्व वैदिक युग में ही ऋत की अवधारणा मिलती है। गोविंदचंद्र पांडेय के अनुसार ऋत शब्द अंग्रेजी के 'तपहीज' (उचित) और 'तपजम' (कर्मकांड) दोनों ही शब्दों से मूलतः जुड़ा हुआ है किन्तु उत्तर वैदिक काल में कर्मकांड को ही प्रधानता दी जाने लगी। कर्म का नियामक आतंरिक न होकर बाहरी और आनुष्ठानिक होने लगा, परिणाम स्वरूप नित्य पारमार्थिक आत्मा को भूल कर कर्म का लक्ष्य केवल अनित्यवस्तुभोग रह गया। इसी कारण कठोपनिषद ने पुनः श्रेयश और प्रेयश के मध्य भेद को आध्यात्मिक आचार दर्शन के मूल में प्रतिष्ठित किया।

वैदिक परंपरा में कर्म की अवधारणा को विकसित करने में गीता की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार इस युग में आस्तिकों में दो मत प्रचलित हो चुके थे: एक त्याग का निषेधात्मक आदर्श और दूसरा सक्रिय जीवन का विधेयात्मक आदर्श। पहला आदर्श तो समस्त सांसारिक कर्मों का निषेधक है और इस कामकाजी संसार से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद

कर लेता है। प्रवृत्ति का दूसरा विधेयात्मक आदर्श अवश्य ही इस पक्ष में है कि समाज में रहकर उन सब कर्तव्यों का पालन किया जाये जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति से जुड़े हुए हैं। लेकिन यदि प्रवृत्ति के इस आदर्श में स्वार्थ का अंश वास्तविक कर्म का निरोधक है, और कर्म की विकृति भी कर सकता है। यज्ञ इत्यादि के अनुष्ठान में यह बात स्पष्ट ही है। गीताकार ने उस समय प्रचलित प्रावृत्तिक कर्मों के इस दोष को समझा और अपनी निष्काम कर्मयोग की अवधारणा में, व्यावहारिक धरातल पर इसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

गीता में कर्म शब्द का प्रयोग चार अर्थों में हुआ है : (1) गीता में कहीं–कहीं कर्म शब्द का एकदम साधारण अर्थ किया गया है, जिसके अनुसार कर्म शब्द का अर्थ है – वह काम जो किया जाये। (2) कहीं–कहीं ब्राह्मणग्रंथों की तरह गीता में भी कर्म शब्द का तात्पर्य यज्ञ भी किया गया है। (3) गीता मे कर्म शब्द का प्रयोग प्रायः उन कर्तव्यों के लिए हुआ है जो उस काल में रूढ़ि और परंपरा के अनुसार अलग–अलग वर्गों के साथ जुड़ गए थे, जिन्हें वर्ण–धर्म कहा जाता है। (4) कर्म शब्द का प्रयोग गीता में ईश्वर की पूजा और उससे सम्बंधित प्रार्थना, भजन इत्यादि के अर्थ में भी हुआ है। गीता में प्रयुक्त कर्म शब्द के इन चार अर्थों में से प्रो. हीरियन्न के अनुसार तीसरा अर्थ ही सबसे उपयुक्त ठहरता है क्योंकि गीता में जिस व्यावहारिक सन्दर्भ में कर्मयोग का यह उपदेश दिया गया है उसके अनुसार यही अर्थ सबसे उपयुक्त ठहरता है।योग शब्द का अर्थ होता है 'जोड़ना' या अपने आप को किसी वस्तु में लगाना, इस प्रकार कर्मयोग का तात्पर्य हुआ – निष्काम रूप से सामाजिक कर्तव्यों के पालन में निष्ठा।यदि कोई युद्ध राज्य प्राप्ति की इच्छा से किया जा रहा है तो यह कर्मयोग नहीं होगा क्योंकि यहाँ कर्म स्वयं साध्य न होकर किसी वास्तु की प्राप्ति का साधन हो गया। मुख्य रूप से अर्जुन के समस्त द्वंद्व के मूल में यही द्वंद्व है। वह कर्म के मर्म को न समझ कर इसे राज्य की प्राप्ति का साधन समझ रहा है। वह इसे एक सहज सामाजिक कर्त्तव्य की तरह नहीं देख पा रहा है। इसीलिए श्री कृष्ण बारंबार अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि कर्मयोग का अर्थ है फल प्राप्ति की इच्छा के बगैर कर्म करना। "केवल कर्म में ही तेरा अधिकार है उसके फल में कदापि नहीं"।

यहां गीताकार का यह तात्पर्य नहीं कि कर्म का कोई फल होता ही नहीं है। कर्म का फल तो अवश्य होता है लेकिन यह कर्मफल कर्मयोगी का लक्ष्य नहीं होता है। गीता में योग शब्द का एक अर्थ समत्व भी बताया गया है (समत्वं योग उच्यते)। इच्छा या अहंकार हममें वैषम्य उत्पन्न कर देता है। जब हम इच्छा या स्वार्थ के वश में होते हैं तो हम जो 'उचित' है उसकी उपेक्षा कर बैठते हैं। और यदि हम उचित कर्म का चयन करने में सफल भी हो जायें तो कर्मफल का व्यवधान हमारे कर्म को सीमित और भ्रष्ट बना देता है।

अभी तक गीता के कर्मयोग के बारे में जो चर्चा की गयी है उसे इस सिद्धांत का साधन पक्ष कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि एक निष्काम कर्मयोगी का साध्य क्या हो सकता है?अथवा यह प्रश्न इस प्रकार से भी पूछा जा सकता है कि यहाँ पर कर्म का अभिप्रेरक क्या है?बगैर किसी अभिप्रेरक के कोई इस प्रकार के कर्म में कैसे प्रवृत्त होगा?इस प्रश्न के दो उत्तर गीता में दिए गए हैः(1)आत्मशुद्धि,जिसके अनुसार समाज

एक सदस्य के रूप में जो कर्म किया जाता है वह सामाजिक समष्टि के लिए किया जाता है, और (2) ईश्वर के प्रयोजन को पूरा करना, इसका फल ईश्वर को समर्पित कर देना। पहले के अनुसार कर्त्ता अपने पर्यावरण से अपना सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से समझता है, और यह समझ उससे समाज के प्रति निष्ठा की मांग करती है। दूसरे प्रकार का कर्ता केवल ईश्वर के प्रति सचेत है, तथा वह जो कुछ भी करता है उसे वह ईश्वर का काम समझता है जिसे करना ही है। यदि अभिप्रेरक आत्मशुद्धि है तो लक्ष्य भी आत्मलाभ ही होगा, यह आदर्श उपनिषदों के सामान है, परन्तु कर्म को चाहे हम सामाजिक कर्त्तव्य (लोकसंग्रह) के रूप में देखें चाहे ईश्वर की सेवा के रूप में वह किसी भी अर्थ में निष्काम नहीं है।वैदिक परंपरा में वास्तविक ज्ञान और तत्त्व का प्रामाणिक स्रोत अपौरुषेय है। अतः इस परंपरा में मनुष्य के कर्म की व्याख्या सामाजिक कर्तव्य के रूप में नहीं हो सकती है। यहाँ तो मनुष्येतर ब्रह्म अथवा ईश्वर ही मनुष्य के पुरुषार्थ के अंतिम लक्ष्य हो सकते हैं।

इस प्रकार से भारतीय कर्म की अवधारणा के विकास में गीता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। कुछ विद्वान इस उपदेश का मूल उपनिषदों में ही देखते है। निःस्संदेह ईश उपनिषद् में इस प्रकार का कथन है लेकिन वहां इसका विस्तार नहीं किया गया है। यदि ऐसा मान भी लिया जाये कि कर्मयोग का आदर्श एकदम नया नहीं है, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसका जो व्यापक प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा, उसका कारण गीता ही है। गीता के बाद जितनी भी आस्तिक विचारधाराओं का उदय हुआ, उन सभी में गीता के कर्मयोग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

3. अभी तक हम वैदिक परंपरा में जिस नैतिकता और कर्म की बात कर रहे हैं, उसके मूल में वेदांत के विचार की प्रतिष्ठा है। लेकिन कर्म के बारे में मीमांसा दर्शन का दृष्टिकोण वेदांत से थोड़ा भिन्न है। मीमांसा मन्त्रों, उपनिषदों की अपेक्षा ब्राह्मणों को अधिक महत्वपूर्ण मानती है। इसका तात्पर्य यह हुआ की वह वेद को आवश्यक रूप से कर्मकांड के एक ग्रन्थ के रूप में देखती है। वह न केवल शुरुआत के मन्त्रों को बल्कि बाद के उपनिषदों को भी गौण मानती है। इसी कारण इसे उत्तर मीमांसा (वेदांत) से भिन्न पूर्वमीमांसा कहा जाता है। क्योंकि मीमांसा–दर्शन का प्रादुर्भाव ब्राह्मणों से कई पीढ़ियों बाद हुआ है, इसलिए दोनों की कर्मकांड की अवधारणा में थोड़ी भिन्नता आ गयी है। हिरियन्ना के अनुसार मीमांसा में महत्वपूर्ण नवीनता यह दिखाई देती है कि यहां यज्ञानुष्ठान को मोक्ष से गौण मान लिया गया है। प्रारम्भ में जीवन का लक्ष्य मोटेतौर पर स्वर्ग की प्राप्ति माना गया था। इस लक्ष्य के स्थान पर मोक्ष के लक्ष्य का प्रतिष्ठित हो जाना मीमांसा में एक मौलिक परिवर्तन का सूचक है इसी परिवर्तन से मीमांसा कर्मकांड की व्याख्या मात्र न रह कर एक स्वतंत्र दर्शन बन जाती है। मीमांसा–दर्शन, जो धीरे–धीरे विकसित हुआ, वह न तो प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का धर्म है, और न ही ब्रह्मपरक दर्शन है। यहाँ हमारा सरोकार मीमांसा–दर्शन के कर्म सम्बन्धी विचारों से ही है, अतः उन्हीं पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

मीमांसा सामाजिक नैतिकता को धर्म नहीं मानती है। इस सम्बन्ध में मीमांसा का दृष्टिकोण एकदम लौकिक है। शबर ने कहा है कि प्याऊ खोलना इत्यादि पुण्य के काम यद्यपि

परोपकार के लिए होते है और इसलिए अच्छे भी हैं, लेकिन फिर भी वे धर्म नहीं हैं। यह कर्मधर्म शब्द का तात्पर्य वैदिक कर्मों से है, इसीलिये यहाँ इन्हें साधारण कर्मों से पृथक दिखा के लिए धर्म कहा जा रहा है। यहां उसकी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप वास्तविक कर्म अनुभवाती श्रुति से सम्बंधित है। साधारण नैतिकता इहलौकिक है, और वैदिक कर्म पारलौकिक हैं। यह नैतिकता को सर्वोच्च आदर्श तो नहीं माना गया है, लेकिन उसे धार्मिक जीवन का पूर्वहेतु औ उसका अनिवार्य सहचारी अवश्य माना गया है। इसीलिए कहा गया है, वेद आचारहीन को पवि नहीं करते हैं।

मीमांसा का सिद्धांत यह है कि कर्म वेद का अंतिम तात्पर्य है, और तदनुसार विधि य नियोग किसी कर्म को करने का आदेश देता है, जो धर्म है। लेकिन मीमांसकों में वैदिक क के प्रयोजन के विषय में बहुत मतभेद हैं। भाट्ट संप्रदाय के अनुसार वेद न केवल हमें धर्म औ अधर्म की जानकारी देता है बल्कि सुख दुःखादि कर्म फल की बात भी करता है। उदाहरण व लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ का फल स्वर्ग (सुख) प्राप्ति होता है, तथा इसके विपरीत पशु हत्या, हिं इत्यादि कर्म का फल नरक (घोर दुःख) होता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मों का भी सुख–दुःखा एक लक्ष्य होता है। कुमारिल ने एक तुल्य प्रसंग में कहा है कि "किसी प्रयोजन के बिना मु भी काम नहीं करता है। लेकिन इसका यहाँ यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कर्म की अव ारणा में प्रयोजन समाहित है। वैदिक कर्म हमें सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार का आदे नहीं देता है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार सुख प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य के अंदर स्वाभावि रूप से विद्यमान होती है, और वेद इसे मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार करके सुख व इष्टता या दुःख की अनिष्ठता के बारे में कोई निर्णय नहीं देता। दूसरे शब्दों में यहाँ मनोवैज्ञानि सुखवाद को माना गया है नैतिक सुखवाद को नहीं।

प्रभाकर सम्प्रदाय कर्म की प्रेरक शक्ति के रूप में सुखवादी प्रयोजन की आवश्यकता क मानने में संदेह करता है। उसके अनुसार वेद इतना असमर्थ नहीं है कि अपने नियोगों (क आदेश) को मनवाने के लिए किसी वाह्य सहायता की अपेक्षा रखता हो। काम्य और प्रतिषि कर्मों के विषय में भाट्ट एवं प्रभाकर मतों में कोई अंतर नहीं है। लेकिन नित्य कर्मों के क्षेत्र में दोन में महत्वपूर्ण अंतर है। भाट्ट संप्रदाय ने कर्मों का एक मनोवैज्ञानिक प्रयोजन स्वीकार किया और तदनुसार ही वहां नित्य कर्मों का एक लक्ष्य दुरतिक्षय माना गया है।साथ ही नित्य कर्मों क करते रहने से कर्त्ता उस पाप (प्रत्यवाय) से बचा रहता है, जो उनकी उपेक्षा से निश्चित रू से लगेगा। दोनों ही प्रकार से कर्म यहाँ निष्प्रयोजन नहीं हैं। प्रभाकर संप्रदाय के अनुसार ऐ कर्मों का कोई भी प्रयोजन नहीं होता है। वे किसी साध्य के साधन न होकर स्वयं साध्य हैं। य हम वैदिक कर्मों को कांट के कर्तव्य के लिए कर्त्तव्य की तरह कठोर पाते हैं, क्योंकि य गीतोक्त आत्मशुद्धि और 'ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति' जैसे पवित्र प्रयोजनों का भी निषेध क दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य वैदिक दर्शनों की भांति मीमांसा का लक्ष्य मो प्राप्ति नहीं होना चाहिए था। उसे मोक्ष के अनन्तर धर्म के आदर्श का अनुसरण करना चाहि

था। हीरियन्ना को ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इतिहास की एक विशेष अवस्था तक पहुंचने से पूर्व मीमांसा का यही आदर्श रहा होगा।मीमांसा ने विकास के अपने प्रारंभिक युग में धर्म, अर्थ और काम केवल ये तीन पुरुषार्थ ही माने थे, और मोक्ष को छोड़ दिया था। लेकिन मीमांसा के आज के वर्तमान स्वरूप में धर्म के स्थान पर इसका सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष हो गया है। इस परिवर्तन से कुमारिल सम्प्रदाय को अधिक नुकसान नहीं हुआ है क्योंकि वहां पहले से ही धर्म, स्वर्ग साध्य का साधन था बस वहां इतना ही अंतर पद रहा है की स्वर्ग (एक विधायक लक्ष्य) के स्थान पर अपवर्ग (एक निषेधात्मक लक्ष्य) हो गया है।

लेकिन प्रभाकर सम्प्रदाय जो केवल धर्म को ही अपना साध्य मानता था उसमें मोक्ष के आदर्श को अपनाने का तात्पर्य है भाट्ट संप्रदाय की ही तरह धर्म को साधन बना लेना, और अपने सिद्धांत "कर्तव्य के लिए कर्तव्य" को त्याग देना। साथ ही मोक्ष के आदर्श को अपनाने का तात्पर्य है कि अनेक वेद–विहित अनुष्ठानों का त्याग कर देना। इस प्रसंग में मीमांसा के कुछ बाद के प्रवक्ताओं के मत को उल्लेखित किया जा सकता है जिन्होंने गीता के उपदेश के ही सदृश्य विभिन्न कर्मों के विभिन्न फलों की जगह केवल एक फल–"ईश्वर को प्रसन्न करना मान लिया"। यह परिवर्तन मीमांसा की निरीश्वरवादी प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है, और इस बात को प्रकट करता है कि गीता के आदर्श ने आस्तिक विचारधारा को कितना अधिक प्रभावित किया है।

4. कर्म की तत्त्व से स्वतंत्र अवधारणा के विकास में नास्तिक अथवा श्रवण परंपरा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।नास्तिक शब्द का यहाँ मुख्य तात्पर्य अवैदिक विचारधारा से है (नास्तिको वेदनिंदकः)। यह विचारधारा वेदों का, विशेष रूप से उनके यज्ञवाद और इससे जुड़ी हुई रूढ़ियों और संस्थाओं का विरोध करती है। वैदिक धर्म का यह विरोध बहुत पुराना है, इतना पुराना कि ऋग्वेद के सूक्तों में भी इनका संकेत मिलता है। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार, यास्क ने (लगभग 500 ई. पू.) निरुक्त में एक कौत्स का उल्लेख किया है, जिसने वेदों को निरर्थक और स्वव्याघाती कहा था। कल्पसूत्रों में भी इनका उल्लेख है, वहां इन्हें पापियों और अपराधियों के वर्ग में रखा गया है। महाभारत के काल तक अनेक नास्तिक विचारधाराओं का विकास हो चुका था, लेकिन आज हमारे पास इनकी कोई भी विस्तृत जानकारी नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार के लगभग आधा दर्जन मतों का उल्लेख है। केवल यहां दो मतों कि चर्चा की जा सकती हैजो कर्म की अवधारणा को समझने में सहायक भी हैं – यदृच्छावाद या अनिमित्तवाद और स्वभाववाद। इन दोनों का श्वेताश्वतर उपनिषद् मे अलग अलग उल्लेख पाया जाता है, और बाद के ग्रंथों में भी इनका अंतर बताया गया है। पहले के अनुसार विश्व में कोई नियम नहीं है और कहीं दिखाई देता है तो आकस्मिक मात्र है। दूसरे के अनुसार वस्तुयें जैसी हैं अपने स्वभाव के कारण हैं। दोनों ही मत समान रूप से किसी ऐसी अतिप्राकृतिक सत्ता का निषेध करते है जो वस्तुओं का नियंत्रण करती हैं। साथ ही दोनों अपने मत के समर्थन में कोई अलौकिक प्रमाण भी नहीं देते हैं। यही दोनों बातें इन्हें वैदिक मत से भिन्न बना देती है। अनिमित्तवाद के अनुसार इस संसार में कोई नियम नहीं है, यदि कहीं दिखाई भी दे रहा है तो

यह आकस्मिक मात्र है। स्पष्ट है कि इस सिद्धांत में तो किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के साथ साथ कर्म के नियम का भी कोई स्थान नहीं है। स्वभाववाद विश्व में कारणता के सार्वभौम निय को मानता है। लेकिन यह सिद्धांत वस्तु में सारे परिवर्तन का कारण स्वयं उसी वस्तु को मानत है। यहां वस्तुयें अतंत्र नहीं बल्कि आत्मतंत्र हैं। यहां प्रत्येक वस्तु विलक्षण है और उसका पू इतिहास उस विलक्षणता के द्वारा पूर्वनिश्चित है। स्वभाववाद दार्शनिकों में प्रसिद्ध रहा है वेदान्तिक ग्रंथों में और महाभारत में अनेक स्थलों में इसका उल्लेख हुआ है। यह सिद्धांत ए ओर मन्त्रों और ब्राह्मणों के लोकोत्तरवाद से भिन्न है तथा दूसरी ओर विश्व में व्याप्त स्वाभि नियमकों उपनिषदीय तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं से स्वतंत्र कर देता है। लोकोत्तर सत्ताओं निराकरण के फलस्वरूप ही यह सिद्धांत उस समय प्रचलित कर्म के उस सिद्धांत को नह मानता जो किसी लोकोत्तर सत्ता अथवा लोकोत्तर प्रमाण की अपेक्षा रखता हो। लेकिन जैसा वि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि नास्तिक परंपरा अभी तक मनुष्य के ऐसे कर्म के सिद्धांत व व्याख्या करने में असमर्थ रही है, जिसमें कर्म की पूर्ण और समुचित व्याख्या मनुष्यता के अंद हो, जिसमें किसी भी दैवीय तत्त्व का हस्तक्षेप न हो। यह काम बुद्ध ने किया जिनके मत क विस्तृत उल्लेख अगले भाग में किया जायेगा।

5. बुद्ध के दर्शन का प्रारम्भ दुःख के व्यावहारिक प्रश्न से होता है। यह एक तथ्य है कं इस जगत में दुःख का अस्तित्व है। बुद्ध का मानना है कि किसी वस्तु का अस्तित्व अकारण नह हो सकता है। दुःख का कारण है कि मनुष्य इस नाम–रूपी क्षणिक जगत् को शाश्वत समझत है। उपनिषदीय परंपरा एक अपरिवर्तनशील, शाश्वत आत्मा की अवधारणा को मानती है लेकि बुद्ध ने केवल क्षणिक संवेदनाओं और विचारों की सत्ता स्वीकार की और उपर्युक्त अर्थ में आत्म को एक अनावश्यक कल्पना मानकर उसका निषेध किया। उनकी दृष्टि में संवेदन और विचा तथा यह भौतिक देह की ही सत्ता है। आत्मा इन सब का ही संघात है। रीस डेविड्स के शब्द में– "बुद्ध ने संवेदनों की सभा करने वाले किसी राजा को नहीं माना है।" तात्पर्य यह हुआ वि बुद्ध उन वस्तुओं को सत्ता प्रदान की है, जिन्हें उपनिषदों ने अतात्विक कह कर टाल दिय था,और उस अधिष्ठान का निषेध कर दिया जिसे उपनिषदों ने एक मात्र सत्य माना था।

जब इस नाम–रूपात्मक सत्ता को काल में देखते है तो संघात बुद्ध के अनुसार, दो क्षण तक भी वही का वही नहीं बना रहता है, निरंतर परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए आत्मा औ भौतिक जगत दोनों ही सत न होकर संतान हैं। सारी वस्तुओं को निरंतर परिवर्तनशील मानन और उसके भीतर किसी भी स्थाई सत्ता को न मानने का यह सिद्धांत काल से सम्बंधित उन द मतों के मध्य एक समझौता है, जिनमें एक 'सत' को तथा दूसरा असत् को मानता था। बुद्ध सयुक्त निकाय में भिक्षुओं से कहते हैं : "हे कच्चान, यह संसार प्रायः सत एवं असत् के द्वैत प चल रहा है। परन्तु हे कच्चान, जो भी सच्चाई और विवेक के साथ देख लेता है कि कैसे इस संसार में वस्तुओं कि उत्पत्ति हो रही है, उसके बोध में यह संसार 'असत' नहीं है। हे कच्चान जो भी सच्चाई और विवेक के साथ देख लेता है कि कैसे इस संसार में वस्तुएं नष्ट हो जात हैं, उसके बोध में यह संसार 'सत' नहीं है।" यह नाम रूपात्मक विश्व एक परिवर्तनशील सत्ता

है। यहां यह निरंतर उत्पत्ति–विनाशशील विश्व एक विश्व–प्रक्रिया बन जाता है। यहां क्रिया तो है परन्तु क्रिया का कोई कर्त्ता नहीं है। न ही व्यक्ति के अंदर आत्मा नामक कोई अधिष्ठान है, और न ही इस विश्व का कर्त्ता कोई ईश्वर है। यहां तो यह प्रक्रिया ही वस्तु है। इसीलिए बौद्धों के लिए इस प्रक्रिया को चलाने वाला 'नियम' अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है।

बुद्ध के समय में अवैदिकों में प्रचलित अनिमित्तवाद विश्व में किसी भी नियम को स्वीकार नहीं करता है, और स्वभाववाद के अनुसार वस्तुएं अपने स्वाभाविक नियम के अनुसार गतिमान है, इसी प्रकार वैदिक मत में ज्ञात तत्वों के अतिरिक्त किसी ईश्वर जैसे अलौकिक तत्त्व को भी सम्मिलित कर लिया जाता है, परिणाम स्वरूप दोनों ही व्याख्याओं में मनुष्य के सफल हस्तक्षेप की गुंजाइश नहीं रहती है। एक के अनुसार मनुष्य अपनी ही प्रकृति का दास है, तो दूसरे में वह पारलौकिक सत्ता पर आश्रित है। बुद्ध दोनों ही व्याख्याओं को अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध धर्म के इस 'नियम' (आर्डर) की तुलना अक्सर सैद्धान्तिक ऋत अथवा धर्म की अवधारणा से कर दी जाती है, लेकिन ये दोनों धारणाएं अज्ञात तरीके से काम करने वाली किसी अलौकिक शक्ति का संकेत देती हैं। बौद्धों का 'नियम' ऐसी शक्ति का बिल्कुल निषेध कर देता है। इस बात में बौद्ध मत स्वभाववाद से सदृश्य रखता है। लेकिन अन्य बातों में बुद्ध का 'नियम' स्वभाववाद से भिन्न है। स्वभाववाद कार्योत्पादन की शक्ति को कारण में स्वभावसिद्ध मानता है। उसके अनुसार किसी वस्तु के इतिहास की व्याख्या के लिए उस वस्तु के बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। बौद्ध मत इस प्रकार की किसी आतंरिक प्रयोजनवत्ता को नहीं मानता है। यहां कारण–कार्य के क्रम में अनिवार्यता तो है, लेकिन यह अनिवार्यता औपाधिक प्रकार की है। यह औपाधिक इसलिए है क्योंकि कोई संतति तब तक अस्तित्व में नहीं आती, जब तक कि कुछ उपाधियाँ पूरी न हो गयी हो और वह अनिवार्य इसलिए है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद संतति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उपाधियाँ बनी रहती हैं। उदाहरण के लिए ज्वाला–संतति का प्रारम्भ तब तक नहीं होता जब तक बाती, तेल इत्यादि न हो, और प्रारम्भ के बाद यह ज्वाला–संतति अविच्छिन्न रूप से तब तक रहती है जब तक इसके औपाधिक कारण बने रहते हैं।इस प्रकार यद्यपि 'नियम' सार्वभौमिक और निरपवाद होता है, तथापि उसका व्यापार उपाधियों के आधीन होता है। इसीलिए यह प्रतीत्य–समुत्पाद का नियम कहलाता है।

कांट ने अपने एक वक्तव्य में, दो चकित करने वाले अनन्तों की चर्चा की है– "एक मनुष्य के ऊपर सितारों से भरा स्वर्ग और दूसरा मनुष्य के अंदर का नैतिक नियम।"टी.आर.व्ही. मूर्ति कहते हैं कि यहाँ सितारों से भरे स्वर्ग का तात्पर्य इस भौतिक प्रकृति से नहीं है बल्कि यहाँ इसका तात्पर्य– विश्व के रचयिता से है। मनुष्य की धार्मिक चेतना के ये दो रूप हैं, जिनमें प्रथम का प्रतिनिधि वेदांत है एवं दूसरे का प्रतिनिधि बौद्ध दर्शन है। हम यहां कर्म की अवधारणा के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि कर्म की अवधारणा की अधिक सम्यक व्याख्या केवल बुद्धिष्ट प्रतिमान में ही संभव है। यहाँ मनुष्य का नैतिक आदर्श मनुष्य के ही प्रज्ञा में विद्यमान है, इसलिए कर्म की व्याख्या करने के लिए किसी अलौकिक सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है। पूरी मनुष्य जाति को सत्ता के पदों में विचार करने की आदत है, अतः बुद्ध का दर्शन जो कि सत्ता

पर नहीं बल्कि क्रिया या कर्म पर आधारित है, को अभिव्यक्त करने में, भाषा को कठिनाई मा पड़ती है। चाहे वैश्विक कर्म हो, अथवा व्यैक्तिक कर्म, आदर्श कर्म की स्थिति में केवल स्वतंत्र नैतिक कर्म का ही अस्तित्व है किसी ईश्वर अथवा आत्मा रूपी कर्ता का नहीं। नैतिक कर्म अपने आप में पूरी तरह से स्वतंत्र है किसी भी बाह्य अथवा आंतरिक सत्ता आश्रित नहीं है। बुद्ध की दृष्टि में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही अकर्म की स्थितियां महायान सम्प्रदाय में आकर बौद्ध धर्म के इस व्यावहारिक आदर्श में बदलाव आ जाता है। यद्यपि स्वयं का निर्वाण अभी भी आदर्श बना हुआ है, तथापि अब यह स्वयं साध्य नहीं रहता बल्कि दूसरों के निर्वाण के प्रयत्न का साधन बन जाता है। यही बोधिसत्व का आदर्श है जो हीनयान के अर्हत्व के आदर्श से भिन्न है। अपने को पूर्ण बना कर बोधिसत्व अन्यों आध्यात्मिक हित के लिए अपने निर्वाण का त्याग कर देता है।महायान का निर्वाण का यह आ बुद्ध की कर्म की अवधारणा के साथ संगत नहीं है। न ही निर्वाण कोई वस्तु अथवा अवस्था है जिसमें कि निम्न अथवा उच्च की अवस्थाएं निहित हों और न ही इसे किसी वस्तु की भ पकड़ा अथवा छोड़ा जा सकता है। यह तो मनुष्य की बुद्धि का सत्य से सतत् संपर्क है, जि वह 'जो है' को देख पाता है और उसके अनुसार कर्म करता है। निर्वाण का तात्पर्य, मनुष्य तृष्णा से उत्पन्न मन कि संस्कारबद्धता का मिट जाना और अनंत नैतिक कर्म के प्रवाह के सं में व्यवस्थित हो जाना है।

हिरियन्ना के अनुसार महायान का यह आदर्श वैदिक परंपरा का बौद्ध विचारधारा प्रभाव है। इस बात का प्रमाण महायान के द्वारा बुद्ध की प्रतिष्ठा एक ईश्वर की तरह करने भी मिल जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से अभी तक हमने जाना कि भारतीय कर्म की अवधारणा निर बदलती रही है। यह भी स्पष्ट है कि नही अवैदिकों के स्वभाव वाद की अवधारणा में व्यक्ति कर्म स्वातंर्त्य सुरक्षित है और नही वैदिक शाश्वतवाद में। इसलिए बुद्ध ने इन दोनों अवधारणा के मध्य में मनुष्य के कर्म स्वातंर्त्य को सुरक्षित किया।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी, महाभारतः समाज संस्कृति दर्शन, के. एल. पचौरी प्रकाश गाजियाबाद–२०११०२, १९९७, पृष्ट ३४१।
2. एम. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९ पृष्ट–३३।
3. वही, पृष्ट ३३।
4. वही, पृष्ट ९१।
5. एम हीरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ट–९३।
6. वही, पृष्ट–३४२।
7. वशिष्ठ–धर्मसूत्र, ६ और ६.२, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–१०९।
8. आपस्तम्भ–धर्मसूत्र, १.३, १७–२४, वही।

9. गौतम–धर्मसूत्र, 8,20–23,वहीं।
10. यस्य प्रेयश्य मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरा:। कठोपनिषद 1/2/2,देखिये गोविदचंद्र पांडे, मूल्य मीमांसा , राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–4, 1973, पृष्ठ–4।
11. देखिये, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–१२०।
12. देखिये गीता 3/5 और 5/8–9।
13. वहीं 3/11–15 और 18/3।
14. वहीं 4/15।
15. वहीं 12/10।
16. देखिये, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–119।
17. गीता 2/47।
18. गीता, 2/48।
19. गीता, 5/11।
20. गीता, 3/30 और 9/27
21. देखिये, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–122।
22. देखिये, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–298।
23. आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:। शांकर वेदांतसूत्र–भाष्य में उद्धृत –3/1/10।
24. प्रयोजनमनुदिश्य न मंदोपि प्रवर्तते – श्लोकवार्तिक–55।
25. पिछले पाप कर्मों के प्रभाव को नष्ट करना।
26. शास्त्रदीपिका, पृष्ट–130। देखिये, हीरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ट–329।
27. देखिये, हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ–323।
28. देखिये न्यायमंजरी, पृष्ट–514 और वेदांतसूत्र– 3/4/18 इत्यादि।
29. मीमांसान्याय–प्रकाश, पृष्ट–273।
30. देखिये,निरुक्त 1/15–16।
31. देखिये, गौतम धर्मसूत्र, 15/15।
32. देखिये, श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1/2।
33. देखिये, कुसुमांजलि, 1/5, अनिमित्तवाद का एक उल्लेख न्यायसूत्र– 4/1/22–24 में भी आया है, वहीं, पृष्ट–104।

नाथपंथ दर्शन एवं योग– एक अध्ययन
(सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के विशेष संदर्भ में)

डॉ० रेनू चौ
सहायक आ
सीएमपीडिग्री कॉलेज, प्रयाग

नाथपंथ एक धार्मिक, सामाजिक एंव यौगिक संस्कृति का मार्ग है। जिसका आ सृष्टिकालीन जीवन पद्धति रही है। भले ही इसका विस्तार मध्यकालीन भारत में दिखलाई हो। इस पंथ में मनुष्य स्वंय पर विजय प्राप्त करके अपना स्वामी बन जाता है तब वह म नाथ कहलाता है और जब नाथ'सिद्ध मनुष्य' जिस व्यवहारिक दार्शनिक विचार अर्थात् सिद्धान्त को लेकर जीवन में प्रवेश करता है तब वह मत नाथपंथ का दर्शन कहलाता नाथपंथ विचार में प्रवेश हो जाने के बाद जिस साधना पद्धति को अपनाकर परिणामस्वरुप ज्ञान प्राप्त करता है, वही साधना पद्धति नाथपंथ योग है। अब शंका उठती है कि वह कौन सिद्ध दार्शनिक विचार है जो दर्शन को स्थापित करते है। साथ ही वह किस तरह की सा को अपनाकर योग को प्रस्तुत करते है जिसके अध्ययन के लिए विश्लेषणात्मक विधि, तुलना विधि तथा समीक्षात्मक विधि को दृष्टिगोचर किया गया है।

शंका का समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व नाथपंथ की परम्परा के मुख्य आचार्य पर चर्चा करे तो नाथपंथ के ज्ञानगुरू आदिनाथ 'शिव', समाज में नाथपंथ मत के स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ और सगठंनकर्ता एवं प्रचार–प्रसारकर्ता के रूप में गोरखनाथ कहे गये हैं। जिन सिद्ध दार्शनिक विचार एवं साधना पद्धति को अपनाकर नाथपंथ को दैदिप्यमान किया है।

अतः नाथपंथ दर्शन एवं योग मुख्यतः पूर्ववर्ती मध्यकालीन दार्शनिक एंव योगी गोरक्ष पर केन्द्रित है। इस दर्शन में ब्रह्म (ईश्वर, जीव, आत्मा), जगत (ब्रह्माण्ड, पिण्ड), गुरू अ योगी, धर्म, मुक्ति और योग से संबधित विचार प्राप्त होते है। गुरू गोरक्षनाथ के अनेक ग्रन्थ पर भी सिद्ध सिद्धान्त पद्धति को केन्द्र बनाकर दार्शनिक विचार किया जाए तो नाथपंथ द और योग अधिक जीवनोपयोगी एंव आज भी प्रासागिक दृष्टिगोचर होता हैं। इनके विचार भारतीय दर्शन की तरह कुछ केंद्रिय प्रत्यय है।

ब्रह्म–नाथपंथ दर्शन मे ब्रह्म का स्वरूप विशिष्ट रूप से प्राप्त होता है। नाथपंथ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में ब्रह्म को परब्रह्म, अव्यक्त परमतत्व कहा गया है। "परब्रह्म पंचश स्वरुपा है अर्थात् ब्रह्म की निजा, परा, अपरा, सुक्ष्म एवं कुण्डलिनी शक्ति है।"[1] प्रत्येक शक्ति अपने पांच–पांच गुण कुल पच्चीस होते है। "ब्रह्म की निजा शक्ति में नित्यता, निरन्ज निष्पन्दता, निरामासता और निरूत्थानता गुण है। परा शक्ति में अस्तिता, अप्रमेयता, अभिन्न अनन्तता और अव्यक्तता है। अपरा शक्ति में स्फुरता, स्फुटता, स्फारता, स्फोटता और स्फूर्ति है। सूक्ष्म शक्ति में निरंशता, निरन्तरता, निष्कलता निश्चयता और निर्विकल्पता है। ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति में पूर्णता, प्रतिबिम्वता, प्रबलता, प्रोचल्यता और प्रत्यङ्मुखता है।"[2]

अतः अव्यक्त परमतत्व की पांच शक्तियां पांच–पांच गुणों से युक्त है। प्रत्येक शक्ति के पांच–पांच गुणों के समुदाय से पिण्ड की उत्पत्ति हुयी है अर्थात् पंच शक्तियों के इन गुणों के समुदाय से सगुण परमेश्वर का आर्विभाव होता है।

ब्रह्म का अपना अनादि पिण्ड है जिसमें पंचशक्ति सम्पन्न पंच देवताओं का वास है। निजा शक्ति के अधिष्ठाता–अपरम्पर–सदाशिव है। पराशक्ति के अधिष्ठाता–परमईश्वर स्वसंवेदनाभास युक्त है, अपराशक्ति के अधिष्ठाता शून्यरूप स्वेच्छामात्र है। सुक्ष्म शक्ति के अधिष्ठाता निरन्जन विष्णु सत्तामात्र अहंकारयुक्त है। कुण्डलिनी शक्ति के अधिष्ठाता/साक्षी परमात्मा ब्रह्म समष्टि पिण्ड युक्त है। अतः पंचशक्ति समन्वित चेतन ही अनाद्य–पिण्ड कहलाता है। वही सगुण परमेश्वर सदाशिव के नाम से विख्यात है,उसी सर्वेश्वर के अपरम्पर, परमपद, शून्य, निरंजन, और परमात्मा अवयव रूप है। "अपरम्पर के अकलंकत्वं, असंशयत्वं, अपरातत्वं, अमुर्तत्वं और अनुदयत्वं पंचगुंण है। परमपद के निष्कलत्वं, अणुतत्वं, अचलत्वं, असंख्यत्वं और अनाधारत्वं पंचगुंण है। शून्य के लीनता, पूर्णता, उन्मनी और लोलता, मूर्छा पंचगुण है। निरंजन के सत्यत्वं, सहजत्वं, सामरस्य, सावधानता और सर्वगत्वं पंचगुण है। परमात्मा के अभयत्वं, अभेद्यत्वं, अच्छेद्यत्वं, अनाष्यता और अशोष्यत्वं पंचगुण है।"[3]

जगत–

नाथपंथ में ब्रह्माण्ड और पिण्ड की चर्चा जगत के अर्न्तगत प्राप्त होती है।

ब्रह्माण्ड :– नाथपंथ में ब्रह्माण्ड को अण्ड कहा गया है। वही आद्यपिण्ड समष्टि है। आद्यपिण्ड पुरूष के पंचतत्व है जिनके अपने अपने पांच प्रकार के गुण पाये जाते हैं अर्थात् "अनाद्यपिण्ड के तत्वों के सगुण समवेत द्वारा आद्य पिण्ड उत्पन्न हुआ है जिसकी अभिव्यक्ति के पांच तत्व– परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, चित्प्रकाश और सोऽहंभाव है, यही तत्व आद्यपिण्ड पुरूष में प्रार्दुभूत होते है।"[4]

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार "शक्ति के स्फुरण की पूर्वावस्था में ब्रह्म निर्गुण है। शक्ति कह स्फूर्ति तथा गुणों का आर्विभाव समार्थक है। शक्ति के सदृश अनादि पिण्ड भी स्वरूपः निर्गुण है।"[5] परन्तु शक्ति विभाग के साथ साथ उसके क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप, प्रकाश और सोऽहं भाव का विकास होता है। यहां भी प्रत्येक भाव में पांच–पांच गुणों का आविर्भाव होता है। इसीलिये, सृष्टि मार्ग में अनादि पिण्ड भी पंचविंशति गुणा विशिष्ट हो जाते है।

"परमानन्द भाव मे पंचगुण स्पन्द, हर्श, उत्साह, निष्पन्द, और नित्यसुख है। प्रबोध भाव के उदय, उल्लास, अवभास, विकास और प्रभा पंचगुण है। चिदुदय भाव के सद्भाव, विचार, कर्तृत्वं, ज्ञातृत्वं और स्वातन्त्रत्वं पांच गुण है। चित्प्रकाशभाव में निर्विकार, निष्कल्य, सद्बोध, समता और विश्रान्ति पंच गुण है। सोऽहं भाव में अहन्ता, अखण्डैष्वर्य, स्वानुभूति, समर्थता और सर्वज्ञता है।"[6]

अतः पंचतत्वों के गुणों से युक्त पिण्ड आद्यपिण्ड कहलाता है। यही प्रथम पिण्ड है। इसी सूत्रात्मा आद्यपिण्ड सें महाकाश, महाकाश से महानिल, महानिल से महातेज, महातेज से

महावारि और महावारि से महाधारा अंश उत्पन्न होता है। इस पंचमहाभूतों के पांच–पांच गु का समूह ही महासाकार पिण्ड कहलाता है। यह शिवात्मक है अर्थात् इन सबका सम्मिश्रण शिव है।

"महाकाशका पंचगुण स्वरूप अवकाश, अच्छिद्रत्व, अस्पृष्यत्व, नीलवर्णत्व एवं शब्द है। महानिलका पंचगुण स्वरूप संचार, चालन, स्पर्श, शोषण और धूम्रता है। महातेज का पंचगु स्वरूप दाहकत्व, पाचकत्व, उणतत्व, प्रकाशतत्व और रक्तवर्णत्व है। महावारिका पंचगुण स्वरु महाप्रवाह, आप्यायन, द्रव, रस और श्वेतवर्णता हैं। महाधराका पंचगुण स्वरूप स्थूलता, नानाकारत्व काठिन्यं, गन्धः और पीतवर्णत्वं है।"[7]

महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है उस साक शिव की आठ मूर्ति अर्थात् रूप है। उसी को शिव कहते है। "शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रूद्र, रुद्र से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा उत्प हुए है। महासाकार पिण्ड की आठ मूर्तियां होती है। इन्ही देवों के द्वारा समस्त जगत संचालन होता है।"[8]

पिण्ड :–नाथपंथ में पिण्ड को नर–नारी रूप प्राकृतपिण्ड कहा गया है। यही प्राकृतपिण्ड व्यि है। "जगत के स्रष्टा ब्रह्मा के संकल्प से नर–नारी रूप प्राकृतपिण्ड की उत्पत्ति हुयी है।"[9] य प्राकृतपिण्ड पंचभूतों के पांच पांच "कुल पच्चीस" गुणों के कारण पंचभूतात्मदेह कहलाता प्राकृतपिण्ड में शरीरगत पंचभूत (पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश), अन्तःकरण (मन, बुि अहंकार, चित्त, चैतन्य), कुलपंचक (सत्व, रजस्, तमस, काल और जीव), व्यक्तिपंचक (इच्छ कर्म, विमोहिनी, प्रकृतिः, और वाक), प्रत्यक्षकरणपंचक (कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि दसमुख्य नाडियां एंव इसके मुख्यद्वार (इडा, पिगंला, सुषुम्ना, सरस्वती, पूशा, अलम्बुशा, गन्धा हस्तिजिह्वा, कुहू और संखिनी नाडियों के स्थान क्रमशः बाये नासिका, दाये नासिका, मेरूरज के मध्य में, मुखद्वार, बांए नेत्र, दाएं नेत्र, बांए कान, दांए कान, गुदा प्रदेश, लिंग द्वार) में हैं। द वायु और उनका स्थान (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त अ धंनजय और वायु का स्थान कमशः हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ, सम्पूर्ण शरीर, उद्गार, नेत्रों उन्मीलन, छीकनें, विजंम्भन और शरीर में व्यापक वायु मृत शरीर मे रहती है और गर्भ पिण्ड

गुरु अथवा योगी–गुरुमत का नाथपंथ के दर्शन एवं योग में सर्वोच्च स्थान प्राप्त नाथपंथ की साधना से पूर्व गुरु को अवधूत कहा गया है। क्योंकि वह एक सम्प्रदाय विहीं उत्कर्षतम योगी है और समस्त श्रेयो का मोल है। "नाथपंथ में योग की साधना करने वाले यो को नाथयोगी, औघड योगी, दर्शनीययोगी और अवधूतयोगी "[10] नामक चार प्रकार से स्प किया गया–

नाथयोगी (कनफटा):–गुरु गोरक्षनाथ के अनुयायियों को कनफटा कहा जाता क्योंकि दीक्षा के समय कान का फड़वाकर उसमें कुण्डल या मुद्रा धारण की जाती है। मु धारण करने के लिए कान फड़वाना अत्यावश्यक है। यह कार्य छुरी या क्षुरिका से होता इसलिए क्षुरिकोपनिषद् में क्षुरी का माहात्म्य बताया गया हैं। जो साधु कान फड़वाकर मुद्रा न

धारण करते उनका गोरक्षमार्ग से संबंध संदेहास्पद ही है। इनकी साधना षडंग कहलाती है। हठयोग की साधना करते हुए ये कुण्डलिनी रूपी शक्ति को जगाकर उसका शिव के साथ संयोग कराकर मुक्ति को प्राप्त होते है।

औघड़ योगी (अकनफटा) :– गुरु गोरक्षनाथ के वो अनुयायी जो सभी सांसारिक बन्धनों को त्यागकर योगी सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये है लेकिन उन्होंने दीक्षा संस्कार के समय कान नहीं फड़वाकर कुण्डल धारण नहीं किये है। सामान्य औघड़ योगी या अकनफटर कहे जाते है। कहा जाता है कि हिंगलाज में सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगें, पर हर बार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ योगी कान नहीं फड़वाते। सुधाकर मनोवृत्ति के योगी मानते है कि श्रीनाथ ने ये प्रथा इसलिए चलायी होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश नहीं कर सकेंगे। नाथ केन्द्रों पर प्रायः वे भी देखे जाते है। अतः इनको नाथ योगी ही मानना उपयुक्त है।

ये योगी एक प्रकार का जनेऊ या उपवीत धारण करते है जो कि काले भेड की ऊन से बना होता है। इसी सूत में एक छल्ला भी बंधा होता है, जिसको पवित्री कहते है जो हरिण की सींग या पीतल, तांबा आदि धातुओं से बनी होती है। इसमें रूई के सफेद धागें से एक सिंगीनाद अर्थात् श्रृंगी नाम की सीटी भी बंधे रहने के कारण ही जनेऊ को सिंगीनाद जनेऊ कहा जाता है।

दरसनी योगी:– योगी गोरक्षनाथ के वे अनुयायी जिन्होंने सांसारिक जीवन का पूर्णतः त्यागकर योग के गुह्य साधना मार्ग पर अनवरत अग्रसर रहकर लक्ष्य सिद्धि प्राप्त करने का दृढ़व्रत लिया, दरसनी योगी कहलाते है। दरसन को कुण्डल भी कहते है। दरसनी योगी कान फडवाकर स्फटिक या धातु या दांत का कुण्डल धारण करते है। कुण्डल को पवित्री भी कहा जाता है। कहा जाता है कि वे ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुके होते है। इसलिए इनका सम्मान भी अधिक किया जाता है।

अवधूत योगी :– जो समस्त प्रकृति विकार देह, इन्द्रिय, मन और अनात्म संबध रूप विशयप्रपचांदि मलों का अवधूनन कर निर्मल स्वरूप में संस्थित हो जाता है, वही अवधूत योगी है। धूञ् धातु कम्पन चालन अर्थ में प्रयुक्त होती है अर्थात् दैहिक प्रपंचादि विषयों में आसक्त मन को निगृहीत कर उन विषयों से प्रत्याहरित होकर तथा जन्म–मरण आदि दुःखों से द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों से छुटकारा पाकर अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप परमशिव मे सामस्य द्वारा तल्लीनचित्त योगी ही नित्य अवधूत है। जो पंचक्लेष रूपी जाल के वेग का उच्छेद कर देता है और जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में प्रपंच से मुक्त हो जाता है, वही आत्मस्वरूप में स्थित योगी अवधूत है। अवधूत योगी अविद्यादि पंचक्लेश के स्मरण से परे होकर अपने स्वरूप को इन पांचों क्लेश के नाशरूप भस्म से समलंकृत करता है और आचार्य द्वारा निर्दिष्ट योगमार्ग में नित्य आरूढ़ रहता है।

अवधूत योगी, त्यागी, नग्न दिगम्बर, योगिराज तथा गुरु सभी में अखण्ड स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहकर जीवन धारण करता है। वह अपने अखण्ड आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर उसमें स्थिर रहता है।

नाथपंथ में अवधूत ही एकमात्र सदगुरु हो सकता है क्योंकि वह समस्त वासनाओं का त्याग कर देता है। उस पर चित्त निर्मल और दोष रहित हो जाता है। अंहकार नष्ट हो जाता है। जिससे वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे योगी की कृपा का एक कटाक्ष ही भव बन्धन का छेदन करने में समर्थ है। इसलिए नाथपंथ शिवरूप अवधूत योगी को सर्वोपरि मानता है

धर्म –

सामान्यतः धर्म का आशय धारण करने के सन्दर्भ में है। अर्थात् किसी सम्प्रदाय के मतानुसार उनके विचार और क्रिया को अपनाया जाता है। प्रमुखतयः नाथपंथ में हिन्दू धर्म की चर्चा की गयी है जिसके अन्तर्गत उनका विचार शिव, शक्ति और योग की साधना पर केन्द्रित है। उनके अनुसार ''शिव को निर्गुण, अद्वैत, अपरिवर्तनीय, स्वतः प्रकाशित, भेद रहित एवं समस्त प्रांपचिक सत्ताओं पीछे आध्यात्मिक सत्ता''[11] के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह नित्य परमात्मा का वाचक एवं परमकल्याणकारी है। यह परब्रह्म शिव, अपंरपर, परमपद, शून्य, निरंजन परमात्मा है।

''शक्ति को आत्म संशोधक, आत्म विभाजक, आत्मगुणात्मक, सक्रिय दिक्काल बद्ध एवं सापेक्षिक समस्त प्रांपचिक सत्ताओं''[12] के स्त्रोतरूप में माना है। शक्ति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर चित्त स्वरूप जीवन दायिनी एवं शरीर में प्राणों का स्तम्भन किये रहती है। शक्ति चैतन्यस्वरूप है, प्राण संचरण करने वाली है, स्वयं ज्ञानरूपिणी है, व्यक्तरूप वाली भी है, अव्यक्त रूप वाली भी है, तथा समस्त तत्वों में परिव्यापक है। योगशिव और शक्ति के मिलन को कहते है। शिव शक्ति में और शक्ति शिव में निहित है जो कि एक यौगिक दृष्टि और संस्कृति को स्पष्ट करता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए अपरिहार्य है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का पिण्ड ब्रह्माण्ड की एक इकाई है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य को समदृष्टि प्राप्त होती है। अतः कह सकते है कि नाथपंथ के दर्शन में धर्म सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय को सिद्ध करता है।

मुक्ति–

नाथ सम्प्रदाय में मुक्ति के सन्दर्भ में जीवन–मुक्ति को हीं स्पष्ट किया गया है। उनके अनुसार ''अवधूत योगी ही जीवन मुक्त है क्योंकि वह जीवन में संस्कारों से योग साधना द्वारा मुक्त हो जाता है।''[13] अर्थात् सिद्ध हो जाता है। नाथ सिद्ध साहित्य में मुक्ति को मोक्ष, परमपद, निर्वाण, मिलन, सिद्धि, कैवल्य आदि पदों से वर्णित किया गया है। नाथ मत में जब सहज समाधि में मन से मन को देखा जाता है तब जो अवस्था होती है, वही मोक्ष है। यह वह अवस्था है जहां चित्त पूर्ण विश्राम करता है।

योगी गोरक्षनाथ के अनुसार ''जो शरीरस्थ नव चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य और पांच व्योम को नहीं जानता, वह योगसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। जो एक खम्भे वाले, नौ दरवाजों वाले और पांच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीररूपी घर को नहीं जानता,उससे योग सिद्धि की आशा कैसे की जा सकती है? अतः शरीर से अपरिचित मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।''[14] मुमुक्षु साधक को इनका ज्ञान होना आवश्यक है जिसकी निरन्तर साधना से मुक्ति

पद प्राप्त हो सकता है। नाथों की आस्था है कि अलख निरंजन महादेव शिव के साक्षात्कार से ही मुक्ति हो सकती है और यह मुक्तिमय मार्ग अवधूत गुरु ही दिखा सकते है। नाथपंथ के स्वरूप में अवस्थान ही मुक्ति है। नाथ या सिद्धामृत मार्ग ही कैवल्य पद को देने वाला है न कि शास्त्र, पुराण, वेद आदि। नाथपंथ से ही प्राणी पाशमुक्त हो जाता है। आत्मा का स्वरूप ही मोक्ष का स्वरूप है। मुक्ति का स्वरूप तो संवित् का प्रश्न ही है। आत्मा का स्वरूप संवित् है, उस संवित् से भिन्न तुच्छ या पारमार्थिक कोई भी तत्व नहीं है। यदि तुच्छ है तो वह बन्धन ही है और यदि अतुच्छ है तो वह आत्मा ही है। बन्धन भी आत्मा से पृथक कहां है? संवित् का संकोच ही तो बन्धन है और संवित् संकोच से भिन्न नहीं होता।

योगी गोरक्षनाथ के अनुसार कायाकल्प से सिद्धि प्राप्त कर मनोमारण और संयम पूर्वक जीवनयापन पर विशेष बल देते हुए आत्मचिन्तन से मोक्ष प्राप्ति संभव होती है। यही निर्वाणपद भी है, जहां अवस्थित होकर साधक भवजाल से मुक्त हो जाता है। नाथों ने इसी को सिद्धि भी कहा है। नाथपंथ में इसी काया को दिव्य, अमर या चैतन्य करके अमर या स्थिर कर देते है, वही इसकी काया सिद्धि है। जब इस देह से साधना सफल हो जाती है तो इस देह के प्रति द्वैतता स्वतः नष्ट हो जाती है।

जो कुछ हमारे पिण्ड में है वहीं ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का मूल आधार ब्रह्म है, जो दोनों में व्याप्त है। अतः जो ब्रह्म, अलख निरंजन, निराकार, परमपिता परमात्मा इस पिण्ड में है। उनके रहस्य का ज्ञान हो जाना ही स्वरूपावस्थान है। यह ज्ञान बिना योग साधना के संभव नहीं है क्योंकि योग साधना के माध्यम से ही इस पिण्ड के मूलाधार में स्थित शक्ति को ऊर्ध्वगति प्रदान कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव के साथ मेल हो सकता है। वह मिलन की अवस्था ही स्वरूपावस्थान कहलाती है क्योंकि नाथ के साक्षात्कार से ही स्वरूपावस्थान की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

योग–

नाथपंथ योग को हठयोग कहा गया है। हठयोग की साधना वास्तव में प्राणसाधना है। और प्राणसंयम की सिद्धि से ही यह फलीभूत होती है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति ग्रन्थ में योग की परिभाषा, योगी गोरक्षनाथ के मतानुसार प्राप्त होती है जो इस प्रकार है–

"हृदये प्राण वायु रुच्छ वासनिः श्वास करो हकार–सकारात्म कश्च।
अस्यैवा वस्था भेदे 'हठ योग' इति संज्ञा।
हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्या चन्द्र मसोर्योगाद् हठ योगो निगद्यते।।"[15]

'प्राणवायु हृदय में रहती हुई हमारे श्वास एवं निःश्वास का संचालन करती है। यही प्राण हकारात्मक एवं ठकारात्मक है क्योंकि हकार की ध्वनि से वायु अन्दर आती है तथा ठकार की ध्वनि से वायु बाहर जाती है, इसी वायु की अवस्था भेद से 'हठयोग' नाम दिया गया है। इसमें हकार को 'सूर्य' और ठकार को 'चन्द्र' से कहा गया है। यह 'हकार' और 'ठकार' का योग ही हठयोग' कहलाता है जिसे विद्वान 'प्राणसाधना' कहते हैं। यहाँ योग को हठयोग कहकर स्पष्ट

किया गया है। 'युजिर् योगे' धातु से मिलन अर्थ में 'ह' और 'ठ' का योग ही हठयोग है।'

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति का अवलोकन करने पर विस्तृत रूप में हठयोग हेतु आठ अंगो वाला योग अर्थात् "अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि)"प्राप्त होता है जो इस प्रकार है:–

यम :–यम का अर्थ है उपसम, अर्थात् "साधक शनैः शनैः अपनी समग्र इन्द्रियों को यथाक्रम उनके विषय से दूर हटाता हुआ आत्म चिन्तन में लगाकर उनको अपने वश में करके आहार, निद्रा, शीत और गर्मी आदि को नियन्त्रित करके उपयुक्त आहार विहार करते हुए योग साधन तत्पर रहना"[16] यम का लक्षण हैं।

नियम :– मन के व्यापार, नियन्त्रण नियमन को ही नियम कहते है। "एकान्त में रहना किसी का संग न करना, सबसे उदासीन उपेक्षापूर्वक रहना, जीवन यापन के लिए सुगमता से जो कुछ मिल जाये उससे सन्तुष्ट रहना, राग द्वेष आदि द्वन्दों से उपरति तथा गुरु चरणों के आश्रय में ही निर्भर रहकर यहीं नियम"[17] के लक्षण है।

आसन :–"स्वसंवेद्य द्वैताद्वैत विवर्जित परमात्म स्वरूप में चेतना की समस्थिति स्थापन एवं बैठना समासनता ही आसन"[18] कहलाता है। स्वास्तिकासन, पद्मासन एवं सिद्धासन इन तीनों में से एक आसन में योग शास्त्रोक्त विधि ध्येय तत्व में स्थिर हो जाना ही आसन का लक्षण है।

प्राणायाम :–"शरीर की नाड़ियों में प्राण वायु के प्रवाह को स्थिर रखने की प्रक्रिया प्राणायाम कही जाती है। रेचक, पूरक, कुम्भक एंव संघटकरण वायु का योग ये चार भेद ही प्राणायाम"[19] के लक्षण है।

प्रत्याहार :–"देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्वरूपी इन्द्रियों को विषयों (रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श) से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार"[20] का लक्षण कहलाता है।

धारणा:– "शरीर के बाह्य एवं अभ्यान्तरण भागों में एक ही स्वतत्व स्वरूप आत्म व्याप्त है जिसकी ऐसी भावना है। वह धारणा"[21] कहलाती है अथवा वायुरहित स्थानस्थ दीपक के निश्चल प्रकाश के सादृश्य प्रपंचतीत आत्म चैतन्य का ही एकान्ततः चिन्तन करना यही धारणा का लक्षण है।

ध्यान :–"नामरूप से परे अद्वैत स्वरूप परमात्मा ही आत्मा है अथवा जो वस्तु प्रतीत हो उसमें आत्म स्वरूप की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार समस्त भूतों में समदृष्टि आत्मदृष्टि की भावना ही ध्यान"[22] हैं।

समाधि :– साधक के "अन्तः करण की सभी तत्वों के प्रति एक समान सी तटस्थ अवस्था अर्थात् अनायास ऐसी स्वाभाविक सहज स्थिति ही समाधि"[23] का लक्षण है।

अतः कह सकते है कि सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ग्रन्थ में हठयोग के स्वरूप वाले अष्टांगयोग का उद्देश्य पिण्डज्ञान प्राप्ति हेतु है परन्तु चित्त अशुद्धि को दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त प्राप्त करना ही पातंजलियोग सूत्र के राजयोग के स्वरूप वाले अष्टांगयोग का उद्देश्य है।

निष्कर्ष: उपरोक्त नाथपंथ दर्शन के केंद्रिय प्रत्यय ही भारतीय दर्शन की तरह अपना विशिष्ट अर्थ में विचार स्पष्ट करते हैं।

सन्दर्भ :–

1. शास्त्री, द्वारिकादास, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2010, पेज–2
2. उपरोक्त 1/10–14
3. उपरोक्त 1/18–23
4. उपरोक्त 1/2
5. कविराज, गोपीनाथ, शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 1990
6. शास्त्री, द्वारिकादास, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2010, 1/26–30
7. उपरोक्त 1/32–36
8. उपरोक्त 1/37
9. उपरोक्त 1/38
10. गोस्वामी, सुरक्षित, पातंजलयोग एवं नाथयोग, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली 2012, पेज–38
11. शास्त्री, द्वारिकादास, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2010, 4/12
12. उपरोक्त 4/10
13. उपरोक्त 6/1–21
14. उपरोक्त 2/31
15. उपरोक्त 1/69
16. उपरोक्त 2/32
17. उपरोक्त 2/33
18. उपरोक्त 2/34
19. उपरोक्त 2/35
20. उपरोक्त 2/36
21. उपरोक्त 2/37
22. उपरोक्त 2/38
23. उपरोक्त 2/39

पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानव दर्शन

डॉ. मीनाक्षी पिंपलापुरे
प्राचार्य
शासकीय हाईस्कूल निमारा,
विकासखंड अभनपुर, जिला रायपुर (छ.ग.)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय 'एकात्म मानववाद' के प्रणेता थे, परन्तु उनके दृष्टिकोण में 'मानववाद' एवं 'मानवतावाद' इन दोनों तत्वों का पर्याप्त समावेश था। वस्तुतः दीनदयालजी के एकात्मक मानववाद की ऐतिहासिक एवं तात्विक पृष्ठभूमि में वह भारतीय एवं पाश्चात्य विचार–दर्शन है जिसके मूल में सम्पूर्ण समाज अर्थात् 'व्यष्टि' एवं 'समष्टि' सब के कल्याण का भाव निहित हैं यहाँ पर इन तीनों शब्दावलियों का विश्लेषण आवश्यक है क्योंकि ये बाह्यतौर पर काफी मिलते–जुलते प्रतीत होते हैं परन्तु इनके सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् ही 'एकात्म मानववाद' की व्याख्या की जा सकती हैं कुछ ऐसे विचारक है जो 'मानववादी' हैं, कुछ 'मानवतावादी' परन्तु दीनदयालजी उनसे पृथक 'एकात्म मानववाद' के पहले 'मानववाद' एवं 'मानवतावाद' के अर्थ को स्पष्ट करेंगे।

मानववादः–

'मानववाद' जीवन के प्रति वह दृष्टिकोण है, जो विश्व में मानव विषयों के महत्व पर विशेष बल देता है। प्राचीन भारत में वैदिक युग मानववादी भावनाओं से प्रेरित था, क्योंकि उसमें 'मानव' से सम्बन्धित विषयों की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त भी प्रायः सभी हिन्दू धर्मग्रन्थों में मानववाद अर्थात् मनुष्य के कल्याण को ही 'नीतिशास्त्र' अथवा 'दण्डनीति' का मुख्य अभीष्ट माना गया हैं परन्तु धीरे–धीरे जब आगे चलकर 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या की धारणा बलवती हुई, तब मानववाद गौण होने लगा और आध्यत्मवाद प्रमुख स्थान पाने में सफल हुआ।'

इसी प्रकार, प्राचीन यूनानी संस्कृति भी मानववाद से प्रभावित थी, परन्तु आरंभिक और मध्ययुगीन खिस्ती धर्म जीवनेत्तर बातों से अधिक संबंधित था। पाश्चात्य जगत में पुनर्जागरण के समय से ही प्राचीन यूनानी संस्कृति और लौकिक मानवीय मामलों में लोगों की रूचि पुनः जगी। इस प्रकार पुनर्जागरण के प्रभाव से जिस प्रमुख साहित्यिक आन्दोलन का आविर्भाव हुआ उसे मानववाद का नाम दिया गया। इसका आरम्भ पेट्रार्क और बोक्कासियों की लेखनियों से हुआ।

मानवतावादः–

मानववाद से भिन्न 'मानवतावाद' वह विश्वास है जो किसी कार्य की सफलता का आकलन उसके द्वारा मानवीय कष्टों और पीड़ाओं को कम करने में प्राप्त सफलता के आधार पर करता है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास का यह कथन कि 'परोपकार ही धर्म है और 'परपीड़ा' पाप है, मानवतावाद का सार तत्व हैं अतः मानवतावादी सभी सामाजिक, राजनीतिक

तथा आर्थिक नीतियों की सफलता का आँकलन उनके द्वारा मानव कल्याण के कार्य के आधार पर करते हैं। इस प्रकार मानव की सेवा ही इसके अन्तर्गत सर्वोच्च 'नीति धर्म' बन जाता है। मानवतावाद में समग्र जाति के हित चिन्तन की आवश्यकता और उपयोगिता पर बल दिया गया है। मानवतावाद में मनुष्य को सदैव अच्छा स्वीकार किया है। इस संदर्भ में सर्वपल्ली राधाकृष्णन यह लिखते है: " मानवतावाद यह मानकर भी चलता है कि मनुष्य प्रकृत्यः अच्छा होता है। जो बुराइयाँ हैं, वे समाज की है, उन परिस्थितियों में निहित है जिनसे मानव घिरा है और यदि वे दूर कर दी जाती है तो मनुष्य की अच्छाई बाहर आ जायेगी और प्रगति सहजलभ्य होगी।[2]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार मानवतावाद संकीर्ण धर्म की भावना से मुक्ति देता है।, वह पवित्र धर्म को अपना सहयोगी एवं समर्थक मानकर चलता है। उनकी दृष्टि में मानवतावाद इसी आत्मा की खोज में व्यस्त हैं इस प्रकार वे मानवतावाद को एक सजीव जिज्ञासा के रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह मानवतावाद का भी निहितार्थ लोककल्याण ही है।

दीनदयालजी का 'एकात्म मानववाद', 'मानववाद एवं मानवतावाद' दोनों के ही विविध आयामों को समेटे हुए हैं। इस एकात्म मानववाद के दर्शन के दो प्रमुख आयाम है– एक मानववाद जो कि मूलतः पाश्चात्य अवधारणा है तथा दूसरा एकात्मकता, जो भारतीय अवधारणा है इसी के आधार पर दीनदयालजी ने अपने 'समन्वयकारी मानववाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जो पाश्चात्य देशों की संकुचित एवं सीमाबद्ध विचारधराओं के विपरीत है।

एकात्म मानव दर्शनः–

'एकात्म मानववाद' विचारदर्शन ने मानव की व्यष्टि तथा विभिन्न सामुदायिक समष्टियों के पारस्परिक सम्बन्धों को मुख्यतः अपने विवेचन का विषय बनाया है। इस संदर्भ मे दत्तोपंत ठेंगड़ी कहते हैं: पश्चिम में सभी इकाइयों, संस्थाओं एवं कल्पनाओं का विचार पृथक–पृथक आधार पर किया। है व्यक्ति का व्यक्ति के नाते, परिवार का परिवार के नाते, समाज का समाज के नाते और मानवता का मानवता के नाते वहाँ विचार किया गया। किन्तु इन समस्त इकाइयों में कुछ सम्बन्ध है। इसका विचार नही किया गया है। व्यक्ति का विचार करते समय अन्य सामाजिक अवयवों को भुला दिया गया। यही बात परिवार, समाज और मानवता का विश्लेषण करते समय हुई... उनके यहाँ एक–एक इकाई का विचार हुआ। समझने के लिए कहा जा सकता है कि बीच में एक बिन्दु है, जो व्यक्ति है। उसको आवृत्त करने वाला किन्तु पिछले घेरे से असम्बद्ध एक दूसरा बड़ा घेरा परिवार है। उसको आवृत्त करने वाला किन्तु पिछले घेरे से असम्बद्ध एक दूसरा बड़ा घेरा समुदाय का है उसको आवृत्त करने वाला उससे बड़ा घेरा राष्ट्र का है और उससे ऊपर जो घेरा है वह मानवता का है। सबसे ऊपर जो घेरा है वह मानवता का है। सबसे ऊपर का घेरा चराचर विश्व है। यहाँ तक वे लोग पहुँच गए है।

संकेन्द्री रचना

इसमें व्यक्ति केन्द्र बिन्दु है। अब उससे सम्बन्ध न रखते हुए अन्य घेरे परिवार, राष्ट्र और मानवता के हैं। ये एक–दूसरे को आवृत्त अवश्य करते है पर एक–दूसरे से अलग है और एक दूसरे से निर्गमित नहीं होते। पर उपने यहाँ जो रचना दी गई है, वह सनातन रचना है

और नवीन नहीं है। इसे कुण्डलित, सर्पिल या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखण्ड मण्डलाकार रचना कहा जाता है। इसका प्रारंभ व्यक्ति से होता है और व्यक्ति को लेकर, व्यक्ति से संबंध न तोड़ते हुए उसी से संबद्धता कायम रखते हुए अगला घेरा परिवार एवं समुदाय का है। उसे खण्डित न करते हुए उसी से संबद्ध दूसरा घेरा राष्ट्र का है। सातत्व रूप से उससे ऊपर का घेरा मानवता का है और चरम शिखर पर चराचर विश्व का घेरा है।

अखण्ड मंडलाकार (Spiral System)

ठेंगड़ेजी इन दोनों रचनाओं के अन्तर को इस प्रकार विवेचित करते हैं कि पश्चिमी विचार के अनुसार हर सामुदायिक इकाई एक–दूसरे को आवृत्त तो करती है पर परस्पर असम्बद्ध है। इसलिए हर इकाई का हित–चिंतन एकांतिक है, अतः इसमें हित विरोध व निरंकुशता आती है, जबकि एकात्म मानववादी अथवा भारतीय जीवन–रचना व्यक्ति एवं समाज की विभिन्न इकाइयों में असम्बद्धता को स्वीकार नहीं करती। परस्पर सम्बद्धता के परिणामों से यह विससित समाज चेतना है, अतः इसमें हित विरोधी नहीं, वरन् पूरकता रहती है, समन्वय रहता है। व्यक्ति बिन्दु का विकास ही मानवता तक के सर्किल या मण्डलाकार जीवन प्रक्रिया से हुआ है, अतः व्यक्ति तथा मानवता के हित परस्पर विरोधी एवं संघर्षमूलक नहीं हो सकते। इस अवधारण के अनुसार जो जीवन–दृष्टि संबंधी निष्कर्ष निकाले गए है, वे निम्नलिखित है:

सर्वप्रथम तो यह कि व्यक्ति एवं विभिन्न सामाजिक इकाइयाँ परस्पर अविछिन्न है पर इनमें पृथकता देखनेवाली जीवन–दृष्टि गलत है।

द्वितीय, व्यक्ति से मानवता तक की सामाजिकता एक विकास–क्रम का परिणाम है। इस विकास चेतना की अवहेलना से आरोपण एवं निरंकशता की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है।

तृतीय, व्यक्ति तथा समाज के हित परस्पर विरोधी नहीं, अपितु पूरक है। व्यक्ति एवं समाज की पृथकतामूलक अवधारणा ने संघर्ष एवं स्पर्धामूलक मनोविज्ञान विकसित किया है।

चतुर्थ, पारस्परिक सम्बद्धता का मनोविज्ञान शोषण एवं उत्पीड़न का निषेध करता है तथा परमार्थ एवं स्वार्थ में अभेद उत्पन्न करता है।

पंचम यह कि व्यक्ति से मानवता तक की चेतना का विकास एक मानवीय प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक है जबकि असम्बद्ध इकाइयों को कृत्रिम व्यवस्थाओं से जोड़ने के प्रयत्न से व्यवस्थावाद, जो कि अन्ततः 'राज्यवाद' के रूप में परिभाषित होता है, की प्रधानता हो जाती है। यांत्रिक सम्बद्धताओं की प्रक्रिया मानव की सहज संवेदनशीलता को आहत करती है।

अन्तः संकेन्द्री जीवन–रचना खण्ड–खण्ड मानव का दर्शन है, जबकि अखण्ड मण्डलाकार एकात्म मानव का।[3]

इस प्रकार पंडित दीनदयाल जी का एकात्म मानव दर्शन भारत के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक 'भारतीय' भारत को प्रकट करने का एक साधन है। हम भारतीय अपने स्वयं के अतिरिक्त भारत का भी प्रतिनिधित्व करते है। इतना ही नहीं अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए भारत में जितनी संस्थाएं है उनका उप कारण भी हम भारतीय ही है। इसीलिए हम उनके भी प्रतिनिधि है। देश में व्यापक जो समष्टियाँ है जैसे 'मानव' उनका भी

प्रतिनिधित्व हम मनुष्य ही करते है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति (भारतीय) बहुमुखी व्यक्तित्व है। इसीलिए इनमें पारस्परिक खिंचाव और संघर्ष नहीं बल्कि एकात्मकता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस तथ्य को समझकर इन सामंजस्य के नियमों का आँकलन और उनकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शांति दे सकती है। साथ ही मानवता का विकास भी कर सकती हैं। यही भारत के विकास का परिचय हो सकता है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के आधार पर उनकी आवश्यकता एवं कार्यशीलता का एक रेखाचित्र दीनदयाल उपाध्याय प्रस्तुत करते है जिसमें व्यक्ति तथा समाज के सब तत्व व्यक्ति और समाज तथा समाज एवं व्यक्ति को जोड़ने वाली क्रियाशील सम्बद्धता के परिणामस्वरूप सिद्ध होने वाले चतुर्पुरूषार्थ का दिग्दर्शन है।

घन परिपूर्ण मानव, जो 'विराट्' पुरूष है, उसका है। यह घन छह समान वर्गों से निर्मित है जो विभिन्न–समीकरणों को संयोजित करते हैं। एक बिन्दुरेखीय सूत्र है जो इस घन के विभिन्न वर्गों में सुसूत्रता निर्माण करता है।[4]

'व्यष्टि–समष्टि' सम्बन्ध एवं चतुर्पुरूषार्थ का एकात्म घन को दर्शाया गया है तथा उसके आगे व्यष्टि–पुरूषार्थ समीकरण' का भी वर्णन किया गया है।

इस प्रकार घन की आकृति पंडित दीनदयालजी के एकात्म मानव दर्शन को स्पष्ट करती है।

संदर्भ:

1. मानववाद और मानवतावाद' के विभिन्न आयामों पर राजकुमार झा का एक अप्रकाशित लेख (सर्वपल्ली राधाकृष्णन एनआईडीयलिस्टिक व्यू ऑफ आईफ पृष्ठ 35)
2. महेशचन्द्र शर्मा दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार (वसुधा पब्लिकेशन, दिल्ली 1994 पृष्ठ 359)
3. महेशचन्द्र शर्मा दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार (वसुधा पब्लिकेशन, दिल्ली 1994 पृष्ठ 421)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का शैक्षिक दर्शन

डॉ कृष्णमुरारी सिंह
सहायक आचार्य
दर्शन शास्त्र विभाग
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय
विश्वविद्यालय अमरकंटक (म.प्र.)

भारतीय राजनीति और समाज में पंडित दीनदयाल उपाध्याय का प्रशंसनीय योगदान रहा है। वह सिर्फ एक राजनेता नही अपितु एक महान शिक्षाविद्, दार्शिनिक और विचारक भी थे। उनके एकात्ममानववाद के दर्शन से न केवल भारत बल्कि पूरा विश्व लाभान्वित हुआ। एकात्ममानववाद का दर्शन उपाध्याय जी के सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों पर आधारित है जिसकी जड़े सनातन परम्परा से जुड़ी हुई है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य था की भारत अपने खोये हुए वैभव को प्राप्त कर सके। उपाध्याय जी के अनुसार राष्ट्रहित के लिए लोकतंत्र समानता, समाजवाद और शिक्षा सभी आवश्यक मूल्य है जो एक दूसरे में समाहित हैं पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी एक शिक्षाविद् के साथ–साथ दार्शनिक भी थे जिन्होंने एकात्ममानववाद की विचारधारा का प्रचार करने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। वे एक समावेशित विचारधारा के समर्थक थे। वे भारत को एक मजबूत राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। इसके लिए जीवनभर उन्होंने प्रयास किया जहाँ तक पंडित जी के शिक्षा दर्शन का प्रश्न है उनके अनुसार शिक्षा और संस्कार से एक बालक समाज का एक अभिन्न घटक बनता है। बच्चे को शिक्षा देना समाज का अपने हित में हैं वे निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे। उनका विचार था की जो काम समाज के अपने हित में हो उसके लिए शुल्क क्यों लिया जाय? उनका तर्क था कि क्या हम लाभ के लिए वृक्ष को लगाने और सींचने के लिए पेड़ से पैसा लेते हैं? व्यक्ति और समाज का पहला सम्बन्ध शिक्षा के रूप में सामने आता है। शिक्षा ही व्यक्ति और समाज को मिला देती है। बच्चे के पैदा होते ही समाज उसे शिक्षा देना प्रारंभ कर देता है। शिक्षा से संस्कार बढ़ता जाता है। शिक्षा और संस्कार से व्यक्ति कर्मशील बनता है और ऐसा करके वह समाज से जुड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का पहला सम्बन्ध शिक्षा के रूप में सामने आता है। पंडित जी का यह भी विचार था कि व्यक्ति और समाज अलग–अलग नहीं है। एक को मिटाकर दूसरा नहीं चल सकता है। व्यक्ति और समाज दोनों साथ–साथ चलते है इन दोनों को मिलाकर जो चीजें बनी, वे चार पुरूषार्थ कहलाता है पुरूषार्थ केवल व्यक्ति में नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र में भी होते है। उपाध्याय जी का शिक्षा के बारे में यह भी विचार था कि शिक्षा से संस्कार और अच्छे संस्कार से एक आदर्श समाज की रचना होती है और वही समाज एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करता है। शिक्षा से व्यक्ति की सोच बदलती हैं और वही सोच उसमें राष्ट्रीय चेतना पैदा करती हैं जिससे एक सुदृढ राष्ट्र बनता है। इस प्रकार अच्छी शिक्षा से

राष्ट्रीय चेतना विकसित होती है। *शिक्षा वह औषधि है जो व्यक्ति के अंदर अज्ञानता रूपी* व्याधि है उसे दूर किया जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान करती है जिससे एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण होता है। अतः शिक्षा अपरिहार्य है। दीनदयाल जी ने भारत राष्ट्र के लोगों को सदैव अपनी दृष्टि में रखा और उन्हें सुचिता, पवित्रता, समन्वय और साहचर्य का पाठ पढ़ाया। पंडित जी का व्यक्तित्व सामाजिक समरसता, विश्व बंधुत्व और राष्ट्र प्रेम के सूत्र से परिवेष्टित था जो एक ओर भारतीय ज्ञान के ध्वजवाहक थे, तो दूसरी ओर उनमें भारत के कला–कौशल, वांग्मय, लोकबुद्धि और दार्शनिक चिंतन के प्रति परम आस्था विद्यमान थी। भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता की जैसी व्यवस्थित व्याख्या पंडित जी के चिंतन में मिलती है। वह निश्चित ही वह हमारे युवा वर्ग के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत है। वे भारत को इसलिए एक परिवार के रूप मे देखते थे और इसके लिए भारतीय धर्म और संस्कृति को आधार मानकर चलते थे। वह आधार जो हमें सत्यम शिवम् सुन्दरम की व्यापक भावभूमि से सम्बद्ध करता है और जिसमें ज्ञान का अथाह सागर लहरें मारता है उन्हें इस बात का आभास था की भारत धार्मिक, सांस्कृतिक तथा रीति–रिवाजों की दृष्टि से विविधता सम्पन्न देश है और नई पीढ़ी में लोकतांत्रिक मूल्यों का समावेश इन्हीं तीनों के माध्यम से ही हो सकता है। इसलिए वह सदैव सह–अस्तित्व की भावना के विकास में अपने विचारों को केन्द्रित करते हैं। यदि उनके धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक विचारों को गहराई से देखा जाय, जिसकी आज अत्यंत आवश्यकता है। भारतीय दर्शन, धर्म, अध्यात्म, और संस्कृति के सनातन मूल्यों का अनुशीलन और प्रचलन हमें लोक में मिलता है। लोक उनके मत में परम शिक्षक भी है क्योंकि वह हमें जीना और सबका होकर जीना सिखाता है। ऐसा शिक्षा जो हमें जीना और सबका होकर जीना सिखाता है। ऐसा शिक्षा जो हमें सदव्यवहार, सदभाव, और साझेदारी की ओर ले जाती है। हमारी सनातन परम्परा में भी 'सा विद्या या विमुक्तये' का उद्घोष किया गया है अर्थात हम ऐसी विद्या प्राप्त करें जो हमें वर्जनाओं संकीर्णताओं अभावों और हर प्रकार के अंधकार से मुक्त कर दें। वैदिक साहित्य में शिक्षा शब्द का अर्थ – विद्या, ज्ञान, प्रबोध, बोध, विनय से लिया गया हैं उनके दर्शन में कर्म, ज्ञान, एवं भक्ति की सामंजस्य मिलती है। भारतीय राजनीति और समाज में पंडित दीनदयाल उपाध्याय का अतुलनीय योगदान है। वह सिर्फ एक राजनेता नहीं अपितु एक महान दार्शनिक और विचारक भी थे। उनके एकात्म मानववाद के दर्शन से न केवल भारत बल्कि पूरा विश्व लाभान्वित हुआ है। भारत जैसे देश के विकास के लिए मानवतावाद की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण है एकात्म मानववाद का दर्शन उपाध्याय जी के सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों पर आधारित है, जिसकी जड़ें सनातन परम्परा से जुड़ी है, इस दर्शन का मुख्य उद्देय था की भारत अपने खोए हुए वैभव को प्राप्त कर सके। उपाध्याय जी के अनुसार राष्ट्रहित के लिए लोकतंत्र, समानता, समाजवाद, शांति ये सभी मूल्य हैं जो एक दूसरे में समाहित है। पंडित जी का एकात्म मानववाद का दर्शन मन, शरीर और आत्मा के एकीकरण पर आधारित है। पंडित दीनदयाल जी एक विचारक तथा दार्शनिक दोनों थे जिन्होंने एकात्म मानववाद की विचारधारा का प्रचार करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। दीनदयाल जी संवाद एवं संभव के आकांक्षी थे।

इसी कारण श्रीनाथ पिंड का कथन है कि, दीनदयाल उपाध्याय गाँधी, तिलक और सुभाष चन्द्रबोस की परम्परा में एक योजक कड़ी के सदृश्य है यद्पि यह सर्वविदित है की पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी भारतीयता, मानवता एवं समग्रता के भाव से ओत–प्रोत एक आदर्श महामानव के सदृश हैं वे अपने ज्ञान की मेधा से, ज्ञान की शक्ति से सारी दुनिया को आवृत करना चाहते थे ऐसा भाव हमारी प्राचीन सनातन परम्परा का भाव है। पंडित दीनदयाल उपध्याय उसी परम्परा के पथिक है, प्रदर्शक है वाहक है। जिसमें सुचिता है, साधना है, व्यष्टि को परमेष्टि तक ले जाने का भाव है। अर्थात यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार की सोच संकीर्ण बुद्धिवालों की ही होती है। जो लोग उदार चरित्र के होते हैं उनके लिए सम्पूर्ण धरा ही एक परिवार की भांति है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय इसी विचार से प्रेरित होकर सम्पूर्ण भारत को वे एक परिवार मानते हैं। उस परिवार में भारतीय सनातन मूल्यों को समाविष्ट करते हैं। पंडित दीनदयाल जी सदैव यह कहा करते थे कि "जब हम एकात्म की बात करते हैं तो उसमें व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि सन्निहित है।" हमारा वैचारिक वैदिक उद्घोष है की "आनो भद्राः क्रतवों यन्तु विश्वतः।" अर्थात् हम हर जगह से सुविचार ग्रहण करें। इस तरह उन्होंने सबके अंदर कर्म की प्रेरण का भाव भरने का काम किया। जो हमारे पवित्र ग्रन्थ श्रीमदभागवत गीता का दर्शन है की कर्मण्येवाधिकारस्ते माँ फलेषु कदाचन् अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करना है बिना कर्म के जीवन का सर्वांगीण विकास संभव नही है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का बार–बार कर्म को प्रेरणा प्रदान करते हुए कहते है कि हम अपने राष्ट्र को उन ऊँचाईयों पर ले जाये जो हमारे पूर्वजों के राष्ट्र हो, जिसे परम वैभव की प्राप्ति हों और वह दुनिया का श्रेष्ठतम राष्ट्र हों जिसमें समस्त सिद्धान्त पूर्ण रूप में निहित हो। एकात्ममानववाद का दर्शन भारतीय संस्कृति का एक अहम् अंश है जो मानव को ब्रह्म अर्थात परम सत्य के रूप में देखता है। एकात्ममानववाद दर्शन की विशेषता यह है की इसमें मानव के चार लक्षणों अर्थात शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के एकीकरण को दर्शाया गया है। धर्म की अवधारणा भी दीनदयाल जी के दर्शन का एक अभिन्न अंग है। धर्म मानव जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो मनुष्य को शांति समरसता और उन्नति की ओर अग्रसित करता है। दीनदयाल जी पश्चिमी दर्शनशास्त्र के आलोचक थे जो मानव जीवन को विभिन्न दर्शनों से सम्बंधित करता है उनका मानना था की शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का विकास एक साथ होना चाहिए। एकात्ममानववाद धर्म के मार्ग की ओर अग्रसित होने पर जोर देती है। धर्म न केवल सामूहिक या सामाजिक जीवन में, बल्कि स्वयं व्यक्ति के जीवन में भी सद्भाव लाने का मार्ग प्रशस्त करता है। एकात्म मानववाद का दर्शन दीनदयाल उपाध्याय के सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों पर आधारित है जिसकी जडे सनातन परमपरा से जुड़ी हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य यह था कि भारत अपने खोये हुए वैभव को उन्हें प्राप्त कर सके। एकात्म मानववाद एक ऐसा दर्शन है जिसमें मनुष्य के सुख के लिए उससे जुड़ी सभी इकाईयों की बराबर हिस्सेदारी है। एकात्म मानववाद अनिवार्य रूप से व्यक्ति तथा समाज के संतुलित एकीकरण की धारणाओं पर आधारित है। पंडित दीनदयाल जी के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का अपना सामाजिक और सांस्कृतिक केन्द्रीय विचारधारा होती है। (नैन

और शर्मा, 2008) जिसका अनुकरण करके वह राष्ट्र प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। भारतीय परम्परा एवं जीवन पद्धित को समझना तथा अनुभव करना एकात्ममानव की महत्वपूर्ण विशेषता है। एकात्म मानववाद सबके हित और सबके सुख और मंगलमय जीवन की बात करता है। एकात्म मानववाद प्रत्येक मनुष्य के शरीर मन बुद्धि और आत्मा का एक एकीकृत कार्यक्रम है।

पंडित दीनदयाल जी ने एकात्ममानववाद के आधार पर एक ऐसे राष्ट्र की कल्पना की जिसमें विभिन्न राज्यों की संस्कृतियाँ विकसित हों और एक ऐसा मानव धर्म उत्पन्न हो जिसमें सभी धर्मों का समावेश हों, जिसमें व्यक्ति को समान अवसर और स्वतंत्रता प्राप्त हो जो एक सुदृढ़, संपन्न एवं जागरूक राष्ट्र कहलायें। पंडित जी के शब्दों में एकात्म मानववाद का सार कुछ इस तरह है– "हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था का केंद्र मानव होना चाहिए जो "यत पिंडे तत ब्रह्मांडे" के न्याय के अनुसार जो भीतर है वही बाहर है और जो बाहर है वो ही भीतर है। भौतिक चीजें मानव के सुख के साधन हैं, साध्य नहीं। पंडित जी का मानना था की व्यक्ति का अर्थ सिर्फ उसका शरीर नहीं है, बल्कि उसका मन, बुद्धि और आत्मा से है। यदि इन चारों में से किसी एक को भी उपेक्षा की जाय तो व्यक्ति का सुख विकलांग हो जायेगा। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का व्यक्तित्व महान था, उसमें अंहकार आदि कि क्षुद्र भावनाएं नही थी निष्काम कर्मयोग उनकी प्रवृत्ति थी वे गीता में बताए गये सिद्धांतों का अपने जीवन में सदैव उतारने का प्रयास करते थे।

सूखे–दुःखे समाकृित्वा लाभा–लाभौ जया जयो

पंडित दीनदयाल जी का मानना है कि हमें ज्ञान का आदान–प्रदान विश्व के प्रत्येक देश से करने में कोई संकोच नही होना चाहिए पर ऐसा करते समय हमें अपने जीवन मूल्यों को स्मरण करना होगा। सनातन परम्परा के पोषक भारत राष्ट्र समृद्धि की उन ऊँचाईयों पर आसीन हों, जहाँ से वह अपने ज्ञान की मेधा से, ज्ञान की शक्ति से सारी दुनिया को आवृत कर सके, ऐसा भाव हमारी प्राचीन सनातन परम्परा का भाव है। पंडित दीनदयाल जी उसी परम्परा के पथिक है, प्रदर्शक है, वाहक है जिसमें सुचिता है, साधना है, व्यष्टि को परमेष्टि तक ले जाने का पुण्य भाव है, अर्थात् यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार की सोच संकीर्ण बुद्धि वालों की होती है। जो लोग उदार चरित्र के होते हैं उनके लिए सम्पूर्ण धरा ही एक परिवार की भांति है। पंडित दीनदयाल जी इसी विचार से प्रेरित होकर सम्पूर्ण राष्ट्र को ही एक परिवार मानतें है। उस परिवार में भारतीय सनातन मूल्यों को समाविष्ट करते है जिसमें चतुष्टय पुरूषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है।

निष्कर्ष–भारतीय शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में उपाध्याय जी का विचार था की हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो मानव की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ–साथ उसमें भारतीय मूल्यों और संस्कृति का भी ज्ञान प्रदान करें। उन्होंने अपने एकात्म मानववाद दर्शन में इस तथ्य की ओर ध्यान केन्द्रित किया है कि प्रत्येक देश की अपनी एक विशिष्ट ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थित होती है। अतः भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों की पहचान करके शिक्षा की बुनियाद रखनी चाहिए। वर्तमान शिक्षा का आधार सर्वांगीण विकास है उदाहरण के लिए

प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वास्थ्य के लिए शारीरिक शिक्षा, सामाजिक सामंजस्य के लिए सामाजिक शिक्षा, चरित्र निर्माण के लिए नैतिक शिक्षा आदि। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में एकात्मकता की कमी है। उपाध्याय जी कि शिक्षा प्रणाली के पृथक्करण के सिद्धांत का खंडन करता है। उनका मुख्य उदेश्य था की शिक्षा व्यवस्था एकात्म मानववाद के विकास के लिए होनी चाहिए ताकि मनुष्य राष्ट्र, समाज, प्रकृति सबको एक सामान महत्व दे और अनुभव करें। उपाध्याय जी के अनुसार राष्ट्र हित के लिए लोकतंत्र, समानता, समाजवाद, शाति के सभी आवश्यक मूल्य है जो एक दुसरे में समाहित है। भारतीय संस्कृति में विविधता में भी एकरूपता का आभास होता है। अतः शिक्षा का आधार बताते हुए सास्कृतिक एवं सामाजिक एकात्मकता को ध्यान में रखना आवश्यक है। शिक्षा में एकात्मकता से अभिप्राय मात्र विषय वस्तु तक सीमित नहीं है बल्कि प्रत्येक पहलू की गहराई तक पहुंचना है।

राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति को सजों कर रखने के जिए वहाँ के नागरिकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद समाज, राष्ट्र मानव एवं संस्कृति को एकता के सूत्र में बांधकर राष्ट्र निर्माण के संकल्पना करता है। राष्ट्र निर्माण के प्रत्येक पहलू के मूलतत्व को पहचान कर शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया जाना चाहिए। एक श्रेष्ठ व्यक्ति ही श्रेष्ठ समाज का निर्माण कर सकता है क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक होते हैं। पंडित दीनदयायल का शिक्षा दर्शन मानवता का विकास करने वाला था जिसमें चरित्र निर्माण, संस्कार, धर्मज्ञता और आत्मविश्वास पूर्ण कार्य करने की क्षमता का विकास आदि गुणों का होना आवश्यक है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. विष्णु पुराण , 1, 19, 41
2. ऋग्वेद 1/81/1
3. श्रीमदभागवतगीता गीता–2 (अध्याय)/47 (श्लोक)
4. शर्मा, यस.के.एंड नैन, ए. (2018) इंटीग्रल ह्युमनिज्म आफ ऑफ दीनदयाल उपाध्याय एंड इट्स कन्टेम्परेरी रेलेवस द इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस VOL LXXIX, NO-1 JAN-MARCH 2018 पी . पी . 13–20
5. गीता श्लोक संख्या–2/28
6. पांचजन्य; 21 फरवरी– 1966 पृष्ठ–10
7. महोपनिषद, 4 (अध्याय) / 71 श्लोक

डॉ. अम्बेडकर के आर्थिक विचारों का दर्शन: कुछ विचार, कुछ टिप्पणियाँ

आशुतोष व्यास
परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र),
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. भीमराव अम्बेडकर अर्थशास्त्र के अध्येता थे और उनके आर्थिक विचारों ने भारतीय अर्थ–आयोजन और अर्थशास्त्रियों को प्रभावित किया है, यह मत आधारित और तथ्य आधारित विचार है। अर्थशास्त्र में औपचारिक रूप से शिक्षित अम्बेडकर ने भारत की ब्रिटिश सरकार और स्वतन्त्र भारत के संविधान दोनों के समक्ष अपने आर्थिक विचारों को प्रस्तुत किया और यह दिखाने का भरसक प्रयास किया कि किस प्रकार राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र में सम्बन्ध है। वे इस सूत्र के अधिवक्ता थे कि राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करेगी कि उस समाज में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र किस सीमा तक व्याप्त है। मैं अर्थशास्त्र का औपचारिक अध्येता नहीं हूँ, अतः यह सम्भव है कि डॉ. अम्बेडकर की अर्थशास्त्रीय समझ और विचारों के साथ विषयगत तर्कसंगत और तथ्यसंगत न्याय न कर पाऊं। परन्तु दर्शन का अध्येता होने के कारण यह सम्भव है कि अम्बेडकर के आर्थिक विचारों के दार्शनिक आधारों की समझ विकसित कर पाऊं और प्रस्तुत करने का समीचीन प्रयास भी। मेरा यह आलेख मूलतः अम्बेडकर के समीक्षा आलेख, जो कि दार्शनिक बर्ट्रेंड रसल की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' के विकास और सम्पत्ति से सम्बन्धित अध्याय के संदर्भ में है, के प्रकाश में है।

कुछ समय पहले मेरे एक मित्र ने एक घटना सुनाई, दिल्ली विश्वविद्यालय मेट्रो का एक सफाई कर्मचारी सफाई करते हुये मधुर स्वर में गा रहा था, बिल्कुल मंत्रमुग्ध कर देने वाला। यदि मेट्रो में सफाई कर्मचारी बतौर कार्य करना उस व्यक्ति की विवशता हो और यह भी कि वह गायकी को आजीविका का साधन बनाने की इच्छा भी रखता हो, तो यह कहना उचित ही है कि यह हमारी आर्थिक आयोजना की एक विसंगतिपूर्ण विचित्र स्थिति है।

रसल का मानना था कि सामान्य आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ अवसर की समानता होनी चाहिए। और यह भी कि अवसर की समानता के साथ स्वतन्त्रता भी आवश्यक है। न केवल विकल्प चुनने की, अपितु विकल्प सृजन की भी।

अम्बेडकर का आर्थिक–दर्शन बाजार, क्रय–विक्रय, कराधान, वित्त–प्रबंध, मुद्रा की शास्त्रीय विचार से जुड़ा हुआ नहीं है, और न ही केवल एकांगी आर्थिक रूप से इन पर विचार करने वाला, अपितु यह सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों के ताने–बाने की समझ पर आधारित और विकसित है। इस आलेख के दायरे में मैं अम्बेडकर के आर्थिक दर्शन के

सम्बन्ध में कुछ बातें और कुछ टिप्पणियां प्रस्तुत कर रहा हूँ। अम्बेडकर के आर्थिक दर्शन को निम्नलिखित तीन विचारों से समझा जा सकता है,

1. व्यष्टि (व्यक्ति) की स्वाधीनता एवं आर्थिक संरचना में सम्बन्ध, जिसकी अनुगूंज आर्थिक लोकतंत्र के लिये संवैधानिक प्रावधान के विचार में स्पष्ट है।
2. साध्य–साधन विचार
3. वस्तु का उपभोग और आवेग सम्बन्धी विचार

डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि सम्भव है, कि व्यष्टि की स्वाधीनता और समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और स्वरूप का सम्बन्ध प्रत्येक को दिखाई न दे। फिर भी दोनों के बीच वास्तविक सम्बन्ध है। (सम्पूर्ण वांग्मय, खंड 2, राज्य और अल्पसंख्यक, परिशिष्ट, अनुच्छेद 2, अनुभाग 2, खण्ड 4)। व्यक्ति की स्वतन्त्रता या स्वाधीनता और समाज के आर्थिक स्वरूप का सम्बन्ध जटिल होने के कारण सूक्ष्म अवलोकन की मांग रखता है, अन्यथा प्रतीत तो यही होता है कि व्यक्ति समाज का एक घटक है, जो कुछ निश्चित आर्थिक क्रियाकलापों को अपनाता है (जैसा वर्ग के स्पष्ट विभाजन के उदाहरण में जाति आधारित भारतीय समाज), या समाज के सामाजिक–सांस्कृतिक–राजनीतिक ढांचे की आधारभूमि से उद्भूत या उससे अनुमन्य आर्थिक क्रियाकलापों का सृजन भर करता है, और इस सृजन में व्यक्ति वास्तविक सर्जक नहीं है, अपितु निमित्तमात्र है (जटिल एवं आभासी दुनिया में पल्लवित आर्थिक संरचनाओं का वर्तमान समाज)। परन्तु यदि गौर से देखेंगे तो हम पायेंगे कि ये सभी आर्थिक संरचनाएं व्यक्ति की स्वतन्त्रता की मांग करती हैं। यह सम्भव है कि ऐसा कोई समय हो, जब पूर्व–निर्धारित निश्चित ढंग से जीवन–यापन हो (जोकि हर समय में स्वतन्त्रता के साथ–साथ ही चलता है), परन्तु जीवन–यापन का कोई भी ढंग व्यक्ति की स्वतन्त्रता से पूर्व नहीं अपना सृजन नहीं पा सकता है, और इसका कारण यह है कि हमारा संसार अर्थ, भाव और मूल्य वाला है। यह मूल्यवत्ता समाज को विशिष्टता देती है, और यह मानवीय जीवन और उसकी अर्थ और भाव की स्वतन्त्रचेतना शक्ति के बिना सम्भव नहीं है।

व्यक्ति और समाज के इस सम्बन्ध को समझते हैं, जिसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि

1. व्यक्ति अपने आपमें एक सिद्धि है। (न साधन और न ही साध्य)
2. व्यक्ति के कुछ अहरणीय अधिकार हैं, जिनकी गारंटी संविधान द्वारा दी जाए।
3. कोई विशेषाधिकार प्राप्त करने की पूर्व शर्त के रूप में किसी व्यक्ति से यह अपेक्षा न की जाए कि वह अपने संवैधानिक अधिकारों में से किसी का परित्याग करे।
4. राज्य दूसरों पर शासन करने के लिए गैर–सरकारी लोगों को शक्तियां प्रत्यायोजित न करे।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और स्वरूप को विधि द्वारा विहित और नियमित करने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अम्बेडकर लिखते हैं कि वह प्रयोजन एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को दूसरे व्यक्तियों के अतिक्रमण

से बचाना है, और मौलिक अधिकारों का यही उद्देश्य है। यदि यह विधायिका या कार्यपालिका की इच्छा पर छोड़ दिया जाए तो सम्भव है कि बहुसंख्यक प्रभाव में प्रभावी न्यायपूर्ण प्रावधान तैयार ही न हों या बहुत ही कमजोर से प्रावधान तैयार हों। (संवैधानिक प्रावधान, न कि विधायिका या कार्यपालिका पर निर्भर)।

अम्बेडकर लिखते हैं कि संविधानवेत्ता वकीलों का मानना है कि व्यक्ति की आर्थिक स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए मूल अधिकारों का अधिनियमन पर्याप्त है। उन विद्वानों का तर्क है कि जहाँ राज्य निजी कार्यकलापों– आर्थिक और सामाजिक– में हस्तक्षेप नहीं करता, वहां स्वाधीनता ही शेष रहती है। आवश्यकता है उस शेष को जितना संभव हो सके व्यापक बनाने की और राज्य के हस्तक्षेप को यथासंभव कम करने की। (वही, पृ. 195) परन्तु योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की सफलता की अनिवार्य शर्त है कि यह निलंबन और परित्यजन की शिकार नहीं होनी चाहिये।

अम्बेडकर का विचार है कि प्राचीनकाल के संविधानवेत्ता वकीलों का मानना था कि संविधि की परिधि और कार्यक्षेत्र समाज के राजनीतिक ढांचे की आकृति और रूप को विहित करना है। उन्होंने कभी यह नहीं समझा कि यदि लोकतंत्र को एक आदमी, एक मूल्य के सिद्धांत की कसौटी पर खरा उतरना है, तो समाज के आर्थिक ढांचे की आकृति और रूप को विहित करना भी उतना ही आवश्यक है। और अम्बेडकर का यह विचार संसदीय लोकतंत्र को निराकृत किये बिना और उसकी स्थापना को संसदीय लोकतंत्र की इच्छा पर छोड़े बिना राजकीय समाजवाद की स्थापना का प्रयास है।

यद्यपि इस तरह के उपाय का एक सफल प्रयास तानाशाही भी हो सकता है, परन्तु जो लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्व प्रदान करते हैं और बुनियादी आवश्यकता मानते हैं, वे तानाशाही के इस खतरे से परिचित हैं कि यह तंत्र स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है। स्वतन्त्रता लोकतंत्र में ही सम्भव है, परन्तु राजकीय समाजवाद के लिए लोकतंत्र में संवैधानिक प्रावधान आवश्यक हैं। व्यक्ति के आर्थिक आयाम को बाजार के भरोसे या उसकी दया पर नहीं छोड़ा जा सकता है। यदि ऐसा करते हैं तब व्यक्ति या तो एक आभासी स्वतन्त्रता में बंधा रहेगा, या शोषण अथवा विवशता का शिकार होकर प्रतिकूल प्रभाव वाले कार्यों को करने के लिए बाध्य होगा। अम्बेडकर के इस विचार की प्रतिध्वनि अमर्त्य सेन के दक्षता (कैपेबिलिटी) के दृष्टिकोण में पाई जा सकती है, जिसमें उनका मानना है कि राज्य या समाज का यह कर्तव्य है कि वह अपने समाज और समय की परिस्थिति के अनुसार ऐसी व्यवस्थाएं निर्मित करे कि प्रत्येक व्यक्ति उपलब्ध विकल्पों में चयन करने के लिए स्वतन्त्र हो, और इस स्वतन्त्रता में यह समाहित है कि वह किसी भी क्षण अपने चुनाव में विवश न हो, अन्यथा वह समाज की एक कमजोर कड़ी होगा, और उसका ऐसा होना समाज के स्वयं की प्रगति में बाधक ही होगा।

व्यक्ति की प्रवृत्तियों के बारे में रसल को उद्धृत करते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि मानव के भीतर ही कर्म के स्रोत होते हैं, क्योंकि उसमें कर्म करने की कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं। बाह्य परिस्थितियां कर्म की प्रेरणा नहीं देतीं। वे तो केवल उसे पुनः दिशा प्रदान करती हैं

कर्म करने की ये प्रवृत्तियां व्यवहार में आते समय सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर रूप बदलती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों में जो परिवर्तन होते हैं, वह सर्वाधिक महत्व के होते हैं। उन्हीं में शिक्षा निहित होती है। किन्तु सभी परिवर्तन समान महत्व के नहीं होते हैं और यह सुधारक का कार्य है कि वह उन परिस्थितियों तथा संस्थाओं का सफाया करे, जो समाज के अहित में प्रवृत्तियों का परिवर्तन करती हैं और उन प्रवृत्तियों की रक्षा और स्थापना करे, जो लोकहित में उनका परिवर्तन करती हैं।

"मानव के आवेग प्रारंभ से ही उसकी मूल प्रवृत्तियों द्वारा निश्चित नहीं किए जाते हैं। एक निश्चित सीमा के भीतर उसकी परिस्थितियां तथा उसकी जीवन शैली उनमें भारी परिवर्तन करती हैं। इन परिवर्तनों का अध्ययन किया जाए और जब राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं से होने वाले हित अथवा अहित का अंकन किया जाए तो अध्ययन के परिणामों को ध्यान में रखा जाए"। अध्ययन का परिणाम हितकारी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक संरचना या कहें वातावरण के प्रति दृष्टिकोण बनाने, विकसित करने, और वातावरण निर्मित करने में सहायक सिद्ध होगा।

उपर्युक्त दोनों कथनों से स्पष्ट है कि मनुष्य में आवेग के लिए मूल प्रवृत्तियां हैं, और यह प्रवृत्तियां साध्य को सिद्ध करने या चाहने के रूप वाली हैं, परन्तु यह आवेग या कहें बल प्रयोग सर्वदा मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही नियंत्रित और नियमित नहीं होते हैं, अपितु परिस्थितियां उसमें परिवर्तन करती हैं। अतः आर्थिक विषमता या अनिश्चितता की स्थिति इन्हीं आवेगों को एक भिन्न रूप प्रदान करेगी, जो बहुत हद तक समाज के और स्वयं मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक हो सकता है।

हम केवल भविष्य के गर्भ में परिस्थितियों को नहीं छोड़ सकते हैं, क्योंकि तब भविष्य भी उज्ज्वल नहीं होगा। परिस्थितियों पर विचार न कर हम आवेगों या बल–प्रयोग को ही दोषी ठहराने लगते हैं, जबकि अम्बेडकर का मानना है कि बल प्रयोग के औचित्य से अधिक महत्व हिंसा के औचित्य सिद्ध करने का है। बल प्रयोग स्वाभाविक भी है और जीवन शक्ति भी। इसके बिना कोई भी आयोजना सम्भव नहीं है। तो औचित्य हिंसा का सिद्ध करना है, जिसका तात्पर्य है कि अमुक साध्य को सिद्ध करने के लिए हिंसा से भिन्न कोई भी साधन समुचित नहीं था। और यह साध्य समाज के हित के लिए आवश्यक था।

अम्बेडकर कहते हैं कि साध्य साधन का औचित्य सिद्ध करता है इस लोकोक्ति में एक ऐसा अति गहन सत्य निहित है, जिसे केवल इसलिए विकृत किया जाता है कि उसे गलत समझा जाता है। इसके विपरीत विचार यह है कि साधन ही साध्य का औचित्य सिद्ध करता है। कठिनाई यह है कि किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए एक बार जिन साधनों का हम प्रयोग करते हैं, उनके संचालन पर हम पर्याप्त नियंत्रण नहीं रख पाते हैं। कारण यह है कि एक बार हम जिन साधनों का प्रयोग करते हैं वे केवल हमारे इच्छित साध्यों को ही सिद्ध नहीं करते हैं, अपितु उनसे कई ऐसे साध्य सिद्ध होने की सम्भावना होती है, जो हानिकर हों।

किंतु साध्य सिद्धि के भावातिरेक या उन्माद में हम इच्छित साध्य को ही प्रश्रय और महत्व प्रदान करते हैं, अन्य साध्यों को उपेक्षित कर देते हैं। यह विशिष्टता और उपेक्षा का

दृष्टिकोण समाज में विषमता को जन्म देता है और उपेक्षित किए गये साध्यों के लाभ से समाज को वंचित कर देता है। यद्यपि व्यवहार में किसी एक साध्य को महत्व दिया जाना आवश्यक है, परन्तु अन्य साध्यों की बलि न चढ़ाई जाए, यह सावधानी आवश्यक है।

अम्बेडकर का मानना है कि यदि रोक न हो तो प्रत्येक आवेग सृजनात्मक कार्य करेगा ही। और इससे सृजित वस्तु का उपयोग आवेग से भिन्न बात है। यह उपयोग इन दो तथ्यों पर निर्भर है कि,

1. उत्पादन या सृजन का तरीका क्या है, फिर चाहे यह उत्पादन व्यक्ति करे या समाज,
2. उपयोग के तरीके पर, फिर चाहे उपयोग व्यक्ति करे या समाज।

'जिस वस्तु को सामूहिक प्रयासों से तैयार किया जाता है, उसके उपयोग पर कोई भी व्यक्ति अधिकार नहीं बना सकता है" (वही, पृ. 287) और यदि व्यक्ति के अस्तित्व या गरिमा से सम्बन्धित वस्तु है तो उसका उपभोग व्यक्ति करेगा। अतः जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तो सवाल केवल उत्पादन और उपभोग का होता है, आवेग का नहीं। (वही, पृ. 288) उपभोग सम्बन्धी यह विचार अम्बेडकर के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार में भी देखा जा सकता है, जिसमें उनका मानना है कि सम्पत्ति अपने आप में बुरी नहीं है, अपितु बुराई है उसके वितरण की विषमता। वैसे भी अर्थव्यवस्था, अर्थ यानि मूल्य से सम्बन्धित है, और यह उस परिस्थिति का विचार नहीं है जिसमें अपरिमित भूमि पर बिखरे रहवासी हैं, जिन्हें केवल शरीर की यानि अस्तित्व रक्षण की जरूरत को पूरा करना भर है।

संक्षिप्ततः और सारतः अम्बेडकर के आर्थिक विचारों के पीछे जो दार्शनिक विचार विद्यमान है उसमें यह स्पष्ट है कि अम्बेडकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता, और उस स्वतन्त्रता के लिए अपरिहार्य शर्तों की राजनीतिक गारंटी की बात करते हैं, और साथ ही यह भी सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं कि विषमताओं का निवारण कैसे हो। यद्यपि इन सबके लिए आवश्यक यही है कि हम सतत् 'हम भारत के लोग' बनने की ओर अग्रसर हों, जोकि हम हैं नहीं पर यदि प्रत्येक को अवसर की समता, विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और इन सबके लिए आधार बन्धुत्व की भावना प्राप्त करनी है तो हमें हम भारत के लोग बनना ही होगा, जिसे अम्बेडकर 'साथ रहने का संकल्प' से अभिव्यक्त करते हैं।

संदर्भ–ग्रंथ

1. अम्बेडकर, भीमराव. सम्पूर्ण वांग्मय, खण्ड 2. नई दिल्ली: डॉ.अम्बेडकर प्रतिष्ठान, 2013.
2. रसल, बर्ट्रेंड. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन. लंदन: जॉर्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, 1917.
3. रेनन,अर्नस्ट'व्हाट इस अ नेशन' http%//ucparis-fr/files/9313/6549/9943/What_is_a_Nation-pdf
4. सेन, अमर्त्य एवं ज्यां द्रेज. भारत एवं उसके विरोधाभास. अनुवाद– अशोक कुमार. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2018.

महामति प्राणनाथ और विश्व धर्म की अवधारणा

डॉ. ज्योति चौधरी
अतिथि विद्वान (दर्शनशास्त्र विभाग)
शा. कमलाराजा कन्या स्वशासी स्नातकोत्तर,
महाविद्यालय, ग्वालियर

धर्म आत्मा का परमात्मा से पुनर्मिलन है–योग है। धर्म का अंग्रेजी पर्याय 'रिलिजन शब्द 'Relegare' से बना है, जिसका अर्थ है फिर से जोड़ना। परन्तु धर्म जहाँ जोड़ने वाली शक्ति है, वहाँ यह विघटन और विनाश का कारण भी रहा है। मानव इतिहास में जितना रक्तपात, हिंसा और दंगे धर्म के नाम पर हुए है, उतना शायद किसी अन्य प्रश्न पर नहीं। महामति प्राणनाथ के काल में भी धार्मिक वैमनस्य और दंगों की प्रधानता थी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि कई सम्प्रदाय थे और उनमें सतत संघर्ष चलता था। केवल हिन्दु धर्म में ही सगुण, निर्गुण, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि विभिन्न सम्प्रदय थे–जिनमें बराबर संघर्ष की नौबत आती रहती थी। महामति ने कहा–

लड़ फिर के जुदे हुए, हिन्दू मुसलमान। और खलक केती कहूं, सब में लड़े गुमान।।[1]

जो कुछ कहया कतेब ने, सोई कहाया वेद। दोऊ बंदे एक साहब के, एक लड़त बिना पाए भेद।।[2]

महामति ने दोनों में निहित गफलत, कुरीति, अन्धविश्वास एवं गलत धारणाओं की आलोचना की। इसमें हिन्दु और मुसलमान दोनों उनके खिलाफ हो गए। उन्होंने कहा–

करे हिन्दू लड़ाई मुझसे और शरीयत मुसलमान। माया अहमद माशूक हक का, अब छोड़ो नहीं फुरकान।।[3]

परन्तु महामति ने उन पर क्रोध नहीं किया, बल्कि जिस प्रकार जीसस ने अपने शूली चढ़ाने वालों को भी क्षमादान देते हुए कहा था– हे पिता उन्हें माफ कर देना–वे अबोध है, वे नही जानते हैं कि वे क्या कर रहे है। उसी प्रकार महामति से भी पाया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आपस में झगड़ रहे है। वे रीति–रिवाजों और कर्मकांडो को ही धर्म मान रहे हैं और आध्यात्मिक अनुभव, जो धर्म प्रारंभ है– उसे भूल गए है। वे केवल भाषा और रीति–रिवाजों को लाकर झगड रहे है, अतएव उन्होंने किसी का पक्ष स्वीकार नहीं किया, बल्कि दोनों की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए दोनों को समान रूप से प्रबोध दिया। उनका लक्ष्य हिन्दू, मुसलमान आदि का झगड़ा मिटाकर विश्व–धर्म की स्थापना करना था–

बोली जुड़ी सबन की, और सबका जुड़ा। सब उरझे नाम जुड़े धर, पर मेरे तो कहना सबन।।[4]

करना सारा एक उस, हिन्दू, मुसलमान, धोखा सबका भाम के, कहूंगी सबका मान।।[5]

उनका आविर्भाव ही मानो संसार में फैले धार्मिक वैमनस्य, झगड़ो और भेद–भाव को मिटाने के निमित्त हुआ था। विश्व धर्म की स्थापना ही उनका अभीष्ट था–

सहिब आए इन जिमी, कारण करने तीन। सबका झगड़ा मेटके, या दुनिया या दीन।।[6]

धार्मिक कलह के कारण–

विश्व धर्म की स्थापना कैसे हो? इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि धार्मिक कलह

और वैमनस्य का कारण क्या है? महामति के अनुसार धर्मों के आपसी संघर्ष का मूल कारण है– अज्ञान और अहंकार। उन्होंने कहा–

मायना ऊपर का सर्वो लिखा और लिया अहंकार। फिरके फिरे सब हक से, बंधे जाएं कतार।।[7]

अज्ञान और अहंकार मिलकर ही सम्प्रदाय बनाते हैं और संकुचितता और साम्प्रदायिकता को जन्म देते हैं। अज्ञान की स्थिति में व्यक्ति सत्य से अपरिचित रहता है, फलस्वरूप नए शब्दों को पकड़ लेता है। वह शब्दों के गुह्यार्थ या निहितार्थ को ग्रहण नहीं करता, बल्कि उनके स्थूल अर्थ को ग्रहण करता है जो प्रायः अभिप्रेत अर्थ से उल्टा होता है। इस प्रकार व्यक्ति शास्त्रीयता में उलझ जाता है। हिन्दू मानते है कि वेदों में जो कहा है, वही सत्य है। ईसाई कहते है कि बाइबिल में जो कहा है यही सत्य है। मुसलमान मानते है कि कुरान में जो कहा है, वही परम सत्य है। इस प्रकार विभिन्न धर्मावलंबी केवल भाषा में ही उलझकर रह जाते है, वे सत्य को खो देते है और भाषा को लेकर ही झगड़ने लगते है:–

बाकी तो वेद कतेब थे, दोऊदेत है साथ। अंधर बोउ के गफलत, लड़त वास्ते भाष।।[8]

अज्ञान की स्थिति मे हम नाम–रूप को ही सत्य मान लेते है और परमात्मा क सार को खो देते है। जो अनाम, अनीह और असल है, उनको कुछ नाम और रूप दे देते है और नाम और रूप को लेकर झगड़ पड़ते है। हम भूल जाते हैं कि विभिन्न नामों और रूपों में जानी जाने वाली सत्ता एक ही है।

धार्मिक वैमनस्य का दूसरा कारण है अहंकार। अहंकार अज्ञान की ही संतान है। अहंकार के कारण हर धर्मावलंबी मानते है कि उनका ही धर्म सर्वोत्तम है और बाकी धर्मो से कोई साम्य नही है। धर्म परिवर्तन के पीछे भी यही मनोवृत्ति कार्य करती है। जब हम दूसरों को अपने धर्म में परिवर्तित करना चाहते है, तो हम यही मानते रहते हैं कि हमारा धर्म ही सर्वोत्तम है– वही मुक्ति का मार्ग है, जबकि दूसरे लोग अज्ञानी है। एक धर्म को दूसरे धर्म से तोड़ते हुए हम यह भूल जाते है कि मूलतः सभी एक ही हैं। महामति ने कहा हैं–

ब्राह्मण कहे हम अत्तम, मुसलमान कहे हम पाक।
बोऊ मुठी एक ठोर को, एक राख दूजी खाक।।[9]

विश्व धर्म का स्वरूप–

विश्वधर्म क्या है? इसे समझने के लिए यह जानना सहायक होगा कि वह क्या है–

- विश्व धर्म सभी धर्मो का अंत कर किसी एक धर्म की स्थापना करना नहीं हैं।
- विश्वधर्म समाहरण भी नहीं है। अर्थात् यह विभिन्न धर्मो से कुछ अच्छी बातों को लेकर एक धर्म विशेष का निर्माण करना नहीं चाहता।
- विश्वधर्म सभी धर्मों को जोड़कर एक धर्म का निर्माण करना भी नही है, क्योंकि न तो वह संभव है और न ही काम्य ही।
- विश्वधर्म अन्य धर्मो से पृथक कोई धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसई धर्म और विश्व धर्म इस प्रकार की अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता।
- विश्वधर्म किसी भी धर्म विशेष को चाहे वह हिन्दू धर्म हो या मुसलमान या ईसाई, सत्य और ज्ञान का एकाधिकार देना भी नहीं है।

– विश्वधर्म सभी लोगों पर एक विश्वास, एक मिथक और एक कर्मकांड थोपना भी नहीं है, क्योंकि व्यक्ति–भेद से रूचि–भेद में अंतर होता ही है।

तब प्रश्न है कि विश्वधर्म क्या है? संक्षेप में, विश्वधर्म सभी धर्मों के सारतत्व को मानने और तद्रूप जीवन जीने में है। सारे नाम–भेद रूपात्मक है। सार में कोई भेद नहीं है। साक्ष्य एक है परमात्मा एक है। इस कारण धर्म–जो परमात्मा का ज्ञान और उसके प्रति प्रेम है, वह भी एक है। सम्प्रदाय भले ही अलग–अलग हो, लेकिन धर्म एक है। सम्प्रदाय धर्म नहीं है। सम्प्रदाय शरीर है और धर्म आत्मा। शरीर नाम रूप की दृष्टि से भले ही भिन्न हो, परन्तु आत्मा के तल पर कोई भिन्नता नहीं होती। महामति जी ने कहा है–

जुदे जुदे नामें गावहीं, जुदे जुदे भेख अनेक। जिन कोई झगड़ो आप में, धनी सबों का एक।।
नाम सारों जुदे धरे, लई सबों जुदी रसम। सब में उम्मत और दुनिया, सोई खुदा सोई ब्रह्म।।

विश्वधर्म की स्थापना के सूत्र–

विश्वधर्म की स्थापना कैसे हो? इसका क्या उपाय हैं? इसके लिये महामति प्राणनाथ ने निम्न सूत्र दिया है–

1. सत्यानुभव और स्वानुभव:–

धर्म के सार को पहचाना सत्यानुभव और स्वानुभव द्वारा ही संभव है। सत्य के अनुभव से ही संकुचिताएं मिटती है। अज्ञान और भ्रम का निराकरण होता है। एकमात्र परमात्मा के अनुभव से ही अहंकार का विनाश हो सकता है। परमात्मा का बोध होते हैं। 'मैं' की सत्ता स्वयं विलीन हो जाती है और तब केवल परमात्मा रह जाता है।

जब लगी मे सुपने मिन, नाहीं खसम पेहेचान। तब लग मैं सिर अपने, बोझ लिया है तान।।
अब खसम स्वाद की सुध परी, और सुध परी हुकम। तब मैं में जरा न रही, मैं बैठी तले कदम।।

अहंकार मिटते ही मेरा धर्म नहीं रह जाता। तब व्यक्ति केवल धर्म का होता है। जिसका स्वरूप विश्वजनीन है। उस समय हृदय में कोई बैर नहीं रहता– अतएव सभी धर्म का सार एक ही होता है–

एक दीन तब होवसी, जब साफ होवें दिल। एक हक बिना न होवहीं जो खोदे तबक आवे मिल।।

साथ ही नाम रूप का भेद तभी तक रहना है जब तक परमात्मा का अनुभव नहीं होता। जब परमात्मा का बोध होता है तो सभी नामों में, सभी अंगों में मात्र परमात्मा ही दृष्टिगत होता है। और तब व्यक्ति सभी नाम रूप से परे माना जाता है और यह पहचान ही विश्वधर्म का मूल बनती है–

जब भेष ऊपर के, ए सब छत को जहान। जो न्यारा म्याहें बाहर से, तुम तासों करो पहचान।।

2. शास्त्रों का गूढ़ार्थ ग्रहण करना:–धार्मिक वैमनस्य का कारण चूंकि भाषागत भेद को पकड़ लेना है, इसलिये मानते हैं कि भाषागत भेद को भूलकर सत्य को समझना और शास्त्रों का गूढ़ार्थ ग्रहण करना नितांत आवश्यक है–

अर्थ अंदर का जिन लिया, मायने पहचाने तिन। खासों की एही बंदगी, ऐ जाने मोमिन दिल वेलन।।

प्रायः शास्त्रों में शब्द तो परमात्मा द्वारा प्रतिबोधित होते है परन्तु उनमें अर्थ मेरा और आपका होता है। अतएव ईसा और मुहम्मद का झगड़ा वास्तव में उनका झगड़ा नही है बल्कि

आपका और मेरा झगड़ा है– जो हमसे और उनके नाम से लड़ रहे है। महामति ने कहा–

पढ़ पढ़ वेद कतेब को, पर हुआ न दिल रोसन। अपनी अपनी खोजिया, पाया नहीं खुदाय।।

वास्तव में ईसा, मुहम्मद और बुद्ध का ज्ञान एक ही है–

मोहम्मद, ईसा, बुध जी का, तीनों का एक इलम। हक नहीं बह्माण्ड मे, ए पैया जिनके हुकम।।

यही कारण है कि महामति ने सभी धर्म ग्रन्थों में जो संकेत दिए गए है– उन संकेतों के अभिप्रायों और इशारों को खोलने की चेष्टा की, जिससे सभी लोग धर्म केसार को समझे और विश्वधर्म की स्थापना हो सके।

वेदांत, गीता भागवत, सैयां इसारतां सब खोल। मगज मायने जाहिर किए, माहें गुझ हते जो बोल।।[15]

अंधीर–जंझर तोरेत, चौथी को कुरकाल। एक मायने मगज गुझ थे, जो जाहिर किए बयान।।

खुलासा नामक ग्रन्थ में महामति ने निरसार से दिखया है कि वेद और अलग–अलग भाषा में कही गई है।

3. जितने मत हैं उतने पथ है:–विभिन्न धर्म वस्तुतः विभिन्न पथ है, जिनसे व्यक्ति परमात्मा तक महुँच सकता है। रूचि में प्रस्ताव–भेद ही, परन्तु गन्तव्य सभी का एक ही है और वह है– परमात्मा। मान खुदा की ही बंदगी है। जो व्यक्ति सभी धर्मां में तारतम्य को देखता है– उनमें सहज ही सहज ही समझदारी आती है। वही विश्वधर्म की स्थापना का मूलमंत्र है। परमात्मा अस्तित्व की एकता है जो उसे पहचान लेता है, वह सभी के प्रति उदार और सहिष्णु हो जाता है– उसका सभी के प्रति मैत्री भाव होता है।

करना दीदार हक का, एही मोमनो लाम। पाती पीवना दोस्ती हक की–इनो एही सुख आराम।।[16]

महामति बोध और प्रेम को यद्यपि एक मानते हैं फिर भी, वे बोध की एकता से अधिक महत्व प्रेम की एकता को देते है। उनके अनुसार प्रेम में अहंकार विद्वान सहज ही हो जाता हैं और साथ ही, एकता की उपलब्धि भी सहज ही हो जाती है। प्रेम ही जोड़ने वाली कड़ी है। वह सारा भेदभाव मिटाकर अद्वैत या वोहत्त में प्रतिष्ठित करता है। प्रेम में मैं ओर तू का भेद सहज ही मिट जाता है–

मरसिक मासूक दो अंग, दोऊ इसके एक। ते आसिक मासूक के दिल को, क्यों न कहे गुझ विवेक।।

वस्तुतः इश्क और इल्म प्रेम और ज्ञान ही सच्च मोमिनों की न्यामत है–एक एकता लाता है और दूसरा मरमधाम का बोध देता है। अतएव ज्ञान और प्रेम ही विश्वधर्म का आधार है।

एक इस्क दूजा इलम, ऐ मोमनों ग्यामत।
इस्क गरक बाहेवस में, इलमें हक सरस लज्जत।।

महामति का आर्श भी ऋग्वेद के ''सगच्छत्दव सगदध्व सगामनासि जानताम' की भांति–

छाड गमान सब मिलसो, ए जा सकल जहान।
जत पात न भात काइ, एक खान पान एक गान।।[17]

स्पष्ट है कहत कि, विश्वधर्मा से महामति का मतलव धर्म के मर्म को जानना–अपने धर्म में ही सार्वभौम सत्य को पहचानना और सभी के प्रति प्रेम रखना हैं वे धर्म परिवर्तन जो

बलात किए जाते हैं, उनके खिलाफ थे। वे मानते थे कि जब व्यक्ति धर्म के मर्म को जान जाएँगे तो साम्प्रदायिकता से मुक्त हो जायेगा। वे हिन्दू या मुसलमान किसी विशेष धर्म के नही, बल्कि धर्म मात्र के होंगे और यही विश्व धर्म का स्वरूप होगा।

संदर्भ सुची–

1 खुलासा, प्र0 10,/10

2 खुलासा, प्र0 12/42

3 जागनी, अंक–4, नवम्बर 1978 प0 17

4 सनध, प्र0 1/14

5 सनध, प्र0 3/3

6 खुलासा, प्र0 13/96

7 खुलासा, प्र0 10/11

8 खुलासा प्र0 12/14

9 खुलासा प्र0 12/38

10 सनथ, प्र0 40/42

11 जागनो, अक–4, नवम्बर 1978 प्र0 21

12 वही

13 खिलवत, प्र0 3/43,44

14 खुलासा, प्र0 13/86

15 जगनो, अक–4, नवम्बर 1978 प्र0 22

16 वही

श्री अरविन्द का राजनैतिक विचार और वर्तमान के लिए सन्देशः एक दार्शनिक अनुशीलन

प्रियंका यादव
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक संस्कृति होती है और वह उसी से संचालित होती है। उस राष्ट्र में रहने वाले लोग उस प्रक्रिया का पालन करते हुए अपने जीवन का निर्वहन करते है यह संस्कृति ही उस देश या राष्ट्र को हमेशा जीवन्त बनाए रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। भारत एक प्राचीन और सनातन तथा आध्यात्मिक देश होने के कारण दूसरी अपनी एक संस्कृति विरासत है और इन्हीं संस्कृतिक जीवन मूल्यों पर भारत टिका है और आज भी जीवन्त है। समकालीन आधुनिक दर्शन में अनेक महापुरूषों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया और इस देश की विरासत एवं संस्कृति को संजोकर रखने का प्रयास किया इसी कड़ी में श्री अरविन्द भारतीय राष्ट्रवाद के महानतम सन्देहवाहक और भारतीय अध्यात्मवाद के महानतम व्यक्तित्व के रूप मे सामने आये। श्री अरविन्द अपने राजनैतिक विचार धारा मानव एकता के आदर्शों द्वारा विश्वबंधुत्व की जो कल्पना की है वह आधुनिक समय में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो के समाधान प्रस्तुत करते है। श्री अरविन्द एक आध्यात्मिक राजनीतिक विचारक है और उनके विचार आध्यात्म के साथ गहराई से जुड़े है। उन्होंने एक आध्यात्मिक राष्ट्र का चरित्र प्रस्तुत किया है।

श्री अरविन्द के विचारों के उपादेयता को वर्तमान भारत के लिए प्रतिपादित करने का प्रयास इस लेख में किया गया है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार श्री अरविन्द के विचारों का अनुसरण करके समाज व राष्ट्र को आध्यात्मिकता के पथ पर लाया जा सकता है।

वास्तव में मनुष्य जाति के लिए उसके अपने सामाजिक और सामूहिक जीवन की अपेक्षा और कोई वस्तु अधिक अस्पष्ट या कम समझने में आने वाली नहीं है। चाहे यह अस्पष्टता उस शक्ति के बारे में हो जो उसे चलाती है या उस उद्देश्य के बारे में जिसकी ओर वह बढ़ रही है। इसमें समाजशास्त्र हमें कुछ सहायता नही पहुँचाता, क्योंकि वह केवल अतीत का तथा उन अवस्थाओं का सामान्य विवरण देता है जिनके कारण जातियाँ अपना अस्तित्व रख पायी है। इस संबंध मे इतिहास भी हमें कुछ नहीं सिखाता, यह घटनाओं और व्यक्तियों का मिश्रित प्रवाह है, या फिर परिवर्तनशील समस्याओं को दिखाने वाली। इस सब परिवर्तन तथा काल–प्रवाह में मनुष्य–जीवन के निरन्तर आगे बढ़ते रहने का वास्तविक अर्थ हम समझ नहीं पाते है। जो समझ पाते है वे केवल प्रचलित या घुमफिरकर आने वाले वर्हिदृश्य, सरल सिद्धांत और अधूरे विचार ही होते है। हम जनवृत्त, राष्ट्रतन्त्र और स्वच्छंदतन्त्र, समूहवाद और व्यक्तिवाद, साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद, राज्य और समाज, पूँजीवाद और श्रमवाद भी बहुत चर्चा कर लेते है।

हम उतावले ढंग के सिद्धान्त बना लेते है, एकांगी प्रणालियां गढ़ लेते है। आज जिनकी बलपूर्वक घोषणा की जाती है, उन्हीं का विवश होकर त्याग करना पड़ता है। हम उन पक्षों और उत्साहपूर्ण आदर्शों का समर्थन करते है जिनकी विजय के कुछ समय बाद ही हमारा उनके लिए मोह भंग हो जाता है। इस प्रकार से देखा जाए तो मनुष्य का स्वभाव ही कुछ इसी तरह का है। और इस कारण वह प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे समस्या को झेला है। मेरे शोध का विषय भी कुछ इसी प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना है। जिसमें श्री अरविन्द के विचार, सिद्धान्त एवं मार्गदर्शन को दिखाते हुए स्वतन्त्र भारत में उनके विचार की क्या आवश्यकता है और किन–किन रूपों में उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्व अपने सिद्धान्त एवं विचारों से अपने दार्शनिक विचार को प्रस्तुत किया। आज की परिस्थिति में राष्ट्रवाद, बहुसंस्कृतिवाद एवं पूंजीवाद जैसे अनेक प्रचलित विचारधाराओं में अनेक समस्या है और इसका समाधान अपूर्ण मानवों द्वारा पूर्ण समाधान की स्थापना सम्भव नहीं है। अतः आर्थिक क्षेत्र ये कुछ फेरबदल नैतिकता पर कुछ विचार–विमर्श मानवतावाद की किसी आँधी या किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना से मानव–एकता स्वप्न पूर्ति असम्भव है। श्री अरविन्द अपने राजनीतिक विचार के माध्यम से आध्यात्मिक राज्यवाद की स्थापना करते है।

श्री अरविन्द का राजनीति विचार राष्ट्रवाद, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानव की एकता को आध्यात्मिक आधार प्रदान किया। उन्होंने राष्ट्रवाद को दैवीय आधार पर प्रतिपादित किया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नई जान फूँकी। मानव एकता के आदर्श द्वारा विश्वबंधुत्व की जो कल्पना की है, वह आधुनिक समय में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के समाधान का उचित उपाय है।

इस प्रकार श्री अरविन्द की राजनीति एक योगी की राजनीति थी, एक राजनीतिज्ञ की नहीं। उनके राजनीतिक चिन्तन का सुदृढ़ आधार उनके गहरे आध्यात्मिक विश्वासों में निहित है वे भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की कामना केवल भारत के हित की दृष्टि से नहीं करते थे बल्कि उनकी इच्छा थी कि भारत स्वतन्त्र होकर संसार के आध्यात्मिकता में पुनः से सच्चा योगदान दे सके और मानवता के आध्यात्मिक विकास का पथ प्रशस्त्र कर सके। इस दृष्टि से इनका चिन्तन सर्वव्यापी तथा सार्वभौमिक है। उन्होंने पश्चिम और पूर्व के विचार का जो समन्वय किया, वह उनकी राजनीतिक दर्शन की सबसे बड़ी देन मानी जाती है।

श्री अरविन्द घोष के राजनीतिक चिन्तन की सबसे बड़ी देन उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक नए रूप में पेश किया। राष्ट्रीयता केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है बल्कि एक धर्म है जो ईश्वर–प्रदत्त है। राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमें जीना है। बनने के लिए, इस धर्म को स्वीकार करने के लिए हमें इसे धार्मिक भावना से करना होगा।

मानवता को आध्यात्मिक धर्म भविष्य की आशा है। इस धर्म से हमारा मतलब वह धर्म नहीं जिसे साधारण लोग एक सार्वभौम धर्म, प्रणाली मत या बौद्धिक विश्वास, सिद्धान्त एवं वाह्य विधि कहते है। मनुष्य जाति इन साधनों द्वारा एकता प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुकी है परन्तु

उसके हाथ असफलता नहीं लगी वह असफलता की अधिकारी भी थी, कारण, एक ऐसी सार्वभौम धार्मिक पद्धति हो भी नहीं सकती जो मानसिक विश्वास और प्रणिक रूप से एक हो।

आंतरिक भावना अवश्यक है, किन्तु अन्य सबसे अधिक आध्यात्मिक जीवन अपनी आत्म अभिव्यक्ति तथा विकास के साधनों में स्वतन्त्रता और विविधता पर आग्रह करता है। मानव जाति और मानव प्राणी ही ऐसे साधन है जिनके द्वारा वह क्रमशः यहा अपने–आपको प्रकट करेगी। इसका अर्थ यह है कि इस ज्ञान को जीवन में चरितार्थ करके पृथ्वी पर इस दिव्य आत्मा का राज्य स्थापित करने के लिए अधिकाधिक प्रयत्न किये जाए। हमारे अन्दर इसका विकास होने से अन्य साथी मनुष्यों के साथ एक तत्व की भावना हमारे समस्त जीवन का प्रमुख सिद्धान्त बन जाएगी। परन्तु मनुष्य जाति भी उच्चतर आशा इसमें है कि इस सत्य की संख्या बढ़ती जाए जिससे कि जब मनुष्य का मन अपनी यांत्रिक प्रवृति से मुक्त होने के लिए तैयार हो जाए– यह तभी होगा जब उसको ज्ञान होगा की सब यांत्रिक समाधान अस्थायी और निराशाजनक है तो आत्मा का सत्य प्रकट हो सके और मनुष्य जाति को उसकी सर्वोच्च समवनीय प्रसन्नता और पूर्णता का मार्ग दिखा सके।

अतः सम्पूर्ण समाज का उद्देश्य यह होना चाहिए कि व्यक्ति–व्यक्ति को जीवन और विकास की ऐसी स्थितियाँ उपलब्ध हो, जिनसे व्यक्ति–कुछ अलग व्यक्ति या वर्ग या विशेषाधिकार प्राप्त जाति नहीं अपितु हर व्यक्ति अपनी अपनी क्षमता के अनुसार और जाति अपने व्यक्तियों के विकास के द्वारा इस दिव्य पूर्णता की ओर प्रगति कर सकें।

श्री अरविन्द का मानना है कि मानव जाति के आध्यात्मिक जागरण में भारत को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। ऐसा तभी सम्भव है जब उसे स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी। पूर्ण स्वराज ही सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य हो सकता है, श्री अरविन्द के लिए राष्ट्रवाद एक दिव्य सन्देश या जिसका प्रचार उससे विश्वस्तर पर करने की बात की है ताकि सम्पूर्ण मानव जाति को फायदा हो। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण मानव जगति के कल्याण का बेड़ा उठाने के लिए सबसे पहले स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त करने पर जोर दिया है। उन्होंने अंग्रेजो के अधीन रहकर स्वतन्त्र रहने को निराधार बताया। श्री अरविन्द का विचार था कि मानव जाति के आध्यात्मिक जागरण में भारत को अनिवार्य भूमिका निभानी चाहिए उन्हें समस्त भूखण्ड को एक दिव्य संदेश देना है। उनके अनुसार स्वराज एक आवश्यक परिस्थिति है, क्योंकि बिना स्वराज प्राप्ति के भारत अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता इसलिए भारत का स्वतन्त्र होना सिर्फ भारत के नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के हित में है।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि स्वदेशी स्वराज देश के लिए एक आध्यात्मिक उद्देश्य की उपलब्धि है। वे ऐसे धारणा और पाश्चात्य की धारणा में यह अन्तर है कि पश्चिम में स्वराज्य को केवल राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन माना, उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता का पर्याय स्वीकार किया, किन्तु अरविन्द घोष स्वयं की स्वराज भी धारण को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

"एक यूरोपीय आदर्श के रूप में 'स्वराज' जो आत्म दृढ़ कथन के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता है, यह धारणा भारत को जागृत नहीं करेगी। भारत के लिए सच्चे स्वराज का अर्थ

है आधुनिक परिस्थितियों के अन्तर्गत भारत के प्राचीन जीवन का सम्पादन, राष्ट्रीय महत्ता के सतयुग की वापसी, संसार में शिक्षक एवं पथप्रदर्शक की अपनी महान भूमिका का पुनःप्रारम्भ भी आत्म मुक्ति। अर्थात् उनके विचारों का तात्पर्य यह है कि भारत स्वराज को केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता नही मानता, उनके लिए स्वराज राष्ट्रीय अस्तित्व के उच्च एवं उदात्त उद्देश्यों तक पहुँचाने का सोपान है।

श्री अरविन्द की यह धारणा थी कि स्वराज की प्राप्ति शान्तिपूर्ण साधनों से नहीं हो सकती है, इस आदर्श को केवल हिंसात्मक साधनों से ही प्राप्त किया जा सकता है। अरविन्द का हिंसात्मक साधन था– निष्क्रिय प्रतिरोध, इसके दो अर्थ है देश के सरकार के साथ कुछ मामलों में हम सहयोग नही करेगे। जब तक यह हमें हमारे अधिकार प्रदान नहीं करती। दूसरी, यदि हमारा उत्पीड़न किया जाता है, यदि हमारे ऊपर दमनरूपी हल चलाया जाता है, हम उसका प्रतिकार हिंसा से नहीं अपितु दुःख भोग करके निष्क्रिय प्रतिरोध करके तथा कानूनी साधनों से करेंगे। अर्थात् सभी बातों से भारत की आध्यात्मिक और संस्कृति के जिस कलात्मक स्वरूप का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है इसका उत्कृष्ट स्वरूप श्री अरविन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवादी विचारधारा एवं संस्कृति दर्शन में यथोचित रूप से स्पष्ट होता है। यही उनकी संस्कृति व्याख्या भी संजीवनी शक्ति है और इस देश के लिए अमर संदेश है।

श्री अरविन्द अपने इस आध्यात्मिक विचारधारा के माध्यम से आधुनिक भारत को सन्देश देना चाहते है जो सिर्फ आज ही नही भविष्य के हर पड़ाव में उपयोगी साबित होगा।

श्री अरविन्द कहते है कि आध्यात्मिकता भारतीय मानस की कुंजी है। अनंत की भावना उसके लिए अपनी चीज है। भारत प्रारम्भ से ही अपने तर्क प्रधान युग भी और बढ़ते हुए अंधकार के समय भी, इस बात का ध्यान रखा था कि केवल बाहरी दृष्टि से बाहरी समस्याओं का हल कर लेने से जीवन पूरा नहीं हो जाता। अरविन्द का कहना था कि मनुष्य अगर अपनी आन्तरिक शक्तियों को अपने संकल्प और ज्ञान को ठीक तरह काम में लाए तो उसके लिए कोई भी काम असम्भव नहीं है। वह ईश्वर को प्राप्त कर सकता है, उसके साथ एक हो सकता है।

अर्थात् आध्यात्मिकता अनैतिक नही है। व्यक्ति को आध्यात्मिक ऊँचाई तक पहुँचने के लिए नैतिक होना बहुत जरूरी है और उसके लिए स्वच्छ विचार और मन की जरूरत है। श्री अरविन्द ने इन कामों के लिए चाहे वो देश सेवा हो या समाज सेवा इन सबके लिए आध्यात्मिकता को सर्वोच्च उपाय बताया तथा सदियों पुरानी परम्पराओं का उदाहरण दिया। जिस प्रकार भारत प्राचीन भारत भी तुलना में किसी भी देश ने विज्ञान में इतनी प्रगति हासिल नहीं की थी। भारतीय मनीषियों ने गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्सा शल्य–चिकित्सा आदि अनेकानेक विषयों में हिन्दुस्तान ने और का पथ प्रदर्शन किया है।

इस विचार के साथ अरविन्द कहते है कि हम भारतीयों के लिए गम्भीरता से सोचना आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन, भारतीय ज्ञान शक्ति, भारतीय राष्ट्रत्व, भारतीय आध्यात्मिकता एवं भारतीय संस्कृति द्वारा मानवता के सामान्य जीवन में क्या भूमिका निभायी जा सकती है।

निष्कर्ष :

संस्कृति एवं सभ्यता प्रत्येक देश भी अपनी विरासत होती है। उनको सजोंकर रखना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होता है। कर्तव्य निर्वाहन के लिए या तो मनुष्य खुद अपना मार्ग बनाता है या किसी महापुरूष के मार्गदर्शन पालन करता है। श्री अरविन्द के विचारों तथा मार्गदर्शन का अनुसरण करते हुए उनके लेख को लिखा गया है। जिसमें आध्यात्मिक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सभी दृष्टियों से प्रसतुत किया गया है। जिसके माध्यम से भारत में सिर्फ राष्ट्रवाद ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक सोच, विरासत, धर्म सनातनी परम्परा को भी दिखाने का प्रयास किया गया है। श्री अरविन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का भारत को दुनिया के सामने एक अलग पहचान प्रदान करता है।

सन्दर्भ एवं ग्रन्थ सूची :

1. घोष, श्री अरविन्दः भारत एकता का आदर्श, श्री अरविन्द आश्रम पण्डिचेरी, 1950
2. वर्मा, डा0 श्याम बहादुरः श्री अरविन्द विचार दर्शन, 208 चावणी बाजार, अरविन्द प्रकाशन, दिल्ली – 6
3. प्रसाद सिंह, डा0 शिवः आर योगी श्री अरविन्द, लोक भारती प्रकाशन हाऊस पुस्तक प्रकाशन, कानपुर
4. दुबे, डॉ0 उमेश चन्द्र : श्री अरविन्द का संस्कृति दर्शन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
5. घोष, श्री अरविन्द : मानव से अति मानव की ओर, श्री अरविन्द आश्रम पण्डिचेरी, 1988
6. रविन्द्र : श्री अरविन्दः जीवन और दर्शन, श्री अरविन्द सोसायटी पण्डिचेरी, 1988

बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य : एक दार्शनिक विवेचन

पुष्पेन्द्र कुमार साकेत
शोधार्थी–दर्शनशास्त्र
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा

गौतम बुद्ध मानव जीवन के दुःखों से कातर, जीवन की क्षणभंगुरता से विकल, चिन्तित और भावुक मन से जीवन मार्ग की खोज में निकल कर परम शान्ति की अवस्था 'निर्वाण' का सन्देश देने वाले सिद्धार्थ, जिन्हें घोर तपस्या और साधना के पश्चात् 'ज्ञान' प्राप्त होने पर 'बुद्ध' कहा गया, वही बौद्ध धर्म के संस्थापक कहे जाते हैं। ईसाई तथा इस्लाम धर्म के निश्चित संस्थापकों की भाँति बौद्ध धर्म के भी निश्चित संस्थापक भगवान बुद्ध कहे जाते हैं। इनका जन्म हिमालय की तराई में कपिलवस्तु नामक स्थान में (लुम्बिनीबाग) वैशाखी पूर्णिमा के दिन (पिता राजा शुद्धोदन तथा माता माया देवी) 563 ई० पू० में हुआ था। राजा शुद्धोदन शाक्यवंशी क्षत्रियों के राजा थे। इनका राज्य नेपाल का दक्षिणी भाग था और उसकी राजधानी कपिलवस्तु नामक नगर था। बुद्ध के जन्म–काल का नाम सिद्धार्थ था परन्तु बाद में पारिवारिक नाम 'गौतम' हुआ। गौतम को अत्यन्त गुण– सम्पन्न राजपुत्र के रूप में बताया गया है। सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह यशोधरा से हुआ। उन्हें राहुल नामक पुत्र भी प्राप्त हुआ परन्तु उनकी बचपन की साधु–वृत्ति राजमहल के वैभव से आकर्षित नहीं हुयी। गौतम के जीवन में यही समय ऐसा था जबकि उन्होंने जीवन की नश्वरता, निस्सारता, क्षणिकता, व्याधि, जरा और मृत्यु पर गहनता से विचार किया। ऐसा वर्णन मिलता है कि एक दिन उन्होंने एक वृद्ध, एक रोगी, एक शव तथा एक सन्यासी को देखा। इन दृश्यों को देखने से उन्हें एक प्रेरणा मिली और यह निश्चय कर लेने का अवसर भी मिला कि संसार के बन्धनों से तथा अनन्त दुःखों से बचने का मार्ग ढूँढ लिया जाय। इसी निश्चय के साथ उन्होंने उसी रात अपने राजमहल, पत्नी यशोधरा तथा प्रिय पुत्र राहुल को सोता छोड़कर सुदूर वन में चले गये। यही गौतम का 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।

चार आर्य सत्य

बुद्ध को बोधि–प्राप्ति में चार आर्य–सत्य का प्रकाश मिला। उनके सारे उपदेश इन चार आर्य सत्यों में निहित हैं–

(1) संसार दुःखों से भरा हुआ है। (दुःख)
(2) दुःखों का कारण है। (दुःख समुदाय)
(3) दुःखों का समाप्त होना सम्भव है। (दुःख निरोध)
(4) दुःखों के अन्त का मार्ग है। (दुःख निरोध–मार्ग)

1. प्रथम आर्य सत्य : दुःख – बुद्ध को चार आर्य सत्यों में प्रथम सत्य का ज्ञान यह हुआ कि जीवन दुःखमय है–सर्वं दुःखम् इस संसार में जन्म लेना भी दुःख है, जरा (वृद्धावस्था) भी दुःख है, रोग–व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, जो प्रिय न लगे उससे मिलना भी दुःख है, प्रिय

लोगों से मिलकर बिछुड़ जाना भी दुःख है, इच्छा होने पर किसी वस्तु को प्राप्त न करना भी दुःख है। चिन्ता, भय, निराशा, शोक–संसार दुःखों से भरा हुआ है। यदि कहा जाय कि संसार में कुछ सुख भी तो हैं, इसके उत्तर में बुद्ध का कहना है कि उस सुख को प्राप्त करने में दुःख ही तो होता है। फिर सुखकर वस्तु के मिलने के बाद उसके खो जाने और नष्ट हो जाने का भय और चिन्ता होती है। फिर सांसारिक सुखों को दुःख इसलिए भी कहा जाएगा कि वे क्षणिक और नाशवान हैं। ऐसे क्षणिक और नाशवान सुख को दुख मानना बुद्धिमत्ता नहीं है। फिर सुख में रहते हुए भी मनुष्य को मृत्यु की चिन्ता और भय से दुःख रहता है। मृत्यु सर्वव्यापक है। संसार में कोई ऐसी जगह नहीं होगी जहाँ मृत्यु की पहुँच न हो। मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सतत् संघर्ष करना पड़ता है, जो महान दुःखदायी होता है। भगवान बुद्ध का यह सर्वविदित कथन दुःख की व्यापकता को ही सिद्ध करता है कि 'संसार में दुःखियों ने दुःख से इतने आँसू बहाये हैं कि सागर में जितना जल है उससे भी अधिक है।' ऐसे संसार में सुख आशा करना मूर्खता है।

बुद्ध के अनुसार संसार में सब कुछ क्षणिक है। यहाँ स्थायी कुछ भी नही है। जिसे सुख समझते हैं वह भी क्षण मात्र के लिये है। इस क्षणिक संसार में सुख की आशा ही दुःख है। जो आज है पलभर में नहीं रहेगा। वस्तु की क्षणिकता दुःख का कारण है।

प्रथम आर्य सत्य में बुद्ध के उदगार को देखकर कुछ लोग इस धर्म को निराशावादी कहते हैं। इसको सम्पूर्ण शिक्षा निराशावाद पर आधारित है। परन्तु इसका उत्तर यह बताकर दिया जा सकता है कि "दुःख को जीवन में परम तथ्य के रूप में नहीं लेना चाहिये। इसके नैराश्यवाद का यह अर्थ है कि जीवन दुःख और आपत्तियों से पूर्ण है, किन्तु वह स्वयं दुःखमय नहीं है। वरन केवल उस रूप में ही है जिस रूप में साधारणतया जीवन व्यतीत किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि इस सिद्धान्त में हमें यह आस दिखलाई जाती है कि दुःख का निर्वाण की अवस्था में पूर्णतया निवारण हो सकता है। यदि कोई चाहता है तो इस जीवन में ही प्राप्त है।" इसलिए कहा जाता है कि बौद्ध धर्म में निराशावाद प्रारम्भिक है न कि अन्तिम।

2. दूसरा आर्य सत्य– दुःखों का कारण है – 'दुःख समुदाय' –भगवान बुद्ध को दूसरे आर्य सत्य का ज्ञान हुआ कि दुःखों का कारण है। यह कारण अविद्या है अर्थात् दुःख का मूल कारण अविद्या है। अविद्या का अर्थ है आत्मा के वास्तविक रूप को न जानना। दुःख को सुख, नाशवान को अविनाशी तथा अनात्म को आत्मा समझना, यही अज्ञान है अज्ञान में ही मनुष्य एक स्थायी आत्म तत्व में विश्वास करता है। यहीं मनुष्य की मूल है। आत्मा पंचस्कन्धों का समुदाय माना गया है। अर्थात् रूप स्कन्ध (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, चार महाभूत तथा इनसे उत्पन्न सभी रूप), वेदना स्कन्ध, (सुख, दुःख, न सुख दुःख), संज्ञा स्कन्ध (गुणों के आधार पर वस्तु का नामकरण), संस्कार स्कन्ध (चेतना, राग द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ) और विज्ञान स्कन्ध (बाह्य वस्तु का ज्ञान और आन्तरिक अहं 'मैं' का ज्ञान) का संघात ही आत्मा है और यह अनित्य है। इसमें परिवर्तन होता रहता है। जब निर्वाण की अवस्था होती है तब इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने से और उसमें आसक्ति रखने से ही दुःख होता

है। मनुष्य को जो भी दुःख होते हैं वे किसी न किसी कारण से ही होते हैं। कारण से कार्य उत्पन्न होता है। बुद्ध कारण और कार्य की बारह कड़ियाँ बताते हैं और इन्हीं को दुःख का कारण बताते हैं। यह कार्य – कारण का सिद्धान्त है। इसी को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त कहा जाता है। इन कड़ियों का एक चक्र होता है। इसे 'भाव चक्र' भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'द्वादस निदान' भी है। इस कड़ी में एक छोर पर दुःख है तो दूसरे छोर पर अविद्या है।

बुद्ध बताते हैं कि दुःखो का मूल कारण अविद्या है। 'अविद्या' के कारण बुरी प्रवृत्तियाँ जागती हैं जिन्हें 'संस्कार' कहते हैं। संस्कार के कारण 'चेतना' जागती है जिसे 'विज्ञान' कहा गया है, विज्ञान के कारण गर्भ में शरीर बनता है, जिसे 'नाम रूप' कहते हैं। नाम रूप बनने के कारण अर्थात् शरीर बनने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन मिल कर 'षडायतन' बनता है। इन्द्रियों से वस्तु का सम्पर्क होने पर 'स्पर्श' होता है। स्पर्श होने पर इन्द्रिय सुख मिलेगा, जिसे 'वेदना' कहते हैं। स्पर्श से भोग की प्यास जगेगी जिसे 'तृष्णा' कहते हैं। तृष्णा के कारण वस्तु से लगाव रखने की प्रवृत्ति होगी जिसे 'उपादान' कहते हैं। वस्तु से लगाव रखने की प्रवृत्ति से अर्थात् उपादान से जन्म लेने की प्रवृत्ति होगी, जिसे 'भव' कहते हैं। भव से पुनः जन्म होगा, जिसे 'जाति' कहते हैं। जाति अर्थात् जन्म लेना ही दुःख है। इस प्रकार कारण रूप 'अविद्या' से दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है।

3. तीसरा आर्य सत्य है दुःखों का समाप्त होना संभव है– दुःख निरोध– बुद्ध को इस सत्य का भी ज्ञान हुआ कि इस दुःख का निवारण किया जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के आधार पर किसी कार्य का एक कारण होता है, तो निश्चित है कि कारण न रहे तो कार्य नही होगा। दुःख एक कार्य (घटना) है अतः इसका निवारण हो सकता है। द्वादशनिदान से स्पष्ट है की जीवन का कार्य (दुःख) है यह कार्य कारण की श्रृंखला से ही उत्पन्न होता है। इनमें से प्रथम कारण आत्मा के वास्तविक रूप के प्रति अज्ञान या अविद्या है। अर्थात् अविद्या के कारण ही मनुष्यों वस्तुओं के प्रति ममता, वासना या तृष्णा का उदय होता है और यही अतृप्त तृष्णा मृत्यु के बाद पुनः जन्म का कारण बनती है। यही आवागमन (मृत्यु–जन्म–मृत्यु–जन्म) का चक्र दुःख और इसी का अन्त करना चाहिए। यह दुःख निरोध है। इसका फल निर्वाण है। इस प्रकार निर्माण ही अविद्या का अन्त है। निर्वाण ही जन्म–मृत्यु का अन्त कहा जाता है। बौद्ध साहित्य में निर्वाण का अर्थ बुझा हुआ दीपक माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार दीपक से तेल और बत्ती समाप्त हो होती है तो दीपक का जलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य के भीतर तृष्णा के नाम से जीवन मृत्यु की क्रिया समाप्त हो जाती है। वेदनाएँ शान्त हो जाती हैं। निर्वाण शान्त अवस्था है। पुराने जन्म का क्षय हो जाता है। नए कर्म की उत्पत्ति नही होती। पुनर्जन्य की संभावना नष्ट हो जाती है। जब मनुष्य की इच्छा ही समाप्त हो जाती है तो काम वासना का लोप हो जाता है। मनुष्य बुझे हुए है की भाँति निर्वाण को प्राप्त करता है। सारांश यह है कि निर्वाण, राग–द्वेष, वासनाजन्य, इच्छा, तृष्णा का निरोध है। यहीं दुःख–निरोध है। बुद्ध ने बताया कि दुःखो का निरोध सभव है। इसका मार्ग भी है।

4. चौथा आर्य सत्य– दुःखों के अन्त का मार्ग है– "दुःख निरोध मार्ग"– बुद्ध का धर्म सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक है। निराशावादी नहीं आशावादी है। उन्होंने मनुष्य को असीम दुःखों के सागर से बाहर निकल जाने का मार्ग भी बतलाया है। सम्यक् ज्ञान ही दुःख निरोध का उपाय बताया है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। यदि आत्म तत्व का ज्ञान हो जाय तो इस ज्ञान से दुःख का भी नाश हो सकता है। अर्थात् दुःख से छुटकारा मिल सकता है। यह ज्ञान आत्म तत्व के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि मनुष्य संयम और साधना करे। इसके लिए बुद्ध ने सम्यक् चरित्र पर बल दिया है। चरित्र के लिए कठोर संयम और त्याग की आवश्यकता है। यहाँ भगवान बुद्ध अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा देते हैं। इस मार्ग में मनुष्य का जीवन चरित्र निर्माण की ओर ही बढ़ता है। यह मार्ग न बहुत कठोर है और न सरल। इसे 'मध्यम मार्ग कहा गया है। इसे मध्यम प्रतिपदा'' भी कहा गया है। स्वयं बुद्ध ने घोर तपस्या करने के पश्चात् ही यह अनुभव किया था कि आत्मज्ञान न बहुत घोर तपस्या से ही हो सकता है और न ही स्वतन्त्र योग वृत्ति से। इसके लिए संयमित जीवन और सम्यक चरित्र का निर्माण आवश्यक है। इसीलिए बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' के अनुसरण से बोधि को प्राप्त किया। इस मार्ग में संयम के प्रमुख अंग है सम्यक शील, सम्यक प्रज्ञा और सम्यक् समाधि। सम्यक् प्रज्ञा के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प हैं। सम्यक् शील में सम्यक् वाक, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम है और सम्यक् समाधि में सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि है।

इस प्रकार अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील तथा समाधि नामक त्रिरत्न में बांटा गया है। यही अष्टांगिक मार्ग ही श्रेष्ठ कहा गया है और इसी के अनुसरण से निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है।

अष्टांग मार्ग

बौद्ध धर्म में आचार (नैतिकता) निर्वाण (मोक्ष) के मार्ग –(अष्टांगिक मार्ग)– बुद्ध ने अपने चार आर्य सत्य में दुःखों के निरोध का उपाय भी बताया है। दुःख निरोध के लिए उन्होंने एक मार्ग निर्दिष्ट किया है, जिसे दुःख निरोध मार्ग कहा जाता है। इसी मार्ग से निर्वाण की प्राप्ति होती है। दुःख निरोध मार्ग को अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है, क्योंकि इसके आठ अंग हैं (1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् वाक, (4) सम्यक् कर्मान्त, (5) सम्यक् आजीविका (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् समाधि। इन आठों अंगों पर ध्यान देने से पता चलता है कि बौद्ध धर्म व्यक्ति के नैतिक जीवन और आहार व्यवहार पर ही बल देता है। इसमें प्रार्थना तथा अन्य कर्मकाण्डो को जैसा कि अन्य धर्मो में देखा जाता है, नही अपनाया गया है। इतना अवश्य है कि बाद के बौद्ध धर्म के विकास के साथ ही साथ कुछ धार्मिक क्रिया–कलापों, कर्मकाण्डों तथा पूजा के विधि–विधान विकास भी देखा जाता है। परन्तु मौलिक बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण मानववादी ही है और इसमें मानवीय आचरण तथा नैतिकता को विशेष महत्व दिया गया है। मनुष्य ही अपने आचरण और व्यवहार के कारण अपने दुःख का कारण होता है, अतः इन दुःखों से छूटने का उत्तरदायित्व भी उस पर है। नैतिक जीवन की शुद्धता, मन, वाणी, कर्म की पवित्रता, निर्वाण के लिये आवश्यक है। बुद्ध ने इसीलिए

अष्टांगिक मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है। उनका यह 'मार्ग मध्यम मार्ग' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मार्ग न तो जीवन में मनमाना वासनापूर्ण जीवन जीने का आग्रह करता है और न ही घोर तपस्या और कठोर कर्मकांडों तथा शारीरिक यातना सहन करने के लिए ही कहता है। अष्टांगिक मार्ग मध्य का मार्ग है। यह दोनों अतियों (अति कठोर तथा अति छूट, मनमाना कर्म) का खंडन करता है। यदि वासनापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं तो उससे आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती और यदि कठोर तपस्या और यातनापूर्ण साधना करते हैं तो उससे बुद्धि को दुर्बलता बढ़ती है। इस तथ्य का पता स्वयं बुद्ध ने अपने जीवन में चार आर्य सत्यों को प्राप्त करते समय ही लगा लिया था। एक अति का ज्ञान उन्हें गृहस्थ जीवन व्यतीत करते समय हो गया था और दूसरे अति का ज्ञान घोर तपस्या के समय हुआ था। सच्चा ज्ञान उन्हें दोनों अतियों के छोड़ने पर ही हुआ। अतः उनको मध्यम मार्ग का ज्ञान अष्टांगिक मार्ग के रूप में हुआ। इस मार्ग पर कोई भी निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है संन्यासी और गृहस्थ कोई भी इस मार्ग का अनुसरण कर सकता है। इस रूप में बौद्ध धर्म मानवतावादी धर्म है। यह सार्वभौमिक धर्म है अनीश्वरवादी होने के कारण यह किसी मत विशेष के घेरे से निकल कर मानवता की रक्षा का उपाय बताता है। इसीलिए कुछ लोगों ने बौद्ध धर्म को सार्वभौमिक धर्म मान लेने पर जोर दिया है।

बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या

(1) सम्यक् दृष्टि– बुद्ध के अनुसार सम्यक दृष्टि का अर्थ है चार आर्य सत्यों का स्पष्ट ज्ञान। इस में यह भी मिला हुआ है कि मनुष्य को प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि बुद्ध के उपदेशों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। संसार के विषय में जो मिथ्या दृष्टि है अर्थात् अवास्तविक को वास्तविक और वास्तविक को अवास्तविक, अनात्म को आत्मतत्व समझना ठीक नहीं है। सम्यक् दृष्टि होनी चाहिये, मिथ्या दृष्टि नहीं। बुद्ध की सम्यक् दृष्टि की तुलना महावीर स्वामी के सम्यक दर्शन में की जा सकती है यही बात वेदान्त में श्रद्धा के विषय में कही गयी है। अष्टांगिक मार्ग का यह प्रथम मार्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण ही स्पष्ट नहीं रहेगा तो वह आगे नहीं बढ़ सकता।

(2) सम्यक् संकल्प सम्यक् संकल्प का अर्थ सुविचारित निश्चय है, अर्थात् सम्यक् दृष्टि के पश्चात् हमारा मन शुद्ध वासनाओं से मुक्त होकर चार आर्य सत्यों का पालन करने का दृढ़ संकल्प या नीतिशास्त्र करे। साथ ही हमें यह भी संकल्प करना चाहिए कि ऐसी कोई क्रिया न करें जिस कई अशुभ कार्य हो। इसमें त्याग और परोपकार, अहिंसा आदि की भावना निहित है।

(3) सम्यक् वाक– हमारा संकल्प हमारी वाणी से अभिव्यक्त होता है। वाणी का संयम आवश्यक है। तभी हम अध्यात्म के पथ पर चल सकते हैं। उदाहरणार्थ– झूठ न बोलना चुगली न करना, कठोर शब्द न कहना, व्यर्थ की बाते न करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमारी वाणी अहितकर न हो, स्वार्थ की बाते न करें, क्षुद्र और तुच्छ विचारों को न सोचें न वाणी से प्रकट करें। वाणी संयम में सत्य और प्रिय वचन का उपयोग आवश्यक है। वाणी संयम किसी तपस्या से कम नही है। यही सम्यक् वाक् का अर्थ है।

(4) सम्यक् कर्मान्त– सम्यक् कर्मान्त का अर्थ है अशुभ कार्यों को न करना। तीन ऐसे कर्म है न करने के लिये कहा गया है– हिंसा, चोरी तथा इन्द्रिय भोग। सम्यक् कर्मान्त इन तीनो कर्मों का भावात्मक रूप होगा। अर्थात् अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय संयम करना ही सम्यक् कर्मान्त कहा गया है। न किये जाने वाले इन तीनों कर्मों से विरति (बचना) के अलावा दो ऐसे कर्म है जैसे झूठ न बोलना और मदिरा पान न करना, इनसे बचने के लिए कहा गया है। इन पाँचों कर्मों की विरति को 'पंचशील' कहा जाता है। इनको निषेधात्मक तथा भावात्मक रूपों में न करने तथा करने के लिए कहा गया है। ये पाँच इस प्रकार है–

1. प्राणातिपात विरति (हिंसा न करना),
2. अदवादान विरति (चोरी न करना),
3. काम मित्थ्याचार विरति (इन्द्रिय भोग न करना),
4. मृणवाद विरति (झूठ न बोलना), तथा
5. सुरा–मैरेय–प्रमाद–स्थान विरति (शराब के नशे और प्रमाद से बचना)।

भावात्मक रूप में कहा जाता है कि मनुष्य को अहिंसा, करुणा, सन्तोष इन्द्रिय संयम, विश्वसनीयता, ईमानदारी, एकाग्रता, नियन्त्रण, निग्रह, संयम आदि की आवश्यकता है।

(5) सम्यक् आजीव– सम्यक आजीव का अर्थ उचित साधनों से आजीविका का अर्जन करना। जिस मार्ग का निषेध किया गया है उससे आजीविका का अर्जन नहीं करना चाहिए। उचित मार्ग है कि किसी को कष्ट दिये, बिना हिंसा किये, जीविका का उपार्जन करना। निम्नलिखित साधनों से नहीं करना चाहिये क्योंकि उनको निषिद्ध माना गया है

1. सत्थ वणिज्जा (शस्त्र का व्यापार),
2. सत्त वणिज्जा (प्राणी का व्यापार),
3. मंस वणिज्जा (माँस का व्यापार),
4. मज्ज वाणिज्जा (मद्य का व्यापार), तथा
5. विसव वणिज्जा (विष का व्यापार)

(6) सम्यक् व्यायाम– सम्यक् व्यायाम का अर्थ ऐसे प्रयत्न या उपाय से है, जिससे शुभ विचारों को ग्रहण किया जा सके और अशुभ तथा बुरे विचारों का आना रुक जाय। इसके अन्तर्गत चार प्रकार के प्रयत्न आते हैं–

1. पहले से वर्तमान अशुभ विचारों का पूर्णतया त्याग करना,
2. नये अशुभ विचारों को मन में न आने देना,
3. मन को सदैव अच्छे विचारों से भरना, और
4. इन शुभ विचारों को बने रहने के लिये लगातार प्रयत्न करते रहना।

प्रयत्न से ही बुरे विचारों का त्याग तथा नये शुभ विचारों को ग्रहण किया जा सकता है। अशुभ विचार के परित्याग करने के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित पाँच उपायों को बतलाये है–

1. अपवित्र भावना का पवित्र भावना के ध्यान से अन्त करना।
2. अपवित्र भावना की बुराइयों को ध्यान करना, जिससे उनके प्रति अनाकर्षण हो और उनको न दुहराएँ।

3. यदि बुराइयों के ध्यान से अपवित्र वस्तु से ध्यान न हटे तो उस वस्तु से ही ध्यान हटा ली जाय।
4. अपवित्र विचारों का निर्मूलन करने का प्रयास
5. बलपूर्वक अशुभ विचारों को रोकना और मन को शुभ विचारों से भरना।

(7) सम्यक् स्मृति– सम्यक् स्मृति का अर्थ है आत्म–अनात्म के भेद को, वास्तविक – अवास्तविक के भेद को जानना और उसके स्वरूप के प्रति जागरूक रहना। मनुष्य को अपने शरीर, मन, संवेदना अर्थात् शरीर, भावना तथा मन तथा इनसे उत्पन्न विचारों के प्रति इसलिये सतर्क रहना चाहिए कि वे गलत मार्ग पर न जायें। सम्यक् स्मृति से मन राग और द्वेष से स्वतन्त्र हो जाता है तथा ध्यान की उच्च स्थिति पर पहुँचता है। मनुष्य को यह सदैव याद रखना चाहिए कि शरीर क्षणिक और विनाशशील है। वेदना को सुखात्मक, दुःखात्मक और दोनों समझना (उभयात्मक) चाहिए। चित्त सराग और विराग रूप है, ऐसा जानना चाहिए। धर्म को कामना, द्रोह आदि से रहित समझना चाहिए। इस प्रकार से समझने वालों को क्रमशः कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चित्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी कहते हैं। इस दृष्टि से सत्य का स्मरण करना ही सम्यक् स्मृति है।

(8) सम्यक् समाधि– सम्यक् स्मृति के अभ्यास के पश्चात् मनुष्य अष्टांगिक मार्ग की अन्तिम अवस्था तक पहुँच सकता है, वह अवस्था है सम्यक् समाधि। समाधि में निर्वाण चाहने वाला मनुष्य अपनी चित्त–वृत्तियों का पूर्ण निरोध कर लेता है। समाधि में चार अवस्थाएँ होती हैं। इसीलिए यह समाधि चार प्रकार की भी होती है। समाधि की पहली अवस्था में साधक तर्क–वितर्क में रहता है। उसे चार आर्य सत्यों का मनन करना पड़ता है। उसके मन में संशय भी होते हैं, वह उनका निराकरण करता रहता है। दूसरी अवस्था में साधक को आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा का भाव जग जाता है। तर्क–वितर्क समाप्त हो जाते हैं। आनन्द और शान्ति की अनुभूति होने लगती है। समाधि की तीसरी अवस्था में उदासीनता का भाव आता है, अर्थात् आनन्द और शान्ति के प्रति न लगाव न अलगाव रहता है। इससे तटस्थ रहना इस अवस्था की विशेषता है। फिर भी शारीरिक आराम की चेतना रहती है। चौथी अवस्था में शारीरिक आराम की चेतना भी समाप्त हो जाती है। इस अवस्था के आने पर साधक 'अर्हत' हो जाता है। इस अवस्था की विशेषता होती है कि साधक की चित्त–वृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है। सुख दुःख का निरोध होता है। सभी प्रकार के निरोधों के बाद दुःख–सुख से परे की यह अवस्था 'निर्वाण' की अवस्था है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. भारतीय दर्शन, नन्द किशोर देवशरण, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ 2004 पृ.165
2. भारतीय दर्शन, डॉ.राधाकृष्णन, पृ.56
3. भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा

गाँधी दर्शन के नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता

प्रो. श्रीकांत मिश्र
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
लाल बिहारी कुशवाहा
शोधार्थी (दर्शनशास्त्र)
अ.प्र.सिंह विश्वविद्यालय, रीवा(म0प्र0)

भारतीय दर्शन भारत का मौलिक चिंतन है, जिसके केंद्र में 'मोक्ष' है, यहाँ का चिन्तन मानव जीवन में किसी भी प्रकार के दुःख, कष्ट अथवा समस्या के निवारण से प्रारम्भ होता है। चिन्तन की इस प्रक्रिया में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत हमें तीन प्रकार की चिन्तन धारायें मिलती है– प्रथम, प्राचीन चिन्तनधारा जिसके अन्तर्गत वेद, वैदिक–औपनिषदिक दर्शन जैसे– न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, वेदांत–मीमांसा को रखा जाता है। द्वितीय, वेदों के विरोध में प्रारंभ हुए चिंतन जिसमें चार्वाक, जैन, बौद्ध आते हैं अर्थात नास्तिक दर्शन। और तृतीय, आधुनिक समकालीन चिंतन जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व नैतिक चिंतक जैसे– विवेकानंद, जे0 कृष्णमूर्ति, अरविंद, रविंद्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, अंबेडकर आदि का चिंतन है।

इस विभाजन के आधार पर गांधी दर्शन आधुनिक भारतीय दर्शन के अन्तर्गत आता है जो कि वेद तथा ईश्वर दोनों की सत्ता में विश्वास रखने के कारण आस्तिक एवं ईश्वरवादी दर्शन है।

महात्मा गांधी – परिचय –

गांधी जी का जन्म पोरबंदर की रियासत में 2 अक्तूबर, 1869 में हुआ था। उनके पिता करमचंद गांधी, पोरबंदर रियासत के दीवान थे और उनकी माँ का नाम पुतलीबाई था। गांधी जी अपने माता–पिता की चौथी संतान थे। मात्र 13 वर्ष की उम्र में गांधी जी का विवाह कस्तूरबा कपाड़िया से कर दिया गया। गांधी जी ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा राजकोट से प्राप्त की और बाद में वे वकालत की पढ़ाई करने के लिये लंदन चले गए। उल्लेखनीय है कि लंदन में ही उनके एक दोस्त ने उन्हें भगवद्गीता से परिचित कराया और इसका प्रभाव गांधी जी की अन्य गतिविधियों पर स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। वकालत की पढ़ाई के बाद जब गांधी भारत वापस लौटे तो उन्हें वकील के रूप में नौकरी प्राप्त करने में काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। वर्ष 1893 में दादा अब्दुल्ला (एक व्यापारी जिनका दक्षिण अफ्रीका में शिपिंग का व्यापार था) ने गांधी जी को दक्षिण अफ्रीका में मुकदमा लड़ने के लिये आमंत्रित किया, जिसे गांधी जी ने स्वीकार कर लिया और गांधी जी दक्षिण अफ्रीका के लिये रवाना हो गए। विदित है कि गांधी जी के इस निर्णय ने उनके राजनीतिक जीवन को काफी प्रभावित किया।

गांधी दर्शन में नैतिक मूल्यों का स्रोत –

वैदिक दर्शन –

गांधी ने वैदिक दर्शन के 'ऋत' अर्थात प्राकृतिक नियम को महत्व दिया है और उसे

प्राकृतिक व्यवस्था का अंग मानते हुए अपनाया । गांधी के नैतिक सिद्धांत योग दर्शन से प्रभावित हैं। गांधी ने स्पष्ट किया की योग के नियम अहिंसा के सबसे बड़े साधन है, बिना योग अहिंसा सम्भव नहीं।

जैन दर्शन –

जैन दर्शन मानवीय मूल्यों पर आधारित दर्शन है। जो नैतिकता को प्रमाणिकता के आधार पर अपनाने पर बल देता है। जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार जीव और कर्मों में से जब जीव सम्पूर्णतः अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त कर देता है तो वह स्वयं भगवान बन जाता है।महात्मा गांधी ने जैन के नैतिक सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्व दिया है। गांधी जैन दर्शन के पंचमहाव्रत के व्रतों यथा– सत्य, अहिंसा, अस्तेय अपररिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और अहिंसा को सर्वोपरि मानते थे।

बौद्ध दर्शन –

'दुःख से मुक्ति' बौद्ध धर्म का सदा से मुख्य ध्येय रहा है। कर्म, ध्यान एवं प्रज्ञा इसके साधन रहे हैं। गांधी ने बौद्ध दर्शन के पंचशील, आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण किया।

रास्किन बांड –

गांधी रास्किन बांउ के 'अन टू द लास्ट' पुस्तक से प्रभावित थे। इसी से प्रभावित होकर गांधी ने सर्वोदय सिद्धांत प्रतिपादित किया और समाज के आखिरी व्यक्ति के उत्थान को जीवन का उद्‌देश्य बनाया।

लियो टॉलस्टाय –

गांधी के जीवन पर लियो टॉलस्टाय के लेखन का विशेष प्रभाव पड़ा। 'रोटी के लिए श्रम का नियम' गांधी जी ने यहीं से प्रेरित होकर दिया। गांधी के 'सत्याग्रह' का आधार भी शांति और सविनय अवज्ञा ही था। गोपाल कृष्ण गोखले गांधी के राजनैतिक गुरु थे पर टॉलस्टॉय शायद उनके आध्यत्मिक गुरु थे। विचारों की इसी समानता ने दोनों को एक–दूसरे के करीब ला खड़ा किया.दोनों के बीच रिश्ते की शुरुआत टॉलस्टाय की किताब 'ईश्वर की सत्ता तुम्हारे अंदर ही हैं' से हुई इससे प्रभावित होकर उन्होंने एक अक्टूबर 1909 को टॉलस्टाय को पहला खत लिखा इसमें गांधी जी ने ट्रांसवाल, साउथ अफ्रीका में अपने द्वारा चलाये गए सविनय अवज्ञा आंदोलन, जिसको आम भाषा में 'सिविल डिसओबीडिएंस मूवमेंट' कहते हैं, का जिक्र किया। गांधी का आंदोलन टॉलस्टाय की विचारधारा से प्रभावित था।

महात्मा गाँधी की सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चिंतन की अवधारणा –

गांधी के सामाजिक दर्शन का प्रारम्भ उनकी धार्मिक भावना से उत्पन्न होता है वे कहते थे, कि ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है जिसे बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। उनके समस्त सामाजिक विचारों का आधार है समानमत। वे कहते है कि सब व्यक्ति समान है, क्योंकि सभी ईश्वर की संतान है, जैसे एक बाप के लिये अपने बच्चे में अन्तर करना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ईश्वर ने भी सबको समानता का दर्जा देकर भेजा है। जहाँ कही भी असमानता है वह मनुष्य की बनाई हुई है। एक व्यक्ति अगर दूसरों को जाति, धर्म, रंग, व्यवसाय क्षेत्र आदि के

आधार पर नीचा समझता है तो वह ईश्वर द्वारा निर्मित नियम का उल्लंघन करता है। यह उल्लंघन कोई भी कर सकता है, अमीर, बलशाली, राज्य आदि। आदर्श समाज की स्थापना तभी हो सकती है जब यह समस्त भेदभाव मिट जाये किंतु यह भाव तभी समाप्त होगा जब समाज की संरचना धर्म द्वारा अनुमोदित नैतिकता के द्वारा की जायेगी कानून बना देने मात्र से असमानता का भाव समाप्त नहीं हो सकता। जो राजनीति नैतिकता से निरपेक्ष होगी तथा जिसकी नीव शक्ति संगठन पर ही होगी वह समानता का भाव पैदा नहीं कर सकती। धर्म और राजनीति दो अलग-अलग वस्तुयें नहीं है धर्म के बिना राजनीति बेईमानी है और धर्म को प्रचलित पंथो से बाँधकर देखना अधर्म है। क्योंकि ईश्वर एक है, सबका धर्म भी एक होना चाहिये। जब इस भावना का उदय होगा समानता तभी आ सकती है। गाँधी जी का मानवतावाद जो उनके तत्व- मीमांसा, नीतिमीमांसा एवं धर्म मीमांसा मे परिलक्षित होता है, सर्वोदय की भावना पर आधारित है। सर्वोदय सामाजिक शब्द का अर्थ है सबका उदय, सब प्रकार के उदय, और सबके उदय हैं। सर्वोदय की भावना वेदों से भी उद्घोषित हुई है। "सर्वे भवन्तु सुखिनः में भी सर्वोदय का भाव छिपा है। आधुनिक युग में सर्वोदय का पहला प्रयोग गाँधी जी ने किया स्वतंत्रता की पहली शर्त सर्वोदय समाज की स्थापना थी। बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धांत में मिल ने उच्छेदन परिवर्तन किया और सुख के भावात्मक मापदण्ड को अस्वीकार कर गुणात्मक मापदण्ड को स्वीकार किया। मिल का उपयोगितावाद मानव के स्वार्थ के साथ परार्थ की भी भावना रखता है। सिजीवक ने "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को ही बुद्धिमतापूर्ण माना। इस प्रकार नीतिशास्त्र स्थूल स्वार्थवाद से सार्वभौम परार्थवाद की ओर बढ़ा। गाँधी ने इस विचार को और आगे बढ़ाया। वास्तव में इसका रूप ही परिवर्तित कर दिया। उनके अनुसार "जिस प्रकार 'स्व' से अधिकांश पर आया जा सकता है उसी प्रकार स्वयं से सर्व पर भी आया जा सकता है। इस प्रकार उपयोगितावाद सर्वोदय के अन्दर समाहित हो जाता है सर्वोदय विचार उसके भी आगे चला जाता है। इसकी दृष्टि त्याग और बलिदान की है। सर्वोदय विचार में हत्या और युद्ध को किसी भी स्थिति मे प्रोत्साहन नहीं मिलता है।" इस प्रकार में विश्वास करता है और आज विश्व के संकट की घड़ी में सर्वोदय ही वह अस्त्र है जिसका प्रयोग कर मानवता को हिंसक प्रवृत्तियों से मुक्ति मिल सकती है।

'सत्यमेव जयते नानृतं' भारतीय संस्कृति का अमर संदेश है जो गाँधी दर्शन में अपने मूलरूप से मुखरित हुआ है। सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। सत्य परमेश्वर है, ज्योति है और असत्य भ्रमजाल है, अन्धकार है। अहिंसात्मक डगर पर चलने से ही सत्य का साक्षात्कार होता है। गाँधी जी का दृढ़ विश्वास है कि शुद्ध साधन से ही पवित्र साध्य की प्राप्ति सम्भव है। उनके विचार में जैसा बीज वैसा वृक्ष जैसा साधन वैसा साध्य।

गाँधी की दृष्टि में राजनीति धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी, अतः उन्होंने राजनीति को शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये संघर्ष नहीं माना। उन्होंने कहा कि राजनीति तो लाखों पद-दलितों को सुन्दर जीवनयापन करने योग बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्रता, बन्धुत्व तथा आध्यात्मिक गहराईयों और सामाजिक समानता के

बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर अभ्यास है। एक राजनीतिज्ञ जो इन उद्देश्यों के लिये काम करता है, धार्मिक हुए बिना नहीं रह सकता। गाँधी जी की दृष्टि में राजनीति में प्रवेश का अर्थ था सत्य और न्याय प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना।

सत्य और अहिंसा गांधीवाद के मूल तत्व है। गांधी जी की दृष्टि में सत्य से बढ़कर कोई चीज नहीं हैं "सत्यात्रास्ति परो धर्मः। विचार वाणी और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। यह सत्य कथनी–करनी की एकता अथवा मन–वाणी कर्म की एकता है। सबका खण्डन हो सकता है, सत्य का नहीं। सत्य सभी शास्त्रों और मनुष्यों के सकल व्यापारों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यह सत्य नीति–शास्त्र का आदर्श है। जहाँ लोकमान्य तिलक राष्ट्रीयता पर सत्य को न्यौछावर कर सकते हैं वहीं गांधी सत्य को स्वतंत्रता से अधिक महत्व देते हैं, यहां तक कि देश से भी अधिक महत्व देते हैं, जबकि तिलक के लिए देश सर्वोपरि है।" गांधी जी स्वयं कहते हैं "देश के प्रति मेरा कितना भी प्रेम है, किन्तु फिर भी धर्म में अर्थात् सत्य में उससे भी अधिक प्रेम है। मैं भारत में इसलिए बंधा हूं कि विश्व के लिए भारत एक संदेश रखता है, मेरे धर्म की कोई भौगोलिक सीमा नही है। मैं इसमें एक जीवन्त आस्था रखता हूं जो मेरे स्वदेश को भी पार कर सकती है।

गांधी का नैतिक चिंतन –

गांधी दर्शन में मुक्ति के लिए सत्य और अहिंसा के साथ भक्ति मार्ग को प्रमुख माना गया है। जैन का पंच महाणुव्रत व जीवन चर्या नियम बौद्ध दर्शन का मध्यम मार्ग तथा आष्टांगिक मार्ग का जीवन नियम मूलतः आदर्श रूप में प्राप्त थे और समय के साथ लोक जीवन से दूर लगभग सिद्धांतो तक ही थे किन्तु गांधी ने ना केवल इन सिद्धांतों को अपने जीवन में उतार कर एक बार फिर से इन नियमों को प्रासंगिक बनाया बल्कि इन नास्तिक सिद्धांतो के साथ वैदिक आस्था को भी जोड़कर आदर्शों को व्यवहार जगत में ला दिया यही गांधी की सबसे बड़ी ताकत भी थी। गांधी ने 'सत्याग्रह' और 'सात जघन्य पाप' और 'ग्यारह व्रत' जैसे नैतिक सिद्धांतो को जीवन में उतार कर यह संदेश दिया कि आत्मबल और संयम से समस्त आदर्श को जमीन पर उतारा जा सकता है।

गांधी चिंतन अपने आप में पूर्ण संदेश है। वह एक जीवन दर्शन है– मानव जीवन में शक्ति ही मूल्यांकन की प्रधान कसौटी है, किंतु वे कष्ट सहन के सिद्धांत पर आधारित प्रेम को सर्वोपति मानते हैं। गांधी का स्वप्न एक अहिंसात्मक समाज है। एक ऐसा समाज तभी स्थापित हो सकता है जब हम पहले नैतिक धर्मशास्त्रियों के मुकाबले अधिक व्यापक है जो अपने–अपने सीमित पंथों की सर्वोच्चता सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं। उन्होंने शांति, नम्रता, सज्जनता, दानशीलता तथा धर्मों के प्रति श्रद्धा पर अधिक बल दिया। उनकी शिक्षाओं की व्यापकता के कारण ही गांधी दर्शन, समाजवाद और लोकतंत्र का नैतिक आधार बन गया। गांधी ने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और सामाजिक न्याय का पाठ संपूर्ण विश्व को पढ़ा दिया और आज के युग में सार्थकता सिद्ध कर दी।

निष्कर्ष एवं सुझाव:–

देश के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में और वैश्विक स्तर भी गांधी दर्शन की प्रासंगिकता को वर्तमान में हर क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होगी। इसको आज के परिवेश मे यदि हम अपनाने की कोशिश करें और आज इसको अपनाने की महती आवश्यकता भी है। गांधी के समय और आज के समय में मानवता ने बहुत लंबा सफर तय किया है और देश व काल के अनुरूप उसके प्रचार एवं प्रसार के साधनों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। फिर भी गांधी चिंतन को जो आदर प्राप्त है वह विश्व के किसी अन्य विचारधारा को प्राप्त नहीं है। वे विश्व में सदैव आदरणीय एवं अनुकरणीय व्यक्तित्व की तरह याद किये जाएंगे। अब प्रश्न यह है कि हमने स्वयं गांधी दर्शन को कितना ग्रहण किया और उसके अनुसार अपनी व्यवस्था को कितना परिवर्तित किया। आज जब संपूर्ण देश बारूद के ढ़ेर पर बैठा हुआ है और किसी भी बिहत मानसिकता वाले मानव समाज के एक इशारे पर राख के ढेर में बदलने में समय नहीं लगेगा। ऐसे विकासशील और विनाशकारी परिवेश में उस दर्शन की वास्तव में आवश्यकता है।

समसामायिक परिस्थितियों, समस्याओं को देखते हुए अगर गांधी दर्शन पर दृढ़तापूर्वक चला जाय तो सिर्फ भारत में ही नहीं अपितु विश्व में फैली ढेरों समस्याओं का निदान प्राप्त हो सकता है। गांधी दर्शन ने जो हमें नयी राह और दृष्टि प्रदान की है, उसे सारी दुनिया को स्वीकार कर लेना चाहिए। विश्व के लिए भारत का यही एक संदेश है कि जो गांधी दर्शन में निहित है, वह युद्ध की विभीषिका से त्रस्त विश्व की राजनीति के गांधी चिंतन का अभयदान के रूप में अनुपम भेंट है।

शोध–शोध की प्रक्रिया की निरंतरता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्वजन गवेषणेशी शोध अध्ययनों के माध्यम से वर्तमान एवं भविष्यगामी समस्याओं के निवारण के लिए गांधी दर्शन के मूल नैतिक सिद्धातों की समीक्षा समान्य जन को केंद्र में रखा जाए। इस शोध पत्र के कुछ सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं–

* नैतिकता के वास्तविक स्वरूप को सम्यक दृष्टि से जान लेने पर नैतिकता के विषय में फैली उन सभी भ्रान्तियों और गलतफहमियों की संभावना क्षीण हुई जिनके कारण नैतिकता को आज के युग मे एक गर्हित मनोवृत्ति मान लिया गया है।
* जनसामान्य के साथ बौद्धिक वर्ग में गांधी दर्शन की व्यापकता का पुर्नप्रकाशन हुआ है।
* भारतीय दर्शन के वैश्विक स्वररूप के प्रकटीकरण में योगदान मिला ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी शोधार्थी के शोध का बहुआयामी एवं अन्तर्विषयी योगदान होता है चूँकि यह शोध गांधी दर्शन में नैतिकता की अवधारणा से संबंधित है जिसकी प्रासंगिकता व महत्व वर्तमान में भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन(1923) : भारतीय दर्शन, ऑक्सफोर्ड इंडिया पेपरबैक,नोयडा।
2. शर्मा चंद्रधर(1971) : भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास,नयी दिल्ली।

3 वर्मा वेदप्रकाश (1979) : महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन, इंदु प्रकाशन, दिल्ली।
4 जैन देव कुमार (1982) : जैन प्रतिप्रश्न, ओरियेन्टल प्रकाशन, कर्नाटक।
5 सिन्हा हरेंद्र प्रसाद(1989)भारतीय दर्शन की रूपरेखा,मोतीलाल बनारसीदास,नयी दिल्ली।
6 श्रीवास्तव के0सी0(1991) : भारत की संस्कृति तथा कला,यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद।
7 लाल बसंत कुमार (1991):समकालीन भारतीय दर्शन,मोतीलाल बनारसीदास,नयी दिल्ली।
8 निगम शोभा (2003) : भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास,नयी दिल्ली।
9 दुबे अचलेश्वर (2003): गांधी दर्शन की रूपरेखा, स्वतंत्र भारत प्रेस नई दिल्ली।
10 वर्मा वेदप्रकाश (2004) : नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत, अलाइड पब्लिसर्स नयी दिल्ली।
11 सिंह म0प्र0(2005) : गांधी और कृष्ण, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद।
12 रावत ज्ञानेद्र(2006): गांधी व्यक्तित्व विचार और गांधीवाद, श्री नटराजन, पब्लिसर्स नई दिल्ली।
13 गांधी मो0क0 (2014) : सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद।
14. Stephen J. Laumakis (2008) : An introduction to Budhhist Philosophy, Cambridge University Press, London.
15 मिश्रा श्रीकान्त (2018) भारतीय नीतिशास्त्र, रघुवंशी सेल्स कर्पोरेशन आगरा।

गंधी जी का दर्शन

मनीष प्रसाद गौतम
शोधार्थी–संस्कृत
शास. ठा.र.सिंह महाविद्यालय,
रीवा (म.प्र)

वर्तमान अस्थिता के दौर में जहाँ एक ओर कोविड–19 जैसी महामारी लोगों को हताश और बेहाल किये हुए है वहीं दूसरी ओर इसके आर्थिक परिणाम भी लोगों को भविष्य के प्रति आशंकित किये हुए हैं। कभी हाथरस जैसे कांड लोगों को मानवीय मूल्यों पर चिंतन हेतु विश करते हैं तो कभी ड्रग्स जैसे मामले समाज को झकझोरते हैं। आज संपूर्ण विश्व बाज़ारवाद के दौड़ में शामिल हो चुका है। लालच की परिणति युद्ध की सीमा तक चली जाती है। ऐसे में गांधीवाद की प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक हो जाती हैं तो क्या गांधीवाद को अपनाने के लिये हमें टोपी या धोती पहनने की जरूरत है या फिर ब्रह्मचर्य अपनाने या फिर घृण करने की आवश्यकता है? नहीं, इनमें से कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि घृणा को दूर करने के लिये गांधीवाद को अपनाने की जरूरत है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह गांधीवाद है क्या? किसी भी शोषण का अहिंसक प्रतिरोध, सबसे पहले दूसरों की सेवा, संचय से पहले त्याग, झूठ के स्थन पर सच, अपने बजाय देश और समाज की चिंता करना आदि विचारों को समग्र रूप से गांधीवाद की संज्ञा दी जाती है। गांधीवादी विचार व्यापक रू‍प से प्रचीन भारतीय दर्शन से प्रेरण पाते हैं और इन विचारों की प्रासंगिकता अभी भी बरकरार है। आज के दौर में जब समाज में कल्याणकारी आदर्शों का स्थान असत्य, अवसरवाद, धोखा, चालाकी, लालच व स्वार्थपरता जैसे संकीर्ण विचारों द्वारा लिया जा रहा है। विश्व शक्तियाँ शस्त्र एकत्र करने की स्पर्धा में लगी हुई है लेकिन एक छोटे से वायरस को हरा पाने में असमर्थ और लाचार साबित हो रही है। ऐसे में विश्व शांति की पुनर्स्थापना के लिये, मानवीय मूल्यों को पुनरू प्रतिष्ठित करने के लिये आज गांधीवाद नए स्वरूप में महले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो उठा है।

गांधी जी धर्म व नैतिकता में अटूट विश्वास रखते थे। उनके लिये धर्म, प्रथाओं व आडम्बरों की सीमा में बंधा हुआ नहीं वरन् आचरण की एक विधि थी। गांधी जी के अनुसार, धर्मविहीन राजनीति मृत्युजाल है, धर्म व राजनीति का यह अस्तित्व ही समाज की बेहतरी के लिये नींव तैयार करता है। गांधी जी साधन व साध्य दोनों की शुद्धता पर बल देते थे। उनके अनुसार साधन व साध्य के मध्य बीज व पेड़ के जैसा संबंध है एवं दूषित बीज होने की दशा में स्वस्थ पेड़ की उम्मीद करना अकल्पनीय है।

गांधीवादी विचारधारा महात्मा गांधी द्वारा अपनाई और विकसित की गई उन धार्मिक–सामाजिक विचारों का समूह है जो उन्होंने पहली बार वर्ष 1983 से 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में तथा उसके बाद फिर भारत में अपनाई गई थी।

गांधीवादी दर्शन न केवल राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक है, बल्कि पारंपरिक और आधुतिक तथा सरल एवं जटिल भी है। यह कई पश्चिमी प्रभावों का प्रतीक है, जिनको गांधीजी ने उजागर किया था, लेकिन यह प्राचीन भारतय संस्कृति में निहित है तथा सार्वभौमिक नैतिक और धार्मिक सिद्धांतों का पालन करता है। गांधीजी ने इन विचारधाराओं को विभिन्न प्रेरणादायक स्त्रोतों आदि से विकसित किया। टॉलस्टॉय की पुस्तक 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' का महात्मा गांधी पर गहरा प्रभाव था। गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक 'अंटू दिस लास्ट8 से 'सर्वोदय' के सिद्धांत को ग्रहण किया और उसे जीवन में अतारा।

गांधीजी ने आजादी की लड़ाई के साथ–साथ छुआछूत उन्मूलन, हिन्दू–मुस्लिम एकता, चरखा और खादी को बढ़ावा, ग्राम स्वराज का प्रसार, प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा और परंपरगत चिकित्सीय ज्ञान के उपयोग सहित तमाम दूसरे उद्देश्यो पर कार्य करना निरंतर जारी रखा। सत्य के साथ गांधीजी के प्रयोगों ने उनके इस विश्वास को पक्का कर दिया था कि सत्य की सदा विजय होती है और सही रास्ता सत्य का रास्ता ही है। आज मानवता की मुक्ति सत्य का रास्ता अपनाने से ही है। गांधी जी सत्य को ईश्वर का पर्याय मानते थे। गांधीजी का मत था कि सत्य सदैव विजयी होता है। और अगर मनुष्य का संघर्ष सत्य के लिये है तो हिंसा का लेशमात्र उपयोग किये बिना भी वह अपनी सफलता सुनिश्चित कर सकता है।

1. सत्य गांधीजी सत्य के बड़े आग्रही थे। वे सत्य को ईश्वर मानते थे। सत्य उनके लिये सर्वोपरि सिद्धांत था। वे वचन और चिंतन में सत्य की स्थापना का प्रयत्न करते थे। लेकिन वर्तमान समय में देखा जाए तो राजनीतिज्ञ, मंत्रीगण अपने पद की शपथ ईश्वर को साक्षी मानकर करने के बावजूद गलत काम करने से पीछे नहीं हटते। अपने कर्मों के पालन के समय वे सत्य को भी नकार देते हैं। अगर गांधीवादी सिद्धांतों का सही तरह से पालन किया जाए तो देश नवनिर्माण की दिशा में आगे बढ़ चलेगा।
2. अहिंसा गांधीजी के अनुसार मन, वचन और शरीर से किसी को भी दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है। गांधीजी के विचारों का मूल लक्ष्य सत्य एवं अहिंसा के माध्यम से विरोधियों का ह्रदय परिवर्तन करना है। अहिंसा का अर्थ ही होता है प्रेम और उदारता की पराकाष्ठा। गांधी जी व्यक्तिगत जीवन से लेकर वैश्विक स्तर पर 'मनसा वाचा कर्मणा' अहिंसा के सिद्धांत का पालन करने पर बल सिद्धांतों का अनुगमन कर इच्छाओं की न्यूवता पर भी बल देते थे।

   यदि इस सिद्धांत का पालन किया जाए तो आज क्षुद्र राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्य पूर्ति के लिये व्याकुल समाज विश्व अपनी कई समस्याओं का निदान खोज सकता है।

आज संपूर्ण विश्व अपनी समस्याओं का हल हिंसा के माध्यम से ढूंढना चाहता है। वैश्वीकरण के इस दौर में 'बसुधैव कुटुम्बकम्ब' की अवधारणा ही खत्म होती जा रही है। अमेरिका, चीन, उत्तर कोरिया, ईरान जैसे देश हिंसा के माध्यम से प्रमुख शक्ति बनने की होड़ लग गई है। यह अंधी दौड़ दुनिया को अंततरू विनाश की ओर ले जाता है। अजा अहिंसा जैसे सिद्धांतों का पालन करते हुए विश्व में शाति की स्थापना की जा सकती है जिसकी आज पूरे विश्व को आवश्यकता है।

3. सत्याग्रह– सत्याग्रह का अर्थ है सभी प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ शुद्धतम आत्मबल का प्रयोग करना। यह व्यक्तिगत पीड़ा सहन कर अधिकारों को सुरक्षित करने और दूसरों को चोट न पहुँचाने की एक विधि है। सतयाग्रह की उतपत्ति उपनिषद, बुद्धि–महावीर की शिक्षा, टॉलस्टॉय और रस्किन सहित कई अन्य महान दर्शनों में मिलती है। गांधीजी का मत था कि निष्क्रिय प्रतिरोध कठोर–से–कठोर ह्रदय को भी पिघला सकता है। वे इसे दुर्बल मनुष्य का शस्त्र नहीं मानते थे। उनके अनुार शरीरिक प्रतिरोध करने वाले की अपेक्षा निष्क्रिय प्रतिरोध वाले में कहीं ज्यादा साहस होना चाहिये।

आज के समय में सत्याग्रह का प्रयोग विभिन्न स्थानों एवं परिस्थितियों पर सुसंगत एवं तार्किक प्रतीत होता है। राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी नीतियों, आदेशों से मतभेद की स्थिति में विरोध हेतु सत्याग्रह का प्रयोग कहीं श्रेयस्कर है। आत्मबल शरीरिक बल से अधिक श्रेष्ठ होता बुराई के प्रतिकार के लिये यदि आत्मबल का सहारा लिया जाए तो मौचूदा परेशानियाँ दूर की जा सकती हैं।

4. सर्वोदय– सवोदय शग्द अर्थ है 'सार्वभौमिक उत्थान' या सभी की प्रगति। यह शब्द पहल बार गांधीजी ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर जॉन रस्किन की पुस्तक 'अंटू दिस लास्ट' में पढ़ा था। सर्वोदय ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और और शोषण–मुक्त समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास का साधन ओर अवसर मिले। ऐसे समाज मे वर्ण, धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी समुदाय का न तो संहार हो ओर न ही बहिष्कार। सर्वोदय शब्द गांधीजी क्षरा प्रतिपादित एक ऐसा विचार हैं जिसमें 'सर्वभूतहितं रजारु की भारतीय कलपना, सुकरात की 'सत्य साधना' और रस्किन की 'अंतयोदय' की अवधारण सब कुछ सम्मिलित है। गांधीजी ने कहा था ''मैं अपने पीछे कोई पंथ या संप्रदाय नही छोड़ना चाहता हूँ।'' यही कारण है कि सर्वोदय आज एक समर्थ जीवन, समग्र जीवन और संपूर्ण जीवन का प्यार्य बन चुका है।

आज के दौर में पूरा विश्व एक ऐसे ही समाज की खेज में है जहाँ शोषण, वर्ग, जाति आदि की कोई जगह न हो। कहीं रोहिंग्या तो कहीं शिया और सुन्नी के नाम पर हिंसा हो रही है तो कहीं आतंक फैलाया जा रहा है। एक वर्ग दूसरे का शोषण कर रहा है। जिससे समाज में अव्यवस्था फैल रही है। अगर गांधीजी के सर्वोदय की संकल्पना साकार होती है तो संपूर्ण विश्व एक परिवार का रूप ले सकता है।

5. स्वराज– हालाँकि स्वराज शब्द का अर्थ स्व–शासन है, लेकिन गांधीजी ने इसे एक ऐसी अभिन्न क्रांति की संज्ञा दी जो कि जीवन के सभी क्षेत्रों को समाहित करती है। गांधी जी के लिये स्वराज का अर्थ व्यक्तियों के स्वराज (स्व–शासन) से था और इसलिये उन्होंने स्पष्ट किया कि उनके लिये स्वराज का मतलब अपने देशवासियों हेतु स्वतंत्रता है और संपूर्ण अर्थों में स्वराज स्वतंत्रता से कहीं अधिक है।

आत्मनिर्भर व स्वायत्त ग्राम पंचायतों की स्थापना के माध्यम से ग्रामीण समाज के अंतिम छोर पर मौजूद व्यक्ति तक शासन की पहुँच सुनिश्चित करना ही गांधी जी का ग्राम स्वराज सिद्धांत था। आर्थिक मामलों में भी गांधीजी विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के माध्यम से लघु, सूक्ष्म व कुटीर उद्योगों की स्थापना पर बल देते थ। उनका मत था कि भारी उद्योगों की स्थापना के पश्चात् इनसे निकलने वाली जहरीली गैसें व धुंआ पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं, साथ ही बहुत बड़े उद्योगों का अस्तित्व श्रमिक वर्ग के शोषण का भी मार्ग तैयार करता है। आज इस महामारी के दौर में जब पूरे विश्व को एक बार फिर आर्थिक मंदी की ओर जाने का खतरा है। आज इस महामारी के दौर में जब पूरे विश्व को एक बार फिर आर्थिक मंदी की ओर जाने का खनरा दिखाई दे रहा है ऐसे में इन कुटीर उद्योगों की स्थापना गरीब श्रमिकों के लिये आशा की किरण साबित होगी।

6. ट्रस्टीशिप– ट्रस्टीशिप एक सामाजिक–आथिक दर्शन है जिसे गांधीजी द्वारा प्रतिपादित किया गया था। यह अमीर लोगों को एक ऐसा माध्यम प्रदान करता हैं जिसके द्वारा वे गरीब और असहाय लोगों की मदद कर सकें। यह सिद्धांत गांधीजी के आध्यातिमक विकास को दर्शाता है, जो कि थियोसोफिकल लिटरेचर और भगवतगीता के अध्ययन से उनमें विकसित हुआ था। वर्तमान समय में गांधीजी की यह विचारधारा काफी प्रासंगिक है जब विश्व में गरीबी और भूखमरी चारों तरफ अपना साया फैलाये खड़ी है। गांधीजी का यह विचार कि धन व अन्पादन के साधनों पर सामूहिक नियंत्रण की स्थापना हेतु न्यास जैसी व्यवस्था स्थापित की जाए, काफी मायने रखती है।

7. स्वदेशी– स्वदेशी शब्द संस्कृत से लिया गया है और यह संस्कृत के दो शब्दों का एक संयोजन है। 'स्व' का अर्थ है स्वयं और देश का अर्थ देश ही है अर्थात् अपना देश। स्वदेशी का शाब्दिक अर्थ अपने देश से लिया जाता है परंतु अधिकांश संदर्भों में इसका अर्थ आत्मनिर्भरता के रूप में लिया जा सकता हैं स्वदेशी राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह से अपने समुदाय के भीतर ध्यान केंद्रित करता है। यह समुदाय और आत्मनिर्भरता की अन्योनयाश्रिता है। गांधीजी का मानना था कि इससे स्वतंत्रता (स्वराज) को बढ़ावा मिलेगा, क्योंकि भारत का ब्रिटिश नियंत्रण उनके स्वदेशी उद्योगों के नियंत्रण में निहित था। स्वदेशी अभियान भारत की स्वतंत्रता की कुंजी थी और महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों में चरखे द्वारा इसका प्रतिनिधित्व किया गया था।

आज जब अमेरिका एवं चीन जैसे देश व्यापा–युद्ध के माध्यम से अपने देश को सशक्त और दूसरे देशों की आर्थिक व्यस्था को कमजोर करने पर तुले है। ऐसी स्थिति में स्वदेशी की यह संकलपना देश के घरेलू उद्योगों और कारीगरों हेतु एक वररदान की भांति सिद्ध होगा।

गंधीजी शिक्षा के संदर्भ में अध्ययन व जीविका कमाने का कार्य एक साथ करने पर बल देते थे। आज जब बेरोजगारी देश की इतनी बड़ी समस्या है तब गांधीजी कें इस विचार को ध्यान में रखकर शिक्षा नीतियाँ बनाना लाभप्रद होगा। गांधीजी का राष्ट्र का विचार भी अतयंत प्रगश्तशील था। उनका राष्ट्रवाद 'वसुधैव कुटुम्बकम' के विस्तार से प्रेरित था। वे राष्ट्रवाद की अंतिम परिणति केवल एक राष्ट्र के हितों तक सीमित न मानते हुए उसे विश्व कल्याण की दिशा

से विस्तृत करने पर बद देते थे। आजकल राष्ट्रवाद का अतिवादी स्वरूप होता देखकर गांधीवादी राष्ट्रवाद सटीक लगता है।

हम पाते हैं कि गांधीजी के विचार शाश्वत है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उन्होंने जमीनी तैर पर अपने विचारों का परीक्षण किया और जीवन में सफलता अर्जित की जो न सिर्फ स्वयं के लिये अपितु पूरे विश्व के लिये थी। आज दुनिया गांधी के मार्ग को सबसे व्यापी रूप में देखती है।

गांधी दर्शन के विभिन्न पहलुओं की प्रासंगिकता वंमान सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों को किस प्रकार से गांधी जी के नैतिक सिद्धांतों के प्रयोग के द्वारा दूर किया जा सकता हैं ऐसे विभिन्न बिन्दुओं पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

मनव का मूल गुण है निरंतर चिंतन करना, मनन करना। निरंतर मनन करने के कारण ही हमें मनुष्य कहा गया हैं निरंतर आत्मीय मनन से हमने यह पाया कि हम विभिन्न प्रकार की वृत्तियों से रहित है। हम प्रकाश स्वरूप निरपेक्ष सत्य के अंश हैं। हमने निरंतर चिंतन से मानव हित में नीतियाँ तैयार की, जो मानव केन्द्रित तथा सभी जीवों के लिए हितोपयोगी है। यह नैतिक गुण समय सापेक्ष न्यूनाधिक होते रहे। समाज के उद्‌भव के साथ नैतिक गुण की आवश्यकता और अधिक बढ़ती गई। सम्भवतः यह आदिकाल में सत्य से उतपन्न हुई हो और समय के अनुसार इन मूल्यों में वृद्धि होती गई हो।

योग दर्शन, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में इनकी संख्या पाँच रही, यह गांधीजी के नैतिक दर्शन में समय के साथ बढ़कर एकादश हो गई। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अभय, अस्पृश्यता–निवारण, शारीरिक–श्रम, सर्वधर्म–समभाव, स्वदेशी–व्रत आदि मानवीय चिंतन से उत्पन्न नैतिक गुण हैं। हिंसा मानवीय स्वभाव विरोधी है, वह सास्तविक रूप में मानव का स्वभाव नहीं है। हिंसा मनुष्य की वृत्त हो सकती है, स्वभाव नहीं। वृत्तियाँ रोकी जा सकती हैं, नष्ट की जा सकती हैं मानव का स्वभाव मात्र है चिंतन करना, मनन करना, उसका यही स्वभाव उसे अन्य जीवों से अलग करता हैं और उसके अस्तित्व को चिन्हित करता है गांधी जी ने भी यही किया है।

गांधीजी के निरंतर चिंतन से उन्हें ज्ञान हुआ कि नैतिकता के मूल में सत्य विद्यमान हैं सभी मानवीय मूलय सत्य से उत्पन्न हुए हैं। सतय ही वह कील या धुरी है जिससे पूरी सृष्टि संचालित होती है। सत्य के ही अंशमात्र से अनय मानवीय मूल्य अपने अस्तितव में हैं। सत्य और अहिंसा तादात्म रूप में हैं। यह एक–दूसरे में ऐसे घुले हुए हैं जैसे जल में लवण, भान ही नहीं होता इनकी भिन्नता शून्य हो जाती है। सत्य सिंद्धि रूपक है और अहिंसा साधन रूपक है।

अपने नैतिक गुणों को धारण किया है या नहीं इसका निश्चय आपकी परिस्थिति करती है। परीक्षा की घड़ी में सफल हुए बिना हम यह तय नही कर सकते है। कि आप नैतिक गुणों से युक्त हैं। विपरीत परिस्थिति ही यह तय करती है। कि आप किसी अनुपात में नैतिक गुणों से युक्त हैं। विपरीत परिस्थिति ही यह तय करती हैं कि आप किसी अनुपात मे नैतिक हुए हैं। आप पूर्ण नैतिक हुए बिना पूर्ण मानव नहीं हो सकते हैं, आपकी मानवता की कसौटी आपकी नैतिक गुण तय करेंगे। धैर्यवान व्यक्ति की परीक्षा बलयुक्त होते हुए भी विकट परिस्थितियों में

धैर्य धारण करने पर होती है। आपकी अन्तरात्मा को जब यह ज्ञात हो जाये कि इस जगत में कोई नहीं देख रहा है तब भी आको ईश्वर अपनी आँखों से निहार रहा है तभी आप द्वितीय स्तर के नैतिक व्यकित हैं। नैतिकता आपका स्वभाव हो जाए एवं नैतिकगुण अपके धर्म हो जाएँ। यह पूर्णतः व्यक्तिगत है, लेकिन इसका प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है।

हमारी सभी समस्याओं के मूल में भय व्याप्त है। धर्म और राजनीति में भय का ही व्यापार होता है। अपने स्वार्थ के लए धार्मिक सम्प्रदायों और राजनीतिक पार्टियों का जन्म हुआ है। धार्मिक सम्प्रदाय को चलाने वाला व्यक्ति ईश्वर का भय दिखाकर लोगों पर राज करता है और ईश्वर और हमारे बीच में संबंध–वाहक बनता है। राजनीति में भी व्यक्ति भय और सुन्दर सपनों का व्यापारी होता है। हम सब ईश्वर के अंश है, ईश्वर की सुंदर कृति में से एक है, किन्तु हम आज पूरे ब्रह्माण्ड को नष्ट क सकें ऐसे सृजक हो गए हैं और यह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है क्योंकि किसी दिन हम स्वयं के साथ सभी जीवों का संहार करते दिखाई देंगे। संसार में और किसी जीव ने ऐसा विध्वंसकारी सृजन नही किया है, जैसा हम मनुष्यों ने किया हैं। इन सभी समस्याओं के लिए अभय व्रत का धारण करना अनिवार्य हैं अभय के बिना व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से बंधा हुआ है, भय और अज्ञान ने हम सभी को जकड़कर रखा है। जब तक भय बना रहेगा हम विध्वंसक सृजक करते रहेंगे और यह सृजन देर–सबेर हमें ही नष्ट करेगा। अभय वह बीज है जिससे शांति का वट वृक्ष तैयार होगा। अभय वह सूत्र है जिससे विश्व बन्धुत्व की अवधारणा पूर्ण होगी। भय हिंसा को जन्म देता है और अभय अहिंसा को, प्रेम को जन्म देता है।

सम्पूर्ण विश्व में अनगिनत सत्य शोधक हुए। जिन्होंन पूरा जीवन मानव सेवा को समर्पित कर दिया। भारत भूमि में भी बुद्ध, कृष्ण, कपिल जैसे महान विभूतियाँ ने जन्म लिया और जीवन का उच्च आदर्श प्रस्तुत किए। साथ ही सत्य की खोज के लिए कर्मकाण्ड, पूजा, आराधना और ध्यान से भी अधिक महत्त्व 'श्रम' को दिए हैं। श्रम से सत्य को पाने की कला का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किये। लाखों की संख्या में लोग कर्म मार्ग को त्याग कर सन्यास मार्ग को अपनाते हैं और उपना श्रम का भार समाज के अन्य वर्ग को देते हैं, किन्तु गांधी जी वह महात्मा थे जो सन्यास मार्ग से अधिक कर्म मार्ग को महत्त्व देते थे। श्रमिक वर्ग के सम्मान की हमेशा से उपेक्षा होती रही है, उसका मुख्य कारण यह है कि अश्रमिक वर्ग ने कभी शारीरिक श्रम को किया ही नहीं। सामाजिक वयवस्था ने उन्हें कभी रम करने की जरूरत ही नहीं समझी। यह व्यवस्था ने समाज में मानसिक कार्य और शारीरिक कार्य करने वालों में एक बड़ी खाई बना दी। अतः उपेक्षा और अपेक्षा के भेद को समाप्त करना बहुत जरूरी है और यह तभी संभव है जब हम गांधी जी के शारीरिक श्रम की महत्ता को समझते हुए, उसे सहर्ष अपनाएँ।

संदर्भ स्त्रोतः–

1. डॉ. तेजराम पाल : गांधी–दर्शन समदर्शी नीतिशास्त्र के आधार, अखण्ड पबिलशिंग हाउस संस्करण दिल्ली–2020
2. मेरे सपनों का भारत : मोहदनदास कमरचंद गांधी : (संग्रहकर्ता–आर.के. प्रभु) सर्व सेवा संघ–प्रकाशन राजघाट, बाराणसी–221001 फरवरी 2012

https://www.drishtiias.com/hindi/burning-issues-of-the-month/relevance-of-gandhism-in-present-da

स्वतंत्रता–पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन

पुष्पलता
पीएच.डी. शोधार्थी,
भारतीय दर्शन विभाग
साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
साँची, रायसेन (म.प्र.)–464661

प्रस्तुत शोध आलेख में "स्वतंत्रता–पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन" को रेखांकित किया गया है। भारतीय परम्परा में दार्शनिक चिन्तन का निकायबद्ध बहुध्रुवीय विकास जितनी दिशाओं में हुआ है, उन सभी को श्रुति, स्मृति और पुराणों में मूलित बताया जा सकता है। वैसी दार्शनिक परम्पराएँ जो अपने को उपर्युक्त आर्श स्रोतों में मूलित नहीं मानती हैं, उनमें भी स्वतंत्र आगमों का विकास कालान्तर में हुआ ही है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दर्शनों की ऐसी मूलानुबद्ध प्रतिबद्धता के बावजूद भी यहाँ परस्पर विरोधी विचारों का पल्लवन निर्बाध गति से होता रहा और उन्हें उचित सम्मान और प्रश्रय भी मिला है। वास्तव में यदि देखा जाय तो 'पूर्वपक्ष' के प्रति स्वस्थ सहिष्णुता को ही भारतीय दार्शनिक परम्परा की अनुपम विशेषता कही जा सकती है। इसका एक अन्तर्निहित कारण भारतीय दर्शनों के मौलिक स्रोतों का न्यूनाधिक रूप से निर्वैयक्तिक प्रकृति का होना है।[1]

स्वातंत्र्य पूर्व का इतिहास सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के लिए संघर्षरत लोगों की गुलामी से मुक्ति की लालसा का इतिहास है। क्योंकि तत्कालीन उप निवेशवादी प्रवृत्तियों, सामन्तवादी अवशेषों, प्रतिक्रियावादी शक्तियों तथा विदेशी व्यापार कम्पनियों ने देश के अर्थतंत्र को, कुटीर उद्योगों को, उत्पादन के संसाधनों एवं जन–जीवन की शैली को प्रायः नष्ट कर दिया था। उपनिवेषवादी शक्तियों की मान्यता थी कि यदि किसी देश की संस्कृति को नष्ट करना है तो सर्वप्रथम उसके दर्शन को नष्ट करना आवश्यक है। किन्तु अपनी आध्यात्मिक विरासत के पुरातन वैभव को संभाले भारतीय दर्शन चिरकाल से अपना एक पृथक् आमालोक निर्मित करता हुआ मनुष्य होने की सार्थकता और उसके सार समूहों पर भी मनुष्य का ध्यान केन्द्रित करता रहा है और यही कारण है कि भारत के दर्शन एवं उसकी आध्यात्मिक शक्तियों को आज तक कोई भी पूर्णतः नष्ट नहीं कर सका।[2]

स्वतंत्रता पूर्व भारत में तीन प्रकार की विचारधारा प्रचलित थी। पहली अतीतोन्मुखी पुनरुत्थानवादी विचारधारा, दूसरी स्वदेशी सौष्ठव सम्पन्न विचारधारा और तीसरी औपनिवेशिक स्मृतिमूलक विचारधारा। यहाँ संक्षेपतः तीनों विचारधाराओं पर कुछ विचार अपेक्षित है।

अतीतोन्मुखी पुनरूत्थानवादी विचारधारा –

19वीं शताब्दी में भारतीय लोग अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को श्रेष्ठ समझने लगे थे। उनका अपनी संस्कृति से विश्वास हटता जा रहा था। यही

कारण था कि हिन्दू जनता ईसाई धर्म की ओर अत्यधिक आकर्षित हो रही थी। ऐसे समय मे इस देश में पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ और राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, श्रीमती एनी बेसेन्ट आदि महापुरुषों ने हिन्दू धर्म एवं समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया।

अतीतोन्मुखी पुनरूत्थानवादी विचारधारा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत आर्य समाज के माध्यम से फलीभूत हुई। उस समय देश के विभिन्न भू–भागों में प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी सदृश विचारधाराएँ अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार हेतु समृद्ध थी लेकिन वैदिक दर्शन से प्रेरणा व प्रकाश ग्रहण करने वाले आर्य समाज ने समाज सुधार के अनेक क्रान्तिकारी कार्यक्रम चलाये। बाल विवाह का निषेध, विधवा विवाह को सामाजिक स्वीकृति, नारी शिक्षा, पर्दाप्रथा का अन्त, अछूतोद्धार उनमें प्रमुख थे पर अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिए आर्य समाज के द्वार खोलकर महर्षि दयानन्द ने जिस आधुनिक भारत की नींव रखी वह भविष्य के प्रति मानवीय आस्था की पक्षधरता ही थी। यद्यपि उनके पूर्व राजा राममोहन राय ने बंगाल के नवजागरण में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया था। सती प्रथा का उन्मूलन और धार्मिक वाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए उन्होंने वेदान्त के प्रसार में योग दिया।[3]

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जो महर्षि दयानंद के समकालीन थे, सर्व धर्म समभाव का आदर्श जन समुदाय के सामने रखा। रामकृष्ण परमहंस ने किसी नये धर्म का प्रतिपादन नही किया। वे स्वयं "धर्म के जीते जागते स्वरूप थे"। उन्होंने निराकार तथा साकार ईश्वर दोनों की उपासना पर बल दिया। वे मूर्ति–पूजा, एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद में भी विश्वास करते थे। उन्होंने विश्व को आध्यात्मिक दर्शन कराया। रामकृष्ण ने सभी धर्मों में एकता स्थापित करने के लिए प्रयास किये। रामकृष्ण का मानना था कि ईश्वर एक है तथा विविध धर्म उसकी प्राप्ति के अलग–अलग मार्ग है। व्यक्ति किसी भी मार्ग पर चलकर ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वे विविध धर्मों की एकता के समर्थक थे।

स्वामी विवेकनंद रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व में अपने गुरू के विचारों का प्रसार किया एवं उनकी स्मृति में काशीपुर के निकट वराहनगर में 1887 ई. में 'रामकृष्ण मठ' की स्थापना की। उन्होंने सम्पूर्ण भारत भ्रमण करने के पश्चात् अमेरिका के शिकागो नामक नगर के सर्वधर्म सम्मेलन में 1893 ई. में भाग लिया जहाँ उन्होंने हिन्दुत्व का प्रचार किया। विवेकानंद ने वेदान्त के सार्वभौम स्वरूप को संसार के सामने स्पष्ट कर रामकृष्ण मिशन की अधारशिला रखी। यह कथन अत्युक्ति न होगा कि हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरूत्थान वादी नेताओं के सद्प्रयत्नों से भारत में राष्ट्रवादी चेतना का जन्म हुआ और पराधीनता के प्रति लोगों में असंतोष और आक्रोश का भाव जाग्रत हुआ।

स्वदेशी सौष्ठव सम्पन्न विचारधारा–

इस विचारधारा का उदय महात्मा गाँधी के राजनीतिक चिन्तन से हुआ। गाँधी जी मूलभूत प्राचीन हिन्दू शरीर में अभिनव विचारों को आत्मसात् करने तथा उन्हें पूर्णतः स्वाभाविक रूप देने में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। यद्यपि 'स्वतंत्रता जन्मसिद्ध अधिकार' का प्रत्यय

तिलक की देन थी पर वह गोखले से गाँधी दर्शन में पूर्णता को प्राप्त हुआ हिन्द स्वराज्य के रूप में। अपने एक आलेख में डॉ. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने इसे दार्शनिक प्रतिष्ठा का जामा पहनाया। इस विचारधारा के प्रतिनिधि चिन्तकों ने अंग्रेजी को तो नहीं छोड़ा किन्तु उनके सामाजिक प्रयास के कारण देशज, भाषिक और बौद्धिक चेतना की एकरूपता को आधुनिक भाव बोध की भूमि मिल गई। शिक्षा रहन–सहन और जीवन के प्रायः सभी स्तरों पर स्वदेशीकरण ने अपनी छाप छोड़ी। इसके साथ ही इस कालावधि में होने वाले विराट सामाजिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन के बीच युगचेता मनीषियों ने मानवीय पुरानुभूति और आस्था के परिप्रेक्ष्य में उन अन्तःसूत्रों को जोड़ने की चेष्टा की जो अधुनातन सभ्यता और तज्जनित मूल्यों और सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध थे। उन्होंने अपने जीवनानुभवों से समृद्ध युगबोध से लोगों को जोड़ने का अनुशासन पैदा किया।[4]

औपनिवेशिक प्रवृत्तिमूलक विचारधारा–

यह विचारधारा शासक (स्वामी) के प्रति शासित (दास) के आदर्श से अभिप्रेरित थी। ज्ञान का अजस्र स्रोत अंग्रेजी से उद्‌गमित होकर अंग्रेजी के महासागर में मिल जाता है। आदिकाल से भारत बहुरंगी सांस्कृतिक विचारणा और बहुभाषी लोगों का देश रहा है। इस कारण भाषाएँ तो अंग्रेजी के महासागर में समा नहीं सकी किन्तु अंग्रेजी ने भारतीय प्रशासन तंत्र में अपनी जड़े जमा ली। यह विचारधारा मूलतः अंग्रेजी दाँ नवधनाढ्य वर्गीय चेतना से अपनी बौद्धिक ऊर्जा ग्रहण करती रही। किसी भी किस्म का सुधार या स्वर वर्गीय चेतना के विकास में बाधक है। गहरे बुनियादी अर्थ में उपभोक्तावादी सभ्यता का वह सामाजिक विमर्श है जिसमें विभाजित व्यक्तित्व की एक जीवन शैली विकसित कर ली गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि आधुनिक भारत में विभाजित व्यक्तित्व की यह जीवन शैली अपनी निजता में दोहरे मानदण्ड के साथ आज भी विद्यमान है।[5]

अब यहाँ दूसरे वर्ग अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर पश्चात् पर भी चर्चा कर लेना उपयुक्त ही होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रारम्भिक समय अर्द्ध विकसित भारतीय मानस की चरम दुविधा का समय रहा है। किन्तु धीरे–धीरे उसमें व्यापक परिवर्तन हुआ शिक्षा के प्रति लोगों में जागरूकता उत्पन्न हुई। इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन और सामाजिक परम्पराओं के प्रति लोगों की सजगता बढ़ने लगी जिसके कारण उन्होंने अपनी भारतीय अस्मिता एवं संस्कृति को पहचाना। भारतीयों ने परम्पराओं और अन्ध–विश्वासों के आधार पर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदर्शों को मानने से इन्कार कर दिया तथा उन सभी को तर्क तथा बुद्धि के आधार पर जांचना शुरू कर दिया। जिससे भारतीयों में जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन करने की भावना जागृत हुई।[6]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में तथा वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में भारत की प्राचीन धार्मिक, सांस्कृतिक, कलाविषयक और साहित्यिक परम्पराओं के निश्चित रूप से, धीरे धीरे लोप हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था। शिक्षित लोग अधिकाधिक संख्या में पूरी तरह पश्चिमी विचारधारा और जीवन पद्धति को अपनाते हुए, बहुधा जान–बूझकर अपने देश की प्राचीन संस्कृति को विस्मृत करने लगे थे।

स्वामी विवेकानंद ने भारतवर्ष को अपनी संस्कृति पर गर्व करना सिखाया, तथा इसके साथ ही उन्होंने अपनी परम्परागत संस्कृति, परम्परागत मूल्य और परम्परागत जीवन–दर्शन को अपनाने के लिए अन्य आचार्यों से कहीं अधिक प्रेरणा दी। समकालीन भारतवर्ष के किसी भी अन्य शिक्षक की तुलना में कहीं अधिक प्रभावी ढंग से उन्होंने अपने देशवासियों को प्राचीन के साथ अर्वाचीन का सामंजस्य करना सिखाया था।

उत्तर–संघर्ष काल में विभिन्न संस्थाओं में कार्यरत विद्वानों के दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र सीमित एवं सामाजिक–राजनैतिक–धार्मिक आन्दोलनों से अलग था। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, राधाकृष्णन्, गंगा नाथ झा एवं विश्वविद्यालयों तथा शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बन्धित अनेक लोगों ने अंग्रेजी माध्यम से प्रगतिवादी तात्त्विक चिन्तन किया।

स्वतंत्रता से पूर्व हमारी एक समस्या यह थी कि भारतीय जन में, विशेषतः यहाँ के बुद्धजीवियों में, यह भावना बनाए रखें कि, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से हमारा देश और उसका इतिहास पश्चिम की अपेक्षा हीन नहीं है और यह कि एक जाति के रूप में हम स्वतंत्र एवं स्वशासित होने के सर्वथा योग्य हैं। दर्शन के क्षेत्र में हमारे प्रमुख विद्वान प्रायः यह कोशिश करते रहे कि भारतीय दर्शन को विश्व–दर्शन के, विशेषतः पाश्चात्य दर्शन के समान धरातल पर प्रतिष्ठित करें। इस दृष्टि से हमारे दार्शनिक पुर्नजागरण का स्वर्ण युग तब था जब उन्नीसवीं शदी के अन्तिम चरण और बीसवीं के प्रथम चरण में पश्चिमी जगत् में प्रत्ययवादी दर्शनों तथा दार्शनिकों का बोलबाला था।[7]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतीय दर्शन की मौलिक प्रगति के लिए तीन चीजें जरूरी हैं। प्रथमतः हमारे चिन्तकों में इस अवगति के साथ कि हम एक नितान्त समृद्ध, वैविध्यपूर्ण दर्शन परम्परा के वारिस हैं, मौलिक चिन्तन का उत्साह और साहस होना चाहिए। दूसरा साहस भावना का एक अंग यह भी है कि हम बौद्धिक हलचल का अनुभव करते हुए कुछ नितान्त नए प्रश्न उठाए और उन पर सृजनात्मक चिन्तन करें। तीसरा भारतीय दार्शनिकों के सामने एक क्रान्तिकारी उद्देश्य यह है कि वे विकृत परम्पराओं से आक्रान्त भारत की नैतिक सामाजिक चेतना को नया मूल्य बोध दें।

सन्दर्भ–

1. शर्मा, डॉ. अम्बिकादत्त, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण समेकित अद्वैत विमर्श, सागर विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2005, पृ. v
2. पूर्वोक्त
3. पूर्वोक्त, पृ. vi
4. पूर्वोक्त
5. पूर्वोक्त, पृ. vii
6. शर्मा, डॉ. अम्बिकादत्त, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, देवराज नन्दकिशोर
7. "स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रथम 25 वर्ष" सागर विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2006, पृ. 63–64

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन : स्वतंत्रता पूर्व परिस्थितियों के विशेष संदर्भ में

ऋचा सिंह
जे0आर0एफ0
(आई0सी0पी0आर0)
दर्शनशास्त्र विभाग
गु0कां0वि0वि0, हरिद्वार।

अरस्तु ने मनुष्य के विवेकशील प्राणी कहा है। विवेकवान होने का मनुष्य का यह अद्वितीय गुण ही विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए मनुष्य को प्रेरित करता रहा है। मनुष्य जगत् के अस्तित्व, निर्माण तथा घटनाओं को आश्चर्य के साथ अवलोकित करता रहा है, उन आश्चर्यों ने उसे प्रेरित किया कि वह अपने अस्तित्व एवं जगत के विषय में दार्शनिक चिंतन प्रारम्भ करे जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सके। किंतु ध्यातव्य है कि विश्व एवं जगत के प्रति इसी आश्चर्य की भावना ने मनुष्य के मस्तिष्क में सभी ज्ञात विषयों के प्रति संदेह की भावना को भी उत्पन्न किया। किसी भी विषय के प्रति यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा, उत्सुकता एवं चिंतन के मार्ग में हमें सर्वप्रथम उस विषय के संबंध में क्या, क्यों, कैसे आदि जैसे प्रश्नवाचक शब्दों का सामना करना पड़ता है जो कि मानव मस्तिष्क में उत्पन्न उस विषय के प्रति संशय की भावना को प्रदर्शित करता है। मनुष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न इसी संशय की भवना ने उसे वास्तविक सत्य को जानने हेतु प्रेरित किया, जो किसी भी प्रकार के भ्रम से मुक्त हो।

पाश्चात्य दर्शन जगत में संदेहवाद (Seepticisn) के प्रतिस्थापक 'पाइरो' को माना जाता है। जो अरस्तु के समसामयिक थे। विविध दार्शनिक मतों के पारस्परिक भेदों को देखकर पाइरो ने कहा कि मानवी बुद्धि के लिए निश्चयात्मक ज्ञान असंभव है। न निर्विकल्प स्वनुभूति न सविकल्प बुद्धि और न इन्द्रियानुभूति ही निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न कर सकती है। ज्ञान के क्षेत्र में संदेह का स्थान अखण्ड है। प्रत्येक मत के खण्डन तथा मण्डन में सबल युक्तियाँ दी जा सकती है। अतः निश्चियात्मक ज्ञान भ्रम है। संदेह वादियों में कारनेडीज (Carneades) और सेक्सटस एम्पिरिकस (Sextas Empiricus) मुख्य हैं जिन्होने कार्यकारण भाव का खण्डन किया और जिनका डेविड ह्यूम (David Hume) पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

मध्ययुगीन लैटिन स्केप्टिकस आधुनिक काल में हमारी भाषा में संशयवाद के रूप में उत्पन्न हुआ या उन लोगों द्वारा अपनाये गये रवैये को दिया गया है जो किसी चीज पर संदेह या अविश्वास करते हैं। यदि हम संशय शब्द की व्युत्पति का उल्लेख करते हैं, तो हमें पता चलता है कि यह एक ग्रीक शब्द से निकला है जिसका अनुवाद जाँच के रूप में किया जा सकता है और इसलिए हम समझ सकते हैं कि संशयवादी व्यक्ति वह है जो जाँच करता है जो

असहमति या संदेह व्यक्त करता है इससे पहले कि ज्यादातर लोग सच मान लेते हैं। एक व्यवाहरिक उदाहरण में कहें तो एक संशयवादी व्यक्ति यह नही कहेगा कि 'यह गर्म है' लेकिन बस यह कि 'गर्मी महसूस करता है' क्योंकि वह एक पूर्ण सत्य के बारे में ज्ञान नही दिखाना चाहता था। इसके विपरीत वह खुद को एक राय व्यक्त करने के लिए सीमित करेगा। यह निर्णय के निलम्बन की अवधारणा में तैयार किया गया है।

पाश्चात्य दर्शन जगत में संदेहवादी पद्धति के प्रबल पोषक के रूप में रेने डेकार्ट का नाम अग्रणी है। ध्यातव्य है कि डेकार्ट संदेहवादी (Sceptic) नहीं है अपितु वे कट्र बुद्धिवादी (Rationalist) है। संदेह उनके लिए साधन मात्र है, साध्य नहीं। सत्य निश्चयात्मक है किंतु निश्चय पर पहुँचने के लिए सन्देह आवश्यक है। यदि संशय न हो तो निश्चय कैसा? अतः डेकार्ट के अनुसार संशय ज्ञान का स्रोत है। उनके अनुसार दार्शनिक के लिए आवश्यक है कि वह किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के पूर्व हर प्रकार की पूर्वमान्यताओं, पूर्व धारणाओं या पक्षपातों से रहित होकर विचार करे। डेकार्ट की संदेह–पद्यति को स्पष्ट करते हुए सी०डी० शर्मा अपनी पुस्तक में लिखते है "इन्द्रिय प्रत्यक्ष या आगम से अमुक बात प्रमाणित होती है, अतः वह सत्य है– इस प्रकार का विचार ठीक नही है। यह रूढ़िवाद है, पक्षपात है, अंधविश्वास है। यह दार्शनिक को शोभा नही देता। दर्शन का उद्‌गम संशय में है।"[1] अतः डेकार्ट ने स्पष्ट कहा है कि "ज्ञान का उद्‌गम संदेह है"।[2] डेकार्ट से पूर्व मोन्टेन और बेकन ने भी संदेह को अपनाया था किंतु वे उसे दार्शनिक पद्धति का रूप नहीं दे सके।

उल्लेखनीय है कि संदेहवादी 'संशयात्मक होता है, संशय ही उसका प्राण, लक्ष्य तथा साध्य होता है। वह निश्चित सत्य को नही मानता किंतु इसके विपरीत डेकार्ट के अनुसार सत्य स्वतः सिद्ध और निश्चयात्मक है और संशय उसकी प्राप्ति का साधन मात्र है प्रसिद्ध उक्ति है– "संशयात्मा विनश्यति"।[3]

देकार्त का तात्पर्य है–"संशयेन विजानाति संशयात्मा विनश्यति"। अतः संदेह देकार्त के दर्शन का आदि है न कि अन्त। देकार्त के संदेह का यही अर्थ है कि बिना किसी अंधविश्वास या पक्षपात या पूर्व मान्यता के निष्पक्ष विचार किया जाये और जब तक कोई भी वस्तु अपनी सत्ता को इतना सुस्पष्ट प्रकाशित न करे दे कि उसके विषय के संदेह का कोई स्थान न रहे, तब तक उसे सत्य न माना जाये। संशय को ज्ञान के आधार के रूप में मानते हुए David Hume ने अपनी पुस्तक में लिखा है–"संदेह, सावधानी व नम्रता की कुछ मात्रा तार्किक के पास सभी प्रकार के निश्चय और निर्णय लेते समय सदा साथ रहनी चाहिए"।[4]

भारतीय दर्शन जगत में न्याय–दर्शन के अंतर्गत संशय को अप्रमा की कोटि में रखा गया है तथा प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान के तीन प्रमुख लक्षणों में से एक असंदिग्ध तत्व भी है जिसका तात्पर्य ज्ञान की विश्वसनीयता से है किंतु विश्वसनीयता तक पहुँचने के लिए संशय का निवारण अति आवश्यक है अतः यहाँ भी स्पष्ट है कि संशय की अवधारणा ज्ञान के मूल में अवस्थित है।

इस संबंध में उपयोगिता वादी दार्शनिक सी0एस0 पर्स की संशय संबंधी अवधारणा अत्यंत विचारणीय है। सी0एस0 पर्स की 'संशय, विश्वास एवं अन्वेषण प्रक्रिया' (Dobut, Belive and Enquiry) के अनुसार वैचारिक जीवन में संशय तथा विश्वास का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। विचार का लक्ष्य विश्वास की स्थापना है अर्थात् यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति। इस स्थापना की प्रक्रिया का प्रारंभ संशय से होता है। यदि संशय न हो तो वैचारिक प्रक्रिया का उद्‌भव ही न होगा। इस प्रक्रिया को वे अन्वेषण प्रक्रिया कहते हैं। अतः पर्स के अनुसार ''वैचारिक प्रक्रिया अन्वेषण की प्रक्रिया है। जिसका प्रारंभ संशय से होता है तथा जिसका लक्ष्य विश्वास की प्राप्ति है।'' पर्स महोदय ने संशय की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख करते हुए समझाया है कि संशय की स्थिति एक ऐसी स्थिति होती है है जिसमें कुछ प्रश्न चिन्ह खड़े हो जाते है। ऐसा लगता है कि हमें कुछ प्रश्न पूछना है, कुछ ऐसा है जिसके विषय में जानना है। यह अनिश्चयता की अवस्था होती है।

पर्स आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि संशय एक प्रकार की अशान्ति की अवस्था है। इसमें एक दृष्टि से क्षोभ भी है और उत्तेजना भी। क्षोभ इसलिए कि इस स्थिति में अनिश्चितता रही है और उत्तेजना इसलिए कि क्षोभ की स्थिति से मुक्त होने की प्रवृत्ति भी जागृत रहती है। संशय इस प्रकार एक आत्म–संघर्ष की स्थिति भी है, जिसका लक्ष्य है अशांति तथा उद्वीगणता जो अनिश्चितता के फलस्वरूप है, उन्हें दूर करे तथा किसी निश्चयता की स्थिति अर्थात् यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करें।

पुनश्च, संशय अनिश्चयता की स्थिति तो है किंतु निष्क्रियता की स्थिति नहीं हैं यह तो क्रियाशीलता का एक उपादान हैं इसे अपनी उद्विग्नता से मुक्त होना है अतः यह क्रियाओं को प्रेरित करती हैं अतः कहा जा सकता है कि संशय एक ऐसी क्रियाशीलता को जन्म देता है, जो तब तक चलती रहती है जब तक विश्वास स्थापित न हो जाए। अतः पर्स का कहना है कि संशय एक प्रकार के वैचारिक संघर्ष को जन्म देता है, जो तब तक चलता रहता है जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो जाए।

सी0एस0 पर्स ने संशय की अपनी आवधारणा को और स्पष्ट करने हेतु तत्वमीमांसा के स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा की। इसका कारण यह है कि उन्हें तत्वमीमांसीय चिंतन के एक विशिष्ट लक्षण ने प्रभावित किया। तत्वमीमांसीय चिंतन के परिकल्पनात्मक (Speculative) रूप का आधार यह तथ्य है कि यह तब जन्म लेता है जब इसके समक्ष एक दुविधा या असमंजस की स्थिति उपस्थित हो जाती है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है जैसे भौतिक जगत के होने अथवा उसके ज्ञान' से संबंधित जो तत्वमीमांसीय चिंतन होता रहा है इसका आधार है एक दुविधा की स्थिति का उत्पन्न होना। भौतिक जगत को स्वीकारते हुए हमारा साधारण सामान्य जीवन सुचारू रूप से चलता रहता है– यह इस स्थिति की एक विधा हैं दूसरी ओर दार्शनिक चिंतन एवं बौद्धिक तर्क इन पर संशय करने के अनेक आधार प्रस्तुत कर देता हैं– यह इस स्थिति की दूसरी विधा हैं अब हम इस असमंजस में पड़ जाते हैं कि इन दोनों विधाओं के विरोध का समाधान कैसे करें? कभी दोनों में समन्वय का प्रयास होता

है, तो कभी इन विधाओं से ऊपर उठकर उन्हे एक सम्पूर्णता की दृष्टि में समेटने का प्रयास होता है।

पर्स महोदय का कहना है कि इस प्रकार की दुविधा की स्थिति के समक्ष जो प्रतिक्रिया होती रही है वह प्रायः निम्न 3 प्रकार से है :–

1. प्रागानुभविक प्रतिक्रिया (The Transcendentalist Response) इस प्रतिक्रिया में चिंतन किसी अनुभवातीत भाव या सिद्धांत को आधार बना उस असमंजस की स्थिति से ऊपर उठने का प्रयास करता हैं इसी प्रकार का परिकल्पनात्मक चिंतन 'ईश्वर' जैसे भाव को चिंतन का आधार बना देता है।
2. अस्वीकृति की प्रतिक्रिया (The Rejector's Response) एक प्रतिक्रिया ऐसी भी हो सकती है कि इस दुविधा की स्थिति की सभी विधाओं पर ही संशय किया जाए। इस प्रकार का चिंतन बौद्धिक आधारों पर प्रश्न चिह्न उठा सकता है और उन पर संशय करने का बौद्धिक आधार प्रस्तुत कर सकता है। ह्यूम ने भी यही किया था। ह्यूम अपनी संशयवादी अवधारणा के संबंध में स्पष्ट कहते है कि "चूँकि विषयों पर गम्भीर और प्रगढ़ चिन्तन करने से यह संशयवादी संदेह उत्पन्न होता है, इसलिए हम चाहे हम इसके पक्ष में तर्क करें या विपक्ष में किंतु जैसे–जैसे हम तर्क करते जाते हैं यह बढ़ता जाता है।"[6]
3. अपचयवादी प्रतिक्रिया (Reductionst Response) – इस प्रकार की प्रतिक्रियायें 'तार्किक अणुवाद' तथा संवृत्तिवाद जैसे दर्शनों में दिखाई देती हैं इसमें सामान्य ज्ञान से प्राप्त तथ्ययों का अपचयन कुछ ऐसे अपकरणों या आधारों पर करने का प्रयास होता है जो अनुभव आधृत है। संवृत्तिवाद में भौतिक वस्तु का अपचयन संवृत्ति जगत में होता है, तार्किक अणुवाद में उनका अपचयन इन्द्रियों प्रदत्तों में करने का प्रयास होता है।

इस प्रकार पर्स अपने दार्शनिक चिंतन मे विभिन्न तर्कों एवं उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि किसी भी प्रकार की वैचारिक प्रक्रिया का प्रारंभ संशय से ही होता है अतः संशय ज्ञान प्राप्ति का मूल आधार है।

संदर्भ सूची

1. सी0डी0 शर्मा : पाश्चात्य दर्शन, पृ0 91–92
2. रेने डेकार्ट : डिस्कोर्स, भाग 2, पृ0 92 (Dubito at Inteligram)
3. भगवद्गीता : अध्याय–4, श्लोक 40
4. डेविड ह्यूम : मानव बुद्धि संबंधी एक विमर्श, अध्याय–12
5. पियर्सकलेक्टेड वर्क्स, अध्याय पृ0 332
6. डेविड ह्यूम : मानव स्वभाव पर एक ग्रंथ–1, खण्ड 4, अधि0 2

वेद और राष्ट्र

विकास आर्य
शोध छात्र, वैदिक अध्ययन
साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,
साँची, मध्य प्रदेश

राष्ट्र क्या है?

राष्ट्र शब्द से सामान्यतः यह भाव ग्रहण किया जाता है कि बहुत सारे मनुष्यों का, लाखों करोड़ों मनुष्यों का, एक समुदाय जो एकत्व की भावना से aiccling of one-ness से, जुड़ा हो। एक समुदाय जिसके लोग यह समझते हों कि हम सब एक हैं। इस एकत्व या एकात्मकता के कई आधार हो सकते हैं,

1. किसी भूभाग के साथ ममत्व की भावना–मातृभूमि की भावना–(क)अपनेपन का भाव, (ख) मातृभूमि के प्रति आदर पूज्य का भाव, (ग) मातृभूमि के लिए त्याग बलिदान की भावना
2. धर्म की एकता
3. भाषा की एकता
4. राज्य–राजनीतिक प्रशासनिक एकता
5. उचित अनुचित की भावना से ऐक्य Same Concept of right & wrong
6. सांस्कृतिक एकता–सामाजिक संरचना जैसे वर्णाश्रम की मर्यादा
7. सम्मिलित इतिहास की विरासत

राष्ट्र के और भी तत्व हो सकते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि सारे के सारे तत्व उपलब्ध हों। मुख्य बात है एकत्व की भावना–जो जन समुदाय अपने को एक समझता हो कि हम सब एक हैं–वह आज के राजनीतिक सन्दर्भ में राष्ट्र समझा जाता है

वेद में राष्ट्र शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में हुआ है। ऐसा भी प्रतीत होता है राष्ट्र भौगोलिक एवं प्रशासनिक इकाई है,

(क) आ ब्रह्मानब्राह्मणोब्रह्मवर्चसीजायताम् आ राष्ट्र राजन्य :शूरइषव्योऽतिव्याधीमहारथोजायताम्' –यह तो प्रसिद्ध राष्ट्र गीत हुआ। यहाँ राष्ट्र के साथ राजन्य और उनकी शूरता वीरता आदि संयुक्त है।

यजुर्वेद में ही राज्याभिषेक के प्रसंग में राजा अपने नागरिकों से राष्ट्र को मांगता है।
(ख) अर्थेतस्थराष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा –यहीं पुरोहित राजा को राष्ट्र प्रदान करने के लिए प्रजाओं से अनुशंसा करता है

(ग) "अर्थेतस्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त"[3] यहाँ राष्ट्र–राज्य–राजा जुडे हुए से हैं । यहाँ प्रजाएंराष्ट्रदा तो हैं ही, साथ ही 'अर्थेतस्थ' अर्थ–प्रयोजन National objective राष्ट्रीय लक्ष्य भी ध्यान में रख कर राजा को राष्ट्र सौंपा जा रहा है।राजा प्रजाओं की इच्छा के अनुकूल हो, प्रजाएं राजा की वाञ्छा करें और राजा राष्ट्र के पतन का कारण न बने

(घ) "विशस्त्वासर्वावाञ्छन्तुमात्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्" –इस मन्त्र में "वाञ्छन्तु" का लोट्लकार भी

राजा से सुशासन की माँग कर रहा है, साथ ही राजा को यह चेतावनी भी दी जा रही है, कि उसके कारण राष्ट्र भ्रष्ट न हो–राजा राष्ट्र के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हो।

मातृभूमि की भावना, एक भूखण्ड के प्रति ममत्व की भावना, मातृवत् पूज्य आदर भाव, मातृभूमि के लिए त्याग बलिदान का भाव, सभी राष्ट्र वाद के आवश्यकतत्व हैं। खानाबदोश, भ्रमणशील, इधर उधर फिरते रहने वाले काफिलों के लिए मातृभूमि जैसा संवेदनात्मक ममत्व से परिपूर्ण भाव कल्पना से परे की वस्तु है। इन समुदायों का विकास परिवार और कबीलों से ऊपर हो ही नहीं सकता।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त (का. 12, सू. 1) को 'मातृभूमि–भावना' सश्रद्धप्रणम्य है। वहाँ मातृभूमि की बहुविध वर्णन आश्चर्यमयी लगती है और वेदों प्रति भी श्रद्धा के भाव जागृत करती है । पश्चिमी संसार इन्हें नवीन विकास, नवीन परिस्थितियों के कारण मानता है। मातृभूमि के इतने उच्च, इतने बहुआयामी, इतने श्रद्धा प्रेम समर्पित भावों का वेदों में उपलब्ध होना वेदभक्तों के लिए भी गौरव का प्रसंग है।

(क) 'माता भूमिःपुत्रोऽहंपृथिव्याः। भूमि मेरी माता है मैं उसका पुत्र हूँ।

(ख) 'नमो मात्रेपृथिव्यै नमो मात्रेपृथिव्या। मातृभूमि को बारम्बार नमस्कार है।

(ग) "सा नोभूमिर्विसृजतां माता पुत्रायमेपयः।" मेरी मातृभूमि मुझ पुत्र को दूध प्रदान करे।

(घ) "त्वजातास्त्वयिचरन्तिमाः।"हम मनुष्य तुमसे पैदा होते हैं, और तुझ पर विचरण करते हैं।

(ङ) 'वयंतुभ्यंबलिहतस्याम।" हे मातृभूमि, हम तुम्हारे लिए बलिदान करें, भेंट चढावें।

(च) "सा नोभूमिस्त्विर्षिबलंराष्टेदधातूत्तमे।

वह मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण करें। इस उद्धरण में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि मातृभूमि और राष्ट्र अलग–अलग हैं। राष्ट्र भूमि के अतिरिक्त अन्य तत्वों से समन्वित है। राष्ट्र की अवधारणा भूमि से अधिक व्यापक है, एतदर्थ कुछ उद्धरण विचारणीय है

(क) ब्रह्म च क्षत्रं च राष्टं च विशश्चविषिश्चयशश्शवर्चश्चद्रविणं च–
तानिसर्वाण्यपनामन्तिब्रह्मगवीमाददानस्यजिनतोब्राह्मणंक्षत्रियस्य ।।

ये 'ब्रह्मगवी' सूक्त के मन्त्र है। जो राजा ब्राह्मण की वाणी हर लेता है, वह ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति, राष्ट्र, प्रजा, तेज, यश, वर्चस्व, धन, सब से रहित हो जाता है।

(ख) "ब्रह्मगवीपच्यमानायावत्साभिविजङ्गहे ।

सन्तप्त ब्राह्मण की वाणी जब तक छटपटाती रहती है, उस समय वह सन्तप्तवाणी राष्ट्र के तेज को मार देती हैं, वहाँ वृषशील वीर पैदा नहीं होते।

"सा नोभूमिर्वर्धयदवर्धमाना।"

उन्नति करती हुई मातृभूमि हमारी उन्नति करे ।

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति।"

ब्रह्मचर्य और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।

राज्य और राष्ट्र तो कई स्थलों पर समानभाव वाहक दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भूमि भूखण्ड और राष्ट्र समान भावना का अभिव्यंजन करते नहीं लगते। राष्ट्र में एक भावनात्मक

अवधारणा का भी भाव समझ में आता है।

राष्ट्र में भावनात्मकता–

भूमि, राज्य, प्रशासनिकता, राज्य के संगठनात्मक अंग वस्तुनिष्ठ, एवं स्थूलभाव हैं। राष्ट्र में वस्तु–निष्ठा के साथ भावनिष्ठा भी अनुस्यूत है। यहीं भावनात्मक में एकता का भाव उभर उठता है।

राष्ट्र की उत्पत्ति ही भाव निष्ठा से है।

"भद्रमिच्छन्तःऋषयःस्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरगे।

ततो राष्ट्र बलमोजश्चजातंतदस्मै देवा उपसंनमन्तुध

राष्ट्र कैसे जन्मा, कैसे उत्पन्न हुआ? जाति में राष्ट्र बोध का प्रकार क्या हुआ? व्यक्ति से दम्पती, दम्पती से परिवार, परिवार से पंचायत और फिर धीरे धीरे राज्य और राष्ट्र का विकास हुआ। उपर्युक्त मंन्त्र राष्ट्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक दिशा दिखा रहा है। यथार्थ द्रष्टा ऋषि लोग मानव कल्याण के इच्छुक थे, वे सुख को जानते थे। मानव को कल्याण और सुख देने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम तप और दीक्षा का सेवन किया तब राष्ट्र–बल–ओज की प्राप्ति हुई और ऐसा राष्ट्र देवों का नमस्य है। सौराष्ट्र और उसके बल ओज प्राप्ति के निम्न चरण (Stage) हैं

1. कल्याण की इच्छा (desire for wellfare)
2. यथार्थ ज्ञान वालों का नेतृत्व
3. सुख ज्ञान (cleur concept of wellane)
4. तप, परिश्रम, कष्ट सहिष्णुता
5. दीक्षा (skill- training- know-how)यह राष्ट्र की वस्तुनिष्ठा से पृथक भाव निष्ठा का उच्चा निदर्शन है। एक और मन्त्रद्राव्य है –

"सत्यंबृहदूतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञःपृथिवींधारयन्ति ।

सानो भूतस्यभव्यस्यपल्युरुंलोकंपृथिवीन्ःकृणोतु ।।" अथ 12–1–1

राष्ट्र महान् कैसे बनते हैं? पृथिवी हमें उरुम् (महान) लोकजनम् (लोकस्तुभुवने जने) करे। मातृभूमि राष्ट्र के जनों को महान् बना दे, क्योंकि वह भूत भविष्य वर्तमान सब का पालन करती है। राष्ट्र की महत्ता राष्ट्र के धन उत्पादन, औद्योगिक व्यापारिक विकास, वैज्ञानिक–यान्त्रिकी उपलब्धि आदि पर भी निर्भर करती है। ये वस्तु निष्ठाक, भौतिक उपलब्धियाँ हैं। इनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं भावनिष्ठा अध्यात्मिक उपलब्धियाँ। किसी भी राष्ट्र का भूत भविष्य वर्तमान निम्न तत्वों पर निर्भर करते हैं। महान् राष्ट्र के ये भावना तत्त्व उपर्युक्त मन्त्र में परिगणित किये गये है

राष्ट्रीय दासता का विरोध –

प्रसिद्ध राष्ट्रगानवन्देमातरम् में एक पंक्ति है

"के बोले माँ। तुमी अबला"

राष्ट्र से द्वेष करने वालों के विरुद्ध हाथ उठाना, युद्ध करना धर्म है। वही की पंक्ति है

"बहुबलधारिणीनमामितारिणीम्रिपुदलवारिणींमातरम्।"

राष्ट्र से द्वेष करने वाले, आक्रमण करने वाले, दास बनाने वाले को रौंद डालने की राष्ट्रीय भावना निम्न मन्त्र में दृष्टव्य है

"योनोद्वेषत्पृथिवियःपृतन्याद्योमिदासान्मनसायोवधेन। तंनोभूमेरन्धय पूर्व कृत्वरि ।।"

सामान्य रूप से राज्य और राष्ट्र एक ही लगते हैं, किन्तु राज्य में (1) भूमि (2) जनता (3) सार्वभौम सत्ता (4) सरकार, ये चार तत्व ही माने जाते हैं। राष्ट्र में भावनात्मक एकता, अपनी भूमि, जनता, संस्कृति इतिहास आदि के प्रति ममत्व, गौरव बोध, श्रद्धा सम्मान आदि का भाव जुड़ा रहता है। इसीलिए राष्ट्र की अवधारणा भावनात्मक है। राज्य तो विदेशी भी हो सकता है, किन्तु राष्ट्र विदेशी नहीं हो सकता। सैन्य बल और सार्वभौम सत्ता तो विदेशी राजा की भी हो सकती है और राष्ट्र पराधीन हो सकता है तथा संस्कृति तिरस्कृत अपमानित होते रहते हैं। ऐसे राजा के राज्य में राष्ट्र का पतन तो अवश्यभावी है ही और ऐसे राजा की वाञ्छाकामना प्रजा नहीं करती क्योंकि इसके राज्य में तो राष्ट्र का पतन होता है। ऐसे राजा के लिए वेद की शिक्षा है, चेतावनी

"विशस्त्वासर्वांबांछन्तुमात्वदराष्ट्रभधिभ्रशत्"

अर्थात् सम्पूर्ण प्रजा तुम्हारी वाञ्छा करे, तुमको चाहे और तुम्हारे कारण राष्ट्र का पतन न हो। बहुराष्ट्रीय राज्य की भावना का संकेत वेद में नहीं मिलता। अतः वेद की पद्धति में एक राज्य, एक राष्ट्र one Nation one State ही संगत प्रतीत होता है। अनेक राष्ट्रों पर एक राज्य साम्राज्यवादी व्यवस्था का फल प्रतीत होता है। साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद की ऐतिहासिक परिणति यही है। न्दमजमक झ्पदहकवउ या न्दबसमकैजंजमे का कुछ ऐसा ही रूप रहा है। एक राष्ट्र और अनेक राज्य की सम्भावना है—अंग, बंग, कलिंग, मगध,कोसल, इन्द्रप्रस्थ आदि अनेक प्रशासनिक इकाइयों का एक 'भारत–राष्ट्र' अधिक इतिहास सिद्ध लगता है। यह बहुराष्ट्रीय राष्ट्र हुआ–multi State Nation]opposed to multi Nation State,बहुराष्ट्रीय राज्य का विलोम।

राज्य का संश्लेषण प्रशासनिक है। राष्ट्र का संश्लेषण (cementing force) प्रशासनिक से ऊपर भावनात्मक तथा ऋताचार से सम्बन्धित है।

राज्य राजा, प्रशासनिक व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, सुरक्षा आदि का सामुदायिक। राष्ट्र इस सामुदायिक रूप से ऊपर भावनात्मक आचारात्मक जातीय गौरव से युक्त है। तभी तो

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति।"

राष्ट्र रक्षा के लिए केवल सेना नहीं बल्कि ब्रह्मचर्य और तप, जीवन और आचरण की आवश्यकता है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची(Bibliography)

प्राथमिकस्रोत –

1 ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना : 1972

2 यजुर्वेद संहिता, (सं.) महर्षि देवराज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी : 1970
सामवेद संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी : 1938

3 मनुस्मृतिः, मनुः, (सं) राजवीर शास्त्री, (अनु.) सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट,

नई दिल्ली : 2000. पंचम संस्करण.

4. ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर : वि.सं. :2066.
5. उपनिषत्सञ्चयनम्ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः;अनु.केशवलालवी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान :2015
6. याज्ञवल्क्यस्मृतिः आ.याज्ञवल्क्यः. (स) आचार्य 'काव्यतीर्थ' नारायणराम, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली : 2002. द्वितीय संस्करण

द्वितीयकस्रोत–

7. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति. मनोहर प्रकाशन, वाराणसी : 1980 प्रथम संस्करण.
8. अवस्थी, शशि, प्राचीन भारतीय समाज. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना : 1981
9. उपाध्याय, बलदेव,भारतीयदर्शन, शारदामन्दिर, वाराणसीः 1997
10. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति. शारदामन्दिर, वाराणसी : 1967.
11. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूनाः 1941.
12. कुमार, नरेन्द्र, (सं.), धर्मसूत्रीय आचार संहिता. विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली : 1991 प्रथम संस्करण.
13. कुमार, शशिप्रभा, वैदिक विमर्श, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली : 1996.
14. कुमार, शशिप्रभा, वैदिक अनुशीलन. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली : 1998.
15. कुमार, शशिप्रभा, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली : 2005
16. कृष्णचन्द्र, भारतीय संस्कृति. सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली : 1992
17. कौसंबी, दामोदर धर्मानन्द, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, अनु. गुणाकरमूले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली : 2007
18. गैरोला, वाचस्पति, वैदिक साहित्य और संस्कृति. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर लाल बंगला रोड, दिल्ली.
19. झा, लक्ष्मीश्वर वेदों का मौलिक स्वरूप. अभिषेक प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली. 2010.
20. भगवद्दत्त, पण्डित, वैदिकवाङ्मय का इतिहास, पंजाब : 1935.
21. सिद्धान्तालंकार, डॉ. सत्यव्रत,वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, विजय कुमार गोविन्दरामहासानन्द, दिल्ली : 2002.
22. Bose, A-C- The Call of the Vedas- Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai : 1999-
23. Bloomfield- M- Hymns of the Atharvaveda- S- B- E- 42- % 1967-
24. Griffith] RTH- The Hymns of the Atharvaveda (Voll-&2)- D-K- Publishers, Delhi : 1995-
25. Maxmuller, F- A History of Ancient Sanskrit Literature- Varanasi : 1968-
26. Mitra, Priti- Indian Culture and Society in the Vedas- Calcutta: 1985-

डॉ. भीमराव अम्बेडकर : सामाजिक दर्शन

रघुनाथ पटेल
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म. प्र.)

डॉक्टर भीमराव आंबेडकर को संविधान निर्माता कहा जाता है। स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व इन तीन शब्दों में डॉ.भीमराव अम्बेडकर के दर्शन को रखा जा सकता है। डॉ आंबेडकर, गौतम बुद्ध को अपना गुरु मानते थे, और उनका दर्शन गौतम बुद्ध के विचारों से प्रभावित है।

डॉ.भीमराव अम्बेडकर बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। उनके चिंतन का केंद्र मानव मूल्यों के पक्ष में दृष्टिगोचर होता है। जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता और सामाजिक अन्याय द्वारा दलित, शोषित, उत्पीड़ित, वंचित, निम्न जाति और स्त्री वर्ग के ऊपर वर्षों से जो अत्याचार किया जा रहा था, उसके विरोध में उठने वाली आवाज बन कर आए थे, जो उनकी तरफ से खड़े होकर समाज से अधिकार से न्याय मांग पाए। अस्पृश्य समाज में पैदा होकर उन्होंनें जिस यथार्थ का सामना किया, वह उनके जीवन संघर्षो की ताप और ऊष्मा को दर्शाता है। भूख, गरीबी और लांछन का प्रत्यक्ष अनुभव उन्होंने स्वयं किया और इतने संघर्ष पर भी वे अपने लक्ष्य से भटके नहीं।

स्वतंत्रता पूर्व और स्वतन्त्रता पश्चात् भी डॉक्टर आंबेडकर ने समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व को संवैधानिक दर्जा दिलाने का प्रयास किया। स्त्रियों के मान सम्मान के लिए भी सामाजिक और संवैधानिक रूप से डॉक्टर आंबेडकर का कार्य सराहनीय रहा है।

मूल पृष्ठ–डॉ आंबेडकर दलित और नारी वर्ग के लिए सामाजिक न्याय चाहते थे। स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व को ही दूसरे शब्दों में समाजिक न्याय कहा जाता है। "सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए हैं और उन्हें एक अधिकार भी है कि अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करें।"

"मेरा सामाजिक दर्शन केवल तीन शब्दों में रखा जा सकता है वे शब्द हैं– स्वतंत्रता, समता और बंधुभाव मैंने इस दर्शन को फ्रेंच की राज्य–क्रांति से उधार नहीं लिया है। मेरे दर्शन की जड़ें धर्म हैं, राजनीति में नहीं। मेरे गुरु बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व से मुझे ये तीन मूल्य मिले हैं।"

"जाति संस्था केवल श्रम विभाजन नहीं है। वह श्रमिकों का भी विभाजन है। केवल श्रमिकों का भी विभाजन करके ही वह रुकती नहीं अपितु श्रमिकों के एक–एक समूह को वह नीचे से ऊपर की ओर दूसरे पर रखती जाती हैं और सबसे भयंकर बात यह है कि क्रमबद्धता जन्म के आधार पर हमेशा के लिए चिपका दी जाती है।विश्व के किसी भी देश में श्रम विभाजन को श्रमिकों के सामाजिक स्तर के साथ चिपकाया नही गया है।"

डॉ अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध का मार्ग वैज्ञानिकता एवं धार्मिकता का समन्वय हैं। धम्म बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग है। बुद्ध मोक्षदाता नही, मार्ग दाता हैं। संघ स्वतंत्रता,

समानता एवं बंधुत्व अर्थात कल्याणकारी जीवन का प्रतीक है। परंतु दलितों को इस मार्ग पर चलने के लिए परिश्रम की आवश्यकता थी इसके लिए अम्बेडकर ने दलितों को मार्गदर्शन दिया कि-

"शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो"

अस्पृश्यता, जातिगत भेदभाव से जनित भावना है जो प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक समाज में फैली हुई है डॉ अम्बेडकर इस बात से भली भांति परिचित थे कि अस्पृश्यता का अंत कानून से नहीं अपितु सामाजिक प्रेम से ही हो सकता है।

"स्पृश्यों तथा अस्पृश्यों के बीच एकता कानून के बल पर नहीं लाई जा सकती।... केवल प्रेम ही उन्हें एकता के सूत्र में पिरो सकता है।"

डॉक्टर अम्बेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप स्वतंत्रता पश्चात अस्पृश्यता से संबधित नियमों को लागू किया गया। संविधान में छः मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया है।

"अनुच्छेदः 17 अस्पृश्यता का अंत- अस्पृश्यता को समाप्त करने की व्यवस्था और किसी भी रूप में इसका आचरण निषिद्ध करता है। 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा ।"

डॉक्टर अम्बेडकर ने स्पष्ट किया जब समाज में नारी को स्वतंत्रता थी और उसे पुरुषों के साथ आत्मविकास के अवसर प्राप्त थे, तो भारतीय समाज प्रगति पर था किंतु जब नारी के अधिकारों की उपेक्षा हुई, तो समाज की प्रगति अवरुद्ध हो गई। वे कहते थे- "मैं किसी समाज की प्रगति इस आधार पर मापता हूं कि समाज में नारी ने किस सीमा तक प्रगति की है।"

"डॉक्टर आंबेडकर ने पंचफलकीय सामाजिक संरचना की कल्पना की। भारतीय सामाजिक संरचना का आंबेडकरीय प्रारूप में आधारभूत तत्व-

व्यक्ति-समाज संरचना की इकाई जाति न होकर व्यक्ति है।

धम्म-धम्म का अर्थ बौद्ध धर्म से है।

सामाजिक प्रजातंत्र-इसका मूल तत्व समता है।

राजनीतिक प्रजातंत्र-इसका मूल तत्व स्वतंत्रता है।

आर्थिक प्रजातंत्रोन्मुख समाजवाद-इसका मूल तत्व स्वतंत्रता है। अंबेडकर के अनुसार जनतंत्र की आत्मा 'एक मनुष्य एक मूल्य' के सिद्धांत में निहित है, जबकि दुर्भाग्य से जनतंत्र ने 'एक मनुष्य एक वोट' के सिद्धांत को अपनाया है।"

अम्बेडकर दर्शन और व्यावहारिक चुनौतियां-अतीत से लेकर वर्तमान तक अम्बेडकर दर्शन और समाज में उनके लागू होने में अनेक चुनौतियां सामने आई हैं- ऐसा समाज जो वर्षों से जातिगत भेदभाव से ग्रसित रहा हो, उसे परिवर्तित होने में पर्याप्त समय लगेगा।

स्वतंत्रता पूर्व भारत में अम्बेडकर की विचारधारा को मानने वाले बुद्धिजीवियों की संख्या बहुत कम थी और समाज परिवर्तन के लिए पर्याप्त न था।

भारत में स्वतंत्रता पश्चात से लेकर आज तक यह देखा गया है कि शहरों में तो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के भाव अधिकतर दिखाई देते हैं, परंतु भारतीय ग्रामों में आज भी

अस्पृश्यता, जातीय भेदभाव आदि का सामना दलित और शोषित वर्ग को करना पड़ रहा है। संविधान में नियम होने के बावजूद भी समाज मानसिक रूप से जातीय भेदभाव का दास है।

संदर्भ सूची–

1. बाबासाहेब डॉ अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांग्यमयखंड 14
2. डॉ बाबासाहेब अम्बेडकर डॉ सूर्यनारायण रणसुभे, पृष्ठ 58.
3. डॉ भीमराव अम्बेडकर .मनोज कुमार एवं रवि रंजन, पृष्ठ 37.
4. डॉ अम्बेडकर : सामाजिक आर्थिक विचार दर्शन (मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल) खण्ड 1, पृष्ठ 147.
5. बाबासाहेब डॉ अम्बेडकर संपूर्ण वांग्मय खंड 14
6. भारत की राज्यव्यवस्था (एम. लक्ष्मीकांत)
7. डॉ आंबेडकर : सामाजिक आर्थिक विचार दर्शन (मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल) खण्ड 1, पृष्ठ 158.
8. डॉ आंबेडकर : सामाजिक आर्थिक विचार दर्शन (मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल) खण्ड 1, पृष्ठ 111.

महर्षि अरविन्द घोष के विचारों में 'धर्मदृष्टि' की संकल्पनात्मक अवधारणा

खरक सिंह
शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र)

मनव समाज में एक स्वतंत्रता की भावना से धर्म का समन्वय मानते हैं जिसमें भारतीय समाज को धर्म से प्रतिध्वनित किया है वह मूलरूप से धर्म पर अवलम्बित हैं। उरविन्द के अनुरूप धर्म के मूल तत्वों का अभिप्राय मानव एकता के आदर्श को यह अभ्यनुज्ञा करना चाहिए, जिसे की धर्मदृष्टि ही एकमात्र प्रतिरक्षा आवरण है तथा सामाजिक परिदृश्य के रूप में वृहत्तम और स्वच्छंद प्राप्त करने हेतु वृहत्तम स्वच्छंद होना सारभूत है। महर्षि अरविन्द ने धर्म और उनकी दृष्टि की संकल्पना को वृहत्तम परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। उनकी अनुशंसा मानव जीवन की एक धर्म शक्ति जो सर्वकालिक उपस्थित रहती है और इसमें किसी भी तरह का अवनति नहीं होता है। श्री अरविन्द धर्म को यथार्थ मानते थे और मानव समाज को स्वतंत्र रूप से धर्म के प्रति सज्ञानात्मक भाव हैं।

भारतीय धार्मिक एवं संस्कृति का मूलतत्व में धर्म एक प्रतियोगिता नहीं है चूंकि यह एक मानव का अंग है, जिसका स्रोत इस जगत् से परिणति है। अरविन्द धर्म को मनस का आदर्श रूप में उपस्थित करते है और यही आदर्श मानव व्यक्तित्व के रूप में धर्म को ग्रहण कर लेता है। सनातन सत्ता समाज को प्रतिष्ठित करना ही उनका सामाजिक ध्येय था, एक सम्पूर्ण समाज में जो अधूरा मानव द्वारा न ही कृतत्व (निर्साण) हो सकता है और धर्म बिना मानव की परिपूर्णता संभव नहीं है। इसी कारण अरविन्द ने धर्म को ही मानवीय सामाजिक जीवन का आधार बताया है, जिसे मानव एकता के सूत्र में बांधने के पश्चात ही लब्ध किया जा सकता है। अरविन्द के इन्हीं अवधारणा की अपने सामाजिक परिधि को निरामय बनाने का प्रयास किया हैं। समाज के धर्म विषयक व्यवहार से मानव दोष को सुधारने के लिए अन्तःकरण में निर्मलता की आवश्यकता है। श्री अरविन्द का सामाजिक व्यक्तित्व सहज मानव का ही इच्छुक है। वह धार्मिक, आध्यात्मिक के प्रति एकीकृत मानवता के सम्पूर्ण पुनरूद्धार है। मानव समुदाय के पूर्ण परिवर्तन का एक अलग मूल्य दर्शन प्रस्तुत किया है जो समाज के व्यक्तित्व एवं रचनात्मक क्षमता को दर्शित करता है। धर्म और मानव के बीच यह आपसी संबद्धता, विविध आधिभौतिकता को समृद्धि एवं मानव के आध्यात्मिकता की तरफ आकर्षित करने के श्री अरविन्द घोष की धर्म का अंश है। उन्होंने समाज को उच्चतम सत्ता को संगठित करने के साथ पाश्चात्य एवं भारतीय नैतिक मूल्यों का भी एकीकरण किया है। उनके अभ्यंतर अनेकता को समाविष्ट करने की सामर्थ्य, उनके स्वयं के जीवन की अनेकरूपता से उद्दीप्त थी। अरविन्द कहते हैं कि "मानवता

धर्म या तो एक बौद्धिक और भावना प्रधान आदर्श, अर्थात् एक ऐसा सजीव सिद्धान्त हो सकता है।"

श्री अरविन्द ने जिस धर्मदृष्टि की बात कि है उसमें किसी भी तरह की ईर्ष्या, असंतोष एवं सामाजिक क्रोध नहीं है। अरविन्द धर्म के विषयों पर असीम मानव एकता के आदर्श को यह मान लेना चाहिए कि धर्म ही एकमात्र प्रतिरक्षा का आवरण है तथा मानव के व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनने और स्वच्छंद प्राप्त करने के लिए अंतःकरण से उत्कृष्ट और स्वछंद होना अनिवार्यता है। अरविन्द मानव जीवन के लिए आत्मोत्सर्गा की महत्ता को अपरिहार्य मानते थे। वास्तव में श्री अरविन्द ने मानव एकता के आदर्श को धर्म के द्वारा ही समाज में संसर्ग निर्वाह था वे प्रत्येक लक्ष्य की ओर एक ही गतिशीलता का ध्येय थे। इसी कारण अरविन्द का चिन्तन करते ऐसे प्रतीति होता है मानो हम उस व्यक्तित्व को देख रहे है जो सम्पूर्ण मानव जगत् का अनंततम प्रकाश है। उनके दर्शनिकी अवधारणा में जो पुंज दिखाई देता है और उनके अभ्यंतर में जो तथ्यात्मक धर्मनिष्ठतावाद है, वह निश्चित रूप से धर्म की मूल चेतना प्राप्त होती है। धर्म की समाज का आत्मिक बल से ही उस सत्य को अनुभूति करता है तथा धर्म मनुष्य के अनंतम सत्व–विषयी से ही समाज का संचालक शक्ति प्राप्त हुई है और उस यथार्थता को विषयोन्मुखी अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

धर्म समाज के भौतिकतावादी सत्ता को स्वीकरण नहीं करता है क्योंकि आत्मा को विज्ञान की कार्यशाला में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। जीव अंतरात्मा हो किन्तु धर्म की विकास यात्रा के क्रम में मानव अभी भी आधा फासला भी निश्चित कर पाया है। मानव का अंतःकरण ही विषयी–सत्व का सबसे बड़ा भौतिक संयंत्र है, जो कि इससे भी सूक्ष्म अणु और सूक्ष्मतम् संयंत्रों की सम्भावनाएँ मानव अंतःकरण में तिरोहित हुई है। स्वयं को चाहिए कि अपने अंतःकरण के भूपृष्ट से अस्थित करने का प्रयत्न करो और उन धार्मिक एवं आध्यात्मिक बल को लब्ध करो जो अंतःकरण की परिधि से परे स्वतः अर्थाधान एवं सत्त्व के प्रामाण्य कर रहा है।

मनुष्य की भावी संभावनाओं से ईश्वरत्व के अधिग्रहण कर लिया था। मनुष्य तो वही कार्य करता है, जिसे वह भूतल पर दृश्यात्मक भूमिका में करना चाहता है। पर वह करना लक्ष्य होना चाहिए, जो उस पर आत्मा के अहंभावपूर्ण का अधिकार नहीं है। इस प्रकार मनुष्य स्वयं धर्म और दृष्टि में स्वतंत्र है और वह विच्छेदक क्रिया भी हो सकता है।

श्री अरविन्द ने मानव को धर्म का विषय नहीं माना है। उनका परम ध्येय स्वरूपता ही अतिमानसी ज्ञानमूलक मनोवृत्ति को उतारकर समस्त मानव समुदाय का धर्म और आध्यात्मिकरण है। मानव की तत्परता अतिमानसी ज्ञान मूलक मनोवृत्ति के सतह पर ले जाना है और धर्म मूलक चेतना के व्योम में मानव ऊँचा कैसे उठे कैसे उसे बौद्धिक अवस्था की प्राप्ति हो इसके लिए अरविन्द ने धर्म का पथ भी विनियमित किया है।

महर्षि अरविन्द भारतीय समाज में एक धार्मिक और आध्यात्मिक प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक थे। जिन्होंन सम्पूर्ण जगत में मानस का अति मानसिक उद्देश्य धर्म के अनुभव से है। श्री अरविन्द राष्ट्र की संकल्पना को वृहत्त तौर पर मानव के आदर्शात्मक स्थान देते है। उनके

अनुसार धर्म और आध्यात्मिक बल सदैव समाज में उपस्थित रहता है और किसी भी तरह का अवनति नहीं होता है। उन्होंने धर्म और आध्यात्मिक उत्क्रांति का अनुवर्तन किया। उनका ध्येय धर्म, आध्यातिमकता एवं नैतिकता से यह कार्य बुनियादी तौर पर दार्शनिक अवधारणा से अनाश्रित था। उनका तात्पर्य यह है कि उस सारतत्व सत्ता की गत्यात्मक प्रकाशन में सत्य का आत्मबोध, धर्म एवं आध्यात्मिक अनंतर उन्नति हो।

श्री अरविन्द के वेदान्त दर्शन में मूलतत्व का वर्णन इस विषय पर अवलंबित है कि ब्रह्म की सत्ता ही जगत् निधि है हमारे बाहरी विषयों के ज्ञान का सम्पूर्ण जगत् में एकत्व हो जाता है। यही उवधारणा इस विषय पर आधृत होकर धर्म की नींव थी। समाज में मनुष्यता की अनुपस्थिति में ब्रह्म सत्ता का चिन्तन था। यद्यपि मानव का उद्‌भव इस भौतिक जगत् में आविर्भाव हुआ है चूंकि मनुष्यता को साक्षात्कार करने वाले अभिमत को नैसर्गिक अभिप्रायों में निरवयव रूप देना ही उसका प्रयोजन है। मानव के अभ्यंतर ब्रह्म सत्ता के संग एकत्व होने का माध्यम सृष्टि है। जो मानव उपने चित्त को और विषयों इंद्रियों की अनुशासित कर ले तो उसे प्रतीत होगा कि ब्रह्म सत्ता, भौतिक जगत् से पृथक भी है और उसका दिग्दर्शन कर रही है। मानव का आत्मोत्सर्ग या धर्म तत्व ज्ञान का सम्पूर्णतः उसके सत्ता का लक्ष्य है और यह विषय तभी प्राप्त है जब मनुष्यता के भौतिक अंतरपट से शीर्षस्थ हो जाए। प्रत्येक जीवात्मा का प्रतिपादन बरने वाले, ब्रह्म सत्ता के साथ एकत्व होने के भावना को इस तरह श्रेष्ठता से ही अनुभूत किया जा सकता है।

मनुष्य के बुनियादी आधार के विचारों में धर्म सत्ता एवं ब्रह्म सत्ता का हेतु है कि मानव समुदाय के सभी सदस्य उपनी आजादी को एक जैसा साझा कर सकते हैं और सभी मानव अन्य जीवधारियों से भी जैव रूप में संबद्ध हैं। मानव समाज में प्रसन्नता को इस ब्रह्म सत्ता को समाहित करता है। यही विभू की असीमता का यथार्थता है जो समपूर्ण विश्व जगत् का मूल कारण है और अंतरात्मा के प्रकाशन में लक्ष्य से सत्ता में है। धर्म की प्रकृति में यह स्पष्ट तौर पर उस समाज में मानव की अंतरात्मा साझा करता है। धर्म ही प्रकृति दशा में क्रमागत विकास के सभी प्रश्नों का तर्क संगत उत्तर देता है।

श्री अरविन्द ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का अभिसार प्रस्तुत किया है। वे मानव राष्ट्र को ही धर्म मानते हैं, "क्योंकि धर्म मनुष्य में वह पूल प्रवृत्ति विचार और अनुशासन है जिसका लक्ष्य सीधे दैवी सत्ता है जबकि शेष सभी उसकी और केवल अप्रत्यक्ष रूप से लक्ष्य करते हैं।"[7] मानव समाज में धार्मिक राजनीतिक स्वतंत्रता को धर्म कार्य की संज्ञा देते हैं। परन्तु उन्होंने इस राष्ट्र सम्बन्धी तक विचार परिसीमित नहीं है। वे सम्पूर्ण विश्व की धर्म एवं नैतिक, आध्यात्मिक स्वच्छंदता का नैतिक एवं आध्यात्मिक जनमानस को जन जागृति कर सकता है। अरविन्द मानव समाज की नवीन इकाई के साथ एक भौगोलिक दृष्टि के रूप में धर्म से आध्यात्मिक समग्रता के लिए वैश्विक मार्गदर्शन कर सकता है। फलतः उस समय समाज में धार्मिक व्यक्तित्व एवं आध्यात्मिक प्रयत्न का नैतिक उद्योग था। श्री अरविन्द का मानना था कि समाज में धर्म का परिदृश्य व्यापारिक नहीं है। चूंकि मानव सभ्यता के प्रसार का एक नैतिक

धर्म में राष्ट्र का उत्कर्ष है, जिसका स्रोत समाज है। मनुष्यता के धार्मिक पथ–दर्शिका और आध्यात्मिक अवबोधकत्व के प्रति तथा उसकी नियति के लिए जरूरी था, भारतीय समाज में व्यक्तित्व के आरोहण में प्रारंभिक पृष्ठभूमि निर्वाहन करना चाहिए। व्यक्तित्व की महानता उभरकर धर्म की नियति के अनुरूप विधिवश कार्य को पूर्ण करने के लिए समाज में नैतिकता की आवश्यकता है। इसके सर्व समावेशी जीवन दर्शन में धार्मिक–आध्यात्मिक आन्दोलन के रूप में स्वतंत्रता का मौलिक आदर्श है। यह पूरा विश्व हेतु धर्म की वास्तविक परिस्थिति को प्राप्त कर सकता है।

भारतीय धर्म की विलक्षणता केवल इस गुणवत्ता में स्थापित है जो मानव समुदाय के धर्म दर्शक के रूप में नैतिक भूमिका को पुनः प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। वर्तमान परिस्थितियाँ धर्म भाव एवं बोधि प्रज्ञा का जीवन की प्राप्ति है। भारतीय समाज के सत्य में सत् की प्रत्यावर्तन ही धर्म का सच्चे लक्ष्य है और आत्ममुक्ति है यही धर्म के लिए मानव दृष्टि में आत्म स्वशासन है। अरविन्द के लिए सत्य को दृष्टि से धार्मिक सक्रियता है। निश्चेष्ट रूप से जो विचारों में आकृष्ट करना जीवन के तात्पर्य में धर्म नहीं किन्तु यह धर्म का जीवंत था त्वरित है, कभी–कभी एक धार्मिक जनक्षोभ के अनुरूप ज्ञात होने लगता है। इसका अर्थ है कि धर्म में विश्वास एवं भरोसा का आधार है और विश्वास, प्रणय एवं आत्मा ज्ञान का तात्पर्य एक सच्चे धर्म से है। इस प्रकार से धार्मिक चाह और नैतिक संप्रत्यय है।

श्री अरविन्द ने धर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है– "यदि मानवता का धर्म जो आजकल मनुष्य जाति का सर्वोच्च और सक्रिय आदर्श है। आध्यात्मिक रूप धारण कर ले और मनुष्य जीवन का सामान्य विधान बन जाये।"[3] धर्म में आत्मनियंत्रण के अन्तर्गत मानव का साधन मात्र नहीं माना जा सकता, यदि किसी भी परिस्थिति मे हम नहीं छोड़ सकते हैं। सभी जीवन को पूर्णत्व एकता और समन्वय के जीवन की ओर सम्मुख हो जाते है। क्योंकि ये ही धार्मिकता समाज का प्रतीक है। धर्म राष्ट्र की भौतिक, नैतिक और बौद्धिक जीवन में सभी प्रकार की उन्नति मानी जाती है।

धर्म का लक्ष्य राष्ट्र और समाज की समग्र उन्नति है। उसमें यह स्वीकृति है कि समष्टि में सभी मानव को अपने स्वधर्म का कार्यान्वयन करना चाहिए, इसी कारण धर्म जीवन का सृजनशील राष्ट्र का हित है। धर्म राष्ट्र में मुख्य ही नहीं चूंकि अंतःकरण में ही सद् वस्तु मानी जाती है। श्री अरविन्द के शब्दों में "मनुष्य की धार्मिक सत्ता और उसके धार्मिक जीवन के सत्य और अनुभव। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी और बौद्धिक तर्क उस परदेशी की भांति चकित दृष्टि डालता है जो सर्वत्र जीवन के ऐसे रंग–ढंग तथा विचार और कर्म के ऐसे नियम धर्म देखने हैं।"[4]

एक धार्मिक समाज अपने व्यक्तित्व में अहम् में नही अतःकरण में सृजन करेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रकृति के अनुकूल अपने दायित्वों का निर्वाह करता है। समाज के आंतरिक विषयों में धर्म स्वतंत्रता का नियामक है।

धर्म के कारण एक पहला समाज यह होगा जिसमें पूर्णता से मानव अभिव्यक्त करता है। मनुष्य गंभीर रूप में धार्मिक स्वतंत्र होंगे तो ऐसा इसलिए मानवता के धर्म का समानता और भ्रातृ भावना के रूप में पुनः समाज का प्रणयन है। उस स्थिति में प्रत्येक मनुष्य स्वतः अपने लिए नहीं बल्कि व्यवहारिक प्रयोजन के लिए विधान होगा। कारण यह है कि परमसत्ता में आश्रय करने वाली एक जीवात्मा होगा, एक ऐसी श्रद्धा जो पूर्णतया तो है वह अपने तथा प्रकृति के विधान से लक्ष्य है। श्री अरविन्द का कहना है कि "धर्म मनुष्य में वह मूल प्रवृत्ति विचार, क्रिया और अनुशासन है जिसका लक्ष्य सीधे दैवी शक्ति है, मानव इतिहास में धर्म सदैव न केवल पूर्व में बल्कि पश्चिम में भी एक प्रभावशाली प्रवृत्ति रहा है।"[5] इस प्रकार धर्म समाज के मानव मूल्य के लिए अपेक्षित है कि राष्ट्र में पहले नैतिकता और मानवबोधत्व कुछ व्यक्तियों में तदोपरांत सम्पूर्ण जनमानस में धर्म एवं आध्यात्मिक राष्ट्र का अभिवृद्धि कर सकता है।

वास्तव में श्री अरविन्द का मानना है कि धर्ममय समाज बनाना प्रत्येक राष्ट्र का उद्देश्य है। इससे सामूहिक धर्म राष्ट्र का परहित है। "धर्मों में बौद्धिक या युक्तिपरक होना ही पड़ता है। यही कारण है कि धर्मों में संकीर्णता नहीं होती और विश्वबन्धुत्व, धार्मिक एकता, सहिष्णुता जैसी बातों की सार्थक सार्वजनिक बातें रहती हैं।"[6] मानव आदर्श समाज वह होता है जिसमें मानव की परिपूर्णता के लिए धर्म कि जीवन्त और स्वातंत्र का उत्कर्ष को भी उतना ही परिणामी है। जितना की वैश्विक समाज की आदर्शपूर्ण अपेक्षाएं या समदृष्टि सामंजस्यता का नैसर्गिक प्रगति और अंतर्निहित पूर्णता को स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव समुदाय के प्रतिमान धर्मों में मान्य तत्व की सत्ता को प्रमाणित कर समाज में भी स्वाधीन और संयुक्त अभ्युदय एवं सम्पूर्णताः के साथ एक दूसरे के प्रति आस्था का भाव प्राप्त होना चाहिए।

श्री अरविन्द धर्म को आदर्शात्मक समाज के रूप प्रस्तुत करते हैं और यही धर्म मानव का नैतिक स्वरूप लेता है इस प्रकार मानव मूल प्रवृत्ति जन्य मनुष्य जाति का संयुक्त विकास व्यक्ति के बीच मे सामान्य जीवन और उसकी चेतना के मध्य में तथा धर्म की सार्वभौमिक में पराप्रकृति सोपान है। सामाजिक एवं व्यक्तिगत संघटक के बीच आत्मीकरण के द्वारा धर्म की सभी क्रियाओं सर्वमान्य किया जाएगा।

श्री अरविन्द अपने विचारों में धर्म का सार तत्व और मानव के एकता आदर्श की कसौटी है धर्म का आदर्श समाज का सहिष्णुता और उन्मुक्त परिवर्तन है। धर्म मानव समुदाय के विकास में एकता का प्रतिपादन किया है। धर्म की प्रकृति सामान्य और असीम अनेकत्व पर उद्धृत होती है। अतः धर्म एक आदर्श समाज मे वैयक्तिक, सामाजिक और नैतिक सभी तरह की सर्वोच्च इकाई है। श्री अरविन्द का मानना है। कि धर्म से हमारा तात्पर्य अपनी सत्ता के सिद्धांत के अनुसार चलना है और अपनी प्राकृतिक आत्म परिपूर्णता तक अभ्युत्थित होना तथा अपने परिवेश के साथ धार्मिक स्वतंत्रता के रूप में समरसता का प्राप्त करना है। श्री अरविन्द का विचार था कि धर्म की सामाजिक जनतंत्र का मूल है मानव में प्रतिष्ठित करना है। धर्म के क्षेत्र में विधियों पर आधारित भारत को एकता के सूत्र में पिरोने के बाद ही सच्चा धर्म प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार हम अपने उज्ज्वल भविष्य को धर्म के माध्यम से पुनर्स्थापित करना है। "धर्म का

आदर्श पूर्ण रूप में स्वायत्ता किसी को भी स्वतंत्र प्राप्त हो और विचार मानव के नैतिकता के अधिकार क्षेत्र से अतिचार नहीं करना है। अपनी प्रकृति आदर्शों और आध्यात्म ऊर्जा के अनुरूप जीवन को विख्यात करें और भारत की धार्मिक–आध्यात्मिक एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्राप्त होती है तथा सनातन धर्म का विकास तत्व अन्तर्दृष्टि से ही प्राप्त किया जा सकता है।

निष्कर्ष– श्री अरविन्द के धर्म सम्बन्धी विचारों के आलोक में मानव का धर्म वर्तमान समय मूल्यों का विषय संकीर्ण है। मानव सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत जूझ रहा है धर्म एक आधारभूत अपेक्षा की तृप्ति करता है। उसका लक्ष्य मानव एकता सार है और समाज में नैतिक चरित्र का निर्माण करना हैं विश्व में धर्म मानस से अंतःकरण के मार्ग में सर्वांग अवस्था है मानव एकता के प्रतिमान में सार्वभौम दृष्टा के रूप मे निर्माणक है। धर्म और विज्ञान का निषेध नहीं करते हैं तथा ईश्वर के साधनों के रूप मे प्रयोग करते हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए धर्म सत्ता या जगत् के ब्रह्म सत्ता की उत्सर्ग करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म के साथ अभिमर्ष स्थापित करने के लिए किन्हीं परिसीमित में बंध जाने या जगत् से निवृत होने की भी जरूरत नहीं है। धर्म सर्वत्र सत्ता का अनुगामी है, इसका कारण बस यह है कि धर्मान्धता और रूढ़िवादिता समाप्त करने की आवश्यकता है और हमें धर्म की समानता को व्यवस्थित करके राष्ट्रीय एकता की विचारधारा को समाहित करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. मानव एकता का आदर्श, श्री अरविन्द, अनुवादिका लीलावती इंद्रसेन, श्री अरविंद सोसायटी पांडिचेरी–2, प्रथम संस्करण 1969, पृ. 311
2. श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, डॉ. रामनाथ शर्मा, श्री कुंवर प्रसाद अग्रवाल ओरियंटल पब्लिशिंग हाउस, कानपुर, पृ. 140
3. मनव एकता का आदर्श, श्री अरविन्द, अनुवादिका लीलावती इंद्रसेन, श्री अरविंद सोसायटी पांडिचेरी–2, प्रथम संस्करण 1969, पृ. 319
4. मनव चक्र, श्री अरविन्द, अनुवादिका लीलावती इंद्रसेन, श्री अरविंद सोसायटी पांडिचेरी–2 प्रथम संस्करण 1970, पृ.145
5. श्री अरविन्द का समाज दर्शन, डॉ. रामनाथ शर्मा, विवेक प्रकाशन, जवाहरनगर, दिल्ली 1986, पृ. 167–168
6. धर्म–दर्शन, डॉ. लक्ष्मी सिन्हा, ज्ञानदा प्रकाशन, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली संस्करण 2016 पृ.42

एम.के.गांधी के विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

(आरोग्य, कुदरती उपचार एवं अनासक्तियोग के विशेष संदर्भ में)

डॉ० संदीप कुमार चौरसिया
लखनऊ

आज हम भारतवासी आजादी का अमृत महोत्सव मना रहे हैं, जिसमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु अमर हुए महान मनुष्यों (स्त्रियों एवं पुरूषों) का ही योगदान है चाहे वह वैचारिक या शारीरिक हो या दोंनों ही रूप में क्यों न हो। वैचारिक एवं शारीरिक रूप से आजादी की अमृत श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण भारतीय विचारक महात्मा का नाम स्मरण में आता है वह है मोहनदास कर्मचन्द गांधी, जो भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपिता कहलाते है। यदि हम एम. के. गांधी के वैचारिक दृष्टिकोण और क्रियाओं को देखते है तो हमें गांधी का दर्शन जीवनोपयोगी तथ्यों एवं आचरणों के अनुरूप प्राप्त होता है।

प्रस्तुत शोध पत्र एम०के० गांधी जी के कुछ महत्वपूर्ण विचार–आरोग्य, कुदरती उपचार एवं अनासक्तियोग पर विश्लेशण विधि द्वारा अवधारणा को स्पष्ट करने एवं स्वस्थ जीवन शैली अपनानें हेतु समर्पित है। परन्तु यहां प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि गांधी जी द्वारा दिया गया विचार जो आरोग्य, उपचार एवं योग के लिए है, क्या प्राचीन भारतीय शिक्षा के शास्त्रों में दिये विचारों का संकलित विचार है? अथवा इन विचारों को जीवन में प्रयोग करने पर प्राप्त विचारों का परिणाम है। प्रमुखतयः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत शोधपत्र इस प्रश्न पर केन्द्रित है।

आरोग्य– एम०के० गांधी जी का विश्वास था कि स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करके ही मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा को पूर्ण स्वस्थ रख सकता है। गाधी जी के अनुसार "आरोग्य का आशय तन्दुरूस्त शरीर हैं। ऐसा शरीर व्याधिरहीत होता है। उसका शरीर सामान्य काम कर सकता है। जो मनुष्य बगैर थकान के रोज दस बारह मील (किलोमीटर) चल सकता है। जो बगैर थकान के सामान्य मेहनत मजदूरी कर सकता है। जो सामान्य खुराक (आहार) पचा सकता है। जिसकी इद्रियां और मन स्वस्थ है वही तन्दुरूस्त शरीर है।"[1]

डब्लू०एच०ओ० के अनुसार "स्वास्थ्य (आरोग्य) पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण की स्थिति है, न कि केवल बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति"[2] है। स्वास्थ्य के उच्चतम प्राप्य मानक का आनंद नस्ल, धर्म, राजनीतिक विश्वास, आर्थिक या सामाजिक स्थिति के भेद के बिना प्रत्येक मनुष्य के मौलिक अधिकारों में से एक है। सभी लोगों का स्वास्थ्य शांति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए मूलभूत है और यह व्यक्तियों और राज्यों के पूर्ण सहयोग पर निर्भर है। स्वास्थ्य के संवर्धन और संरक्षण में किसी भी राज्य की उपलब्धि सभी के लिए महत्वपूर्ण होती है। विभिन्न देशों में स्वास्थ्य को बढ़ावा देने और बीमारियों के नियंत्रण में असमान विकास, विशेष रूप से संचारी रोग, एक आम खतरा है। बच्चे के स्वस्थ विकास का बुनियादी महत्व है; इस तरह के विकास के लिए बदलते हुए कुल परिवेश में सामंजस्य पूर्ण ढ़ंग से रहने की क्षमता

आवश्यक है। स्वास्थ्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक और संबंधित ज्ञान के लाभों का सभी लोगों तक विस्तार आवश्यक है। लोगों के स्वास्थ्य में सुधार के लिए जनता की ओर से सूचित राय और सक्रिय सहयोग का अत्यधिक महत्व है। सरकारों का अपने लोगों के स्वास्थ्य के प्रति उत्तरदायित्व है जिसे पर्याप्त स्वास्थ्य और सामाजिक उपायों के प्रावधान द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। डब्ल्यू.एच.ओ. संविधान की प्रस्तावना इस निर्धारित सिद्धांतों के प्रति दृढ़ता से प्रतिबद्ध है।

सुश्रुत संहिता के अनुसार "आरोग्य वह है जिसके वात, पित्त, कफ समान रूप से कार्य कर रहे हो, पाचन, रस, रक्तादि धातुओं की क्रियाएं समुचित ढंग से संचालित हो रही हो, तथा आत्मा, मन "[3]

उपरोक्त विचारों का परीक्षा करने पर हमें यह समझ में आता है कि गांधी जी ने आरोग्य का विचार प्राचीन भारतीय ग्रन्थ को ध्यान में रख कर अपने जीवन में स्वयं के शरीर पर प्रयोग करके प्राप्त किया है जो उनकी मुख्य पुस्तक सत्य के प्रयोग में देखा जा सकता है। आरोग्य के विचार को अत्याधिक स्पष्ट करने के लिए एम०के० गांधी की पुस्तक आरोग्य की कुंजी का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि शरीर जगत का एक छोटा सा मगर सम्पूर्ण नमूना है जो शरीर में नहीं वह जगत में नहीं, और जो जगत में है वह शरीर में है इसी आधार पर यथा पिण्डे तथा ब्रह्मांडे महत्वपूर्ण कथन पुष्ट होता है इसलिए यदि हम शरीर को पूर्णतया पहचान सके तो जगत को पहचान सकते है। इसी विचार को सिद्ध सिद्धान्त पद्धति और उपनिषद् भी पुष्ट करते है।

गांधी जी के अनुसार आरोग्य के लिए हवा, पानी, खुराक (आहार) और ब्रह्मचर्य प्रमुख स्थान है।

कुदरती उपचार– एम०के० गांधी के अनुसार उपचार का आशय कुदरती उपचार, नैसर्गिक उपचार अथवा प्राकृतिक उपचार से है। "उपचारक रोग के लिए जडी बूटी नहीं बेचता बल्कि वह रोगी को जीवन जीने का ऐसा तरीका सिखाता है जिसे रोगी अपने घर में रह कर जीवन बिता सके और आगे कभी बिमार न पड़े।"[4] प्राकृतिक उपचार हेतु प्राकृतिक साधन– मिट्टी, पानी, हवा, धूप और आकाश का विशिष्ट ढंग से एक प्रयोग है। साथ ही राम नाम (ईश्वर श्रद्धा) भी कुदरती उपचार है।

कुदरती उपचार के विचार के लिए एम०के० गांधी की पुस्तक कुदरती उपचार का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि शरीर स्वयं चिकित्सक है जिसके लिये पंचमहाभूत और निराकार ईश्वर हेतु राम नाम ही सबसे सरल, सुलभ चिकित्सा पद्धति है।

अनासक्ति योग– एम०के० गांधी के अनुसार योग का आशय अनासक्ति योग से है। और अनासक्ति योग का ग्रन्थ श्रीमद् भगवद्गीता है। जो एक आध्यात्मिक निदान ग्रन्थ है। गांधी जी ने श्रीमद् भगवद्गीता के जिस अर्थ को आचरण में उतारने का प्रयत्न किया है वह गीता के अनुवाद के रूप में दिया है। वह गीता के आधार पर जीवन को आचरण रूपी अनुभव हेतु ऐसी स्त्रियां, वैश्य, शूद्र जैसे लोगों के लिए है जिन्हें बहुत कम अक्षर ज्ञान है जिसके पास मूल संस्कृत

में समझने का समय नहीं है इच्छा भी नहीं है जिन्हें गीता रूपी सहारे की आवश्यकता है। एम०के० गांधी के अनुसार "गीता का केंद्रिय विषय कर्म के फल का त्याग करना है जोकि एक अद्वितीय उपाय है। भक्ति, ज्ञान आदि ने इस विषय के आस–पास तारामण्डल के रूप में अपना अपना उचित स्थान ग्रहण कर लिया है जहां देह है वहां कर्म तो है ही। कर्म से कोई मनुष्य मुक्त नहीं है। फिर भी सभी धर्मों ने यह प्रतिपादित किया है कि देह को प्रभु का मन्दिर बनाने से उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है।"[5] परन्तु प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष तो होता ही है और मुक्ति केवल निर्दोष मनुष्य को ही मिलती है। तब कर्म के बन्धन से अर्थात् दोष के स्पर्श से छुटकारा पाने हेतु गांधी जी के अनुसार गीता में निश्चयात्मक शब्दों को प्रमुखता से दिया गया है– निष्काम कर्म करके, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्म के फल का त्याग करके, सारे कर्म कृष्णार्पण करके यानि मन, वचन और काया को ईश्वर में होम कर। निष्कामतः केवल कह देने से सिद्ध नहीं होती। वह हृदय मन्थन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग शक्ति उत्पन्न करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना, भक्ति करना आवश्यक है। जो आत्म दर्शन का विषय है। ऐसा ज्ञान और ऐसी भक्ति को कर्म फल के त्याग की कसौटी पर परीक्षण करना होगा तभी गीता के मोक्ष अर्थात् परम् शान्ति की प्राप्ति होगी। क्योंकि साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

गांधी जी के अनुसार श्रीमद् भगवद्गीता कहती है कि "फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो, आशारहित होकर कर्म करो, निष्काम बनकर कर्म करो। यह गीता की ऐसी ध्वनि है जो भूली नहीं जा सकती।"[6] जो मनुष्य कर्म को छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसके फल को छोड़ता है वह ऊंचा उठता है फल त्याग का अर्थ कर्म के परिणाम के विषय में लापरवाह रहना नहीं है। परिणाम का और साधन का विचार करना तथा दोनों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना करने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन में रहता है वह फल त्यागी कहा जाता हैं। यहां फल त्याग का अर्थ फल के विषय में आशक्ति का अभाव है। अतः गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफल में त्याग का सिद्धान्त निकाला है। और दुनियां के सामने अत्यन्त आर्कषक भाषा में रखा है। गीता कोई सूत्र ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान धर्म काव्य है। हम उसमें जितने गहरे उतरेंगे उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ मिलेंगे। गीता जन समाज के लिए है। गांधी जी ने गीता पर जो अनुवाद लिखा है उसे वह अनाशक्ति योग कहते है। यह उसी तरह विचार है जिस तरह गांधी जी के पूर्व रामानुजाचार्य का गीता भाष्य, भक्तियोग और आचार्य शंकर का गीता भाष्य ज्ञानयोग कहलाता है। कहने का आशय है कि अनासक्तियोग एक परिणाम रूप में है न कि साधन रूप में। यहां योग का अर्थ पातंजलयोग सूत्र अथवा हठयोग के ग्रन्थों जैसा नहीं प्राप्त होता बल्कि श्रीमद् भागवतगीता के प्रत्येक अध्याय के नाम में योग शब्द जुडे रहने जैसा है क्योंकि ये ग्रन्थ मुक्ति प्रदायक है न कि बन्धनकारी।

एम०के० गांधी ने गीता के 18 अध्यायों को शरीर, मन आत्मा पर एक अनुभवात्मक घटना के रूप में प्रस्तुत किया है और इस परिणाम पर पहुचे है कि इससे एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिसे सब पुरूष स्त्रियां अपने आचरण में उतार सकते है परन्तु उनके लिए ऐसे धर्म को आचरण में उतारने की चाहना हो।

निष्कर्षतः एम०के०गांधी जी के वैचारिक दृष्टिकोण और क्रियाओं के आधार पर कहा ज सकता है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थ, अपने समकालीन पाश्चात्य उपचारक ग्रन्थ और धर्म ग्रन को स्मृति में रखते हुए आरोग्य, उपचार और योग पर जो विचारों का संग्रह कर रहे है वह अप जीवन में आत्मसात करते हुए सत्य का प्रयोग करते हुए कर रहे है। ये विचार मात्र नहीं है को कल्पना मात्र नहीं है बल्कि जीवन जीने हेतु एक अभ्यासिक दर्शन (प्रैक्टिकल फिलोसफी) है प्रस्तुत शोध पत्र में कही गयी यह कोई नयी बात नहीं है। क्योंकि गांधी जी ने इन सब विचा कों सत्य का प्रयोग कहा है फिर भी शोधपत्र का विषय वर्तमान काल में भी प्रासंगिक है औ भविष्य में भी रहेगा। ऐसा इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि जीवन के लिए मूलभूत विचार चा वह आरोग्यता, उपचार और अनाशक्ति योग का ही हो। परिणाम स्वरूप मुक्ति का कारण बनत है। अतः एम०के० गांधी का विचार प्रत्येक मनुष्य के लिए मूलपरक होने के कारण जीवनोपयोग है।

सन्दर्भ :–

1. गाँधी एम. के. कुदरती उपचार; नवजीवन प्रकाशन मंदिर; अहमदाबाद 2019
2. गाँधी एम. के. रामनाम; नवजीवन प्रकाशन मंदिर; अहमदाबाद 2019
3. गाँधी एम. के. आरोग्य की कुंजी; नवजीवन प्रकाशन मंदिर; अहमदाबाद 2018
4. गाँधी एम. के. अनासक्ति योग; नवजीवन प्रकाशन मंदिर; अहमदाबाद 2015
5. गाँधी एम. के. गीता की महिमा; सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन; नई दिल्ली 2019
6. गाँधी एम. के. आत्मकथा; नवजीवन प्रकाशन मंदिर; अहमदाबाद 2019

धर्मिक सहिष्णुता एवम् सार्वभौम धर्मः विवेकानंद के सन्दर्भ में

डॉ. सानू तिवारी
सी.एम.पी.डिग्री कालेज, प्रयागराज

प्राचीन काल से ही समस्त मानव समुदाय भिन्न–भिन्न धर्मों में विश्वास करते रहे है, यहां तक कि एक ही धर्म में अलग अलग धार्मिक संप्रदाय भी नजर आते हैं। किंतु धार्मिक सहिष्णुता को समझने से पहले धर्म और रिलीजन को समझना आवश्यक है। धर्म 'धृ' धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ होता है धारण करना आवश्यक क्यू है? धर्म को धारण करने से समाज में सुव्यवस्था और सामंजस्य की स्थिति बनती है। महाभारत में वेदव्यास ने कहा है–

धारणाद धर्म मित्यायु धर्मो धारयते प्रजाः। यस्याद धरणसायुक्त स धर्म इति निश्चय

अर्थात् धारण से धर्म शब्द बना है, धर्म प्रजा को धारण करता है। जो भी चीज जिसमे धारण करने की क्षमता है, वह निश्चित रूप से धर्म है। कणाद रचित वैशेषिक दर्शन में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है

यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक हो।

धर्म के प्रारंभिक अर्थ में ईश्वर या दैवीय सत्ता की बात नहीं आती है। धर्म के द्वितीयक अर्थ में ईश्वर और नैतिकता की अवधारण की बात जरूर आती है। जब हम रिलीजन की बात करते हैं तो वह रेलीगारे शब्द से बना है जिसका अर्थ होता होता है बांधना, ईश्वर या दैवीय सत्ता से अपने को बांधना ही रिलीजन कहलाता है। किंतु दुःख की बात यह है की धर्म के वास्तविक अर्थ को समझे बिना धर्म के नाम पर ही मानव समुदाय में संघर्ष चलता आ रहा है जिसके कारण सभी को हानि पहुंचती है। यही कारण है कि धार्मिक सहिष्णुता का पालन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम सहिष्णुता शब्द को समझना आवश्यक है। सहिष्णुता को अंग्रेजी में Tolerance कहते हैं अर्थात् जब हम किसी व्यक्ति, विचार सिद्धांत या आदर्श के विषय में सहिष्णु होने की बात करतें हैं तो हमारा तात्पर्य होता है कि हम केवल उसे सहन कर रहे हैं। हम वास्तव में उसे पसंद नही करते हैं। सहिष्णुता शब्द के स्पष्टीकरण से हम धार्मिक सहिष्णुता को भी समझ सकते हैं। जब विभिन्न धर्मों अथवा एक ही धर्म के अलग अलग संप्रदायों के अनुयायी परस्पर मिल कर शांतिपूर्वक रहते है एवं एक दूसरे के प्रति शत्रुता की भावना नहीं रखते हैं, तो वह धार्मिक सहिष्णुता कहलाता है। यहां यह स्पष्ट है कि शांति पूर्वक रहते तो हैं किंतु एक दूसरे के त्यौहार, उत्सव, धार्मिक मान्यता को पसंद नहीं करते हैं। लेकिन कभी कभी जब मनुष्य सहिष्णु नहीं रह जाता तभी धर्म के नाम पर रक्तपात होते हैं। इसीलिए धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता है ताकि लोग शांतिपूर्वक अपने अपने धर्म का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

धार्मिक सहिष्णुता गांधी जी के सर्व धर्म समभाव से भिन्न है। सर्वधर्म समभाव से गांधी जी का तात्पर्य यह है कि उन्हें एक दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए।

सर्वधर्म समभाव का शाब्दिक अर्थ भी है सभी धर्मों का सम्मान करते हुए उन्हें समान समझना तथा किसी भी धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट न मानना। यहां धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव में अंतर स्पष्ट है। हम कह सकते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता नाकारात्मक अवधारण है जबकि सर्व धर्म समभाव भावात्मक अवधारण है एवं हमारे लिए आदर्श है जिसे हमे प्राप्त करना है किंतु सर्व धर्म समभाव को प्राप्त करने से पहले हमें धार्मिक सहिष्णुता को अपनाना होगा, जब तक हम धार्मिक रूप से सहिष्णु नहीं होते हम सर्व समभाव को नहीं प्राप्त कर सकते।

जब हम विवेकानन्द के दर्शन में धर्म की बात करते हैं तो उनके अनुसार धर्म के दो पक्ष होते हैं, बाह्य पक्ष के स्थान पर आंतरकि पक्ष पर ज्यादा जोर देना चाहिए। विवेकानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ आध्यात्मिकता को जगाना है। सरल शब्दों में कहा जाए तो अपने इंद्रियों और बौद्धिक चेस्टाओं से ऊपर उठना होता है तथा उपने स्व को समझना है। अपने इंद्रियों पर आधारित कर्म करते रहेंगे हम धर्म के वास्ताविक रूप को नहीं समझा सकेंगे। इसीलिए विवेकानन्द वास्तविक धर्म और सांप्रदायिक धर्म में अंतर स्पष्ट करते है, वास्तविक धर्म को लेकर नहीं। जब अनावश्यक ढंग से धर्म को सीमित कर देते हैं और इसी संप्रदायगत धर्म के कारण ही संघर्ष होते रहते हैं जबकि वास्तविक धर्म संस्थाओं और संप्रदाय का धर्म नहीं है वह वास्तविक रूप से सवभौम धर्म है।

प्रायः सभी काल में धर्मों में आपसी संघर्ष होते रहे हैं क्योंकि हर धर्म अपने सिद्धांतों तथा अपने संप्रदाय को श्रेष्ठ समझता रहा है किंतु विवेकानंद का मानना था कि इन संघर्षों के साथ भी प्रत्येक धर्म जीवित रहा है। विभिन्न धर्मों के आपसी संघर्ष उन्हें मिटा नहीं पाए हैं। क्योंकि उनका मानना था कि धर्मो का यह संघर्ष वस्तुतः ऊपरी संघर्ष है, वे उनके मूल को प्रभावित नहीं करते हैं, क्यूंकि धर्मों का अंतर प्रभावित हुआ होता तो उनमें शिथिलता आती, सबलता नहीं आती। विवेकानंद का कहना है कि धर्मों की विभिन्नता तथा उनका आपसी मतभेद एवं विवाद धर्मों के लिए आवश्यक है। किंतु हम देखते हैं कि जितने भी धार्मिक संघर्ष होते हैं उनमें हमारी यह भावना निहित होती है कि हमारा धार्मिक विचार ही सत्य है एवम हमारा धर्म ही अनन्य है। हम अपने धार्मिक सिद्धांतों तथा मान्यताओं, धर्मग्रंथों को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, तो समस्या यही है कि सभी धर्म एक साथ कैसे सत्य हो सकते हैं। इस प्रश्न के समाधान में ही सार्वभौम धर्म का विचार उभरता है। अब सार्वभौम कहने का तात्पर्य है कि ऐसा धर्म हो जिसके द्वार सभी के लिए खुले हो और ऐसे सार्वभौम धर्म में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह सभी को संतुष्ट कर सके। लेकिन प्रश्न यही है कि क्या ऐसा सार्वभौम धर्म संभव है जो सभी के लिए उपने द्वारा खोले तथा हर किसी को बौद्धिक और भावनात्मक रूप से संतुष्ट कर सके तथा सभी लोग उसे खुले मन से अपना सकें। इस संदर्भ में विवेकानंद का कहना था कि ऐसा सार्वभौम धर्म वस्तुतः है। उनका मानना था कि हम धर्म के वाह्य कर्मकांडों में इतने उलझे हुए होते हैं कि हम सार्वभौम धर्म की उपस्थिति से अनभिज्ञ बने हुए हैं। वे कहते हैं कि सार्वभौम धर्म को समझने के लिए हमें पहले हम जिस धार्मिक विवादों में उलझे हुए हैं उनसे ऊपर उठे तथा यह जो अपने धर्म को श्रेष्ठ समझने की भावना निहित है उससे ऊपर उठें।

अगर हम सुक्षमतापूर्वक देखें तो विश्व के विभिन्न धर्मों में कोई मौलिक भेद तो है ही नही, वह एक दूसरे का खण्डन भी नहीं करते, वरन एक दूसरे कि बातों कि पुष्टि ही करते हैं। वे कहते हैं कि धर्म का केंद सत्य वह इतना व्यापक है कि एक साथ उसके सभी पक्षों पर विचार नही किया जा सकता है। सभी धर्म सत्य के किसी एक पक्ष या पहलू को देखते हैं और समझ बैठते हैं कि सत्य बस वही एक पक्ष है। यही धार्मिक विवाद का कारण भी बन जाता है। सभी धर्म सत्य के किसी एक पक्ष को विकसित करने का कार्य करते हैं तो सभी धर्म एक दूसरे के सहियोगी हैं, विरोधी नहीं। उनका कहना था कि सत्य को देखने में जो भेद नजर आता है उसकी वजह से हम यह नहीं कह सकते सत्य में भेद है। हम सिर्फ उपने अनुसार सत्य को देखते हैं किंतु सभी धर्मों में निरूपित सत्य एक ही है। विवेकानंद जी मानते थे कि सार्वभौम धर्म है या नहीं है इसकी संभावना पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सार्वभौम धर्म तो है ही। जिस प्रकार विश्वबंधुत्व की भावना वास्तव में है उसी प्रकार सर्वभौम धर्म है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि सार्वभौम धर्म के क्या लक्षण होते हैं या सार्वभौम धर्म मे सभी धर्मो के सार निहित होते हैं? इसके जवाब में उन्होंने कहा था जैसे इस्लाम धर्म में विश्व बंधुत्व पर बल दिया गया है, हिंदू धर्म में अध्यात्म पर सर्वाधिक बल दिया गया है, ईसाई धर्म में भी प्रेम को सर्वोपरि बताया गया है। किंतु इन सभी धर्मो की तुलना करके इनमे समानता पा लेना अत्यंत कठिन है। विवेकानन्द भी जब सार्वभौम धर्म की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य ऐसे धर्म से नहीं है जिससे सभी धर्मों के लक्षण विद्यमान हो, क्योंकि उन्हें पता था कि कोई ऐसा सार्वभौम धर्म या सार्वभौम रीति रिवाज संभव ही नहीं है, जिसका सभी लोग पालन कर सकें क्योंकि ये सब समुदाय और संस्था के अनुसार भिन्न हो ही जाते हैं।

विवेकानन्द के अनुसार जिस भी धर्म को हम स्वीकार करें हम उसके वाह्य स्वरूप पर ध्यान केंद्रित कने की बजाय उसकी अंतरिकता को समझने का प्रयास करें। जब हम धर्म के वाह्य पक्ष पर जोर देंगे तो वास्तव में कभी उस धर्म को नहीं समझ पाएंगे। इसके साथ वह ये भी कहते हैं हम उपने धर्म का पालन करें की हमारे लिए यह मार्ग उचित है तो हमने इसे अपनाया है किंतु अन्य मार्ग भी संभव है और अन्य लोग उसे अपना सकते हैं क्योंकि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग संभव है और सार्वभौम धर्म की महत्ता इसी मे निहित है कि हमारे मार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्गों की भी संभावना है, अपने मार्ग को महत्ता देने का अर्थ नहीं है कि अन्य धर्मों के द्वारा बंद हो गए हैं।

वस्तुतः सार्वभौम धर्म से उनका तात्पर्य स्वीकृति से है। यहां धार्मिक सहिष्णुता से इनका अंतर स्पष्ट है। जहां सहिष्णुता सहन करने या बर्दास्त करने के अर्थ में प्रयोग हुआ है जबकि विवेकानन्द कहते हैं की जब तक हम यह मानेंगे कि सहन करना है या पसंद नहीं तब तक स्वीकृति की भावना कदापि नहीं आ सकती है। वे कहते थे चार तत्त्वों में स्वीकृति होनी चाहिए–

1. हमें अपने धर्म के साथ साथ सभी धर्मों का सम्मान करना चाहिए।
2. हमें उपने धर्म ग्रंथों का भली भांति अध्ययन तो करना चाहिए साथ ही दूसरे धर्मों के ग्रंथों का भी अध्ययन करना चाहिए।

3. हमें अन्य धर्म के लोगों की पूजा पद्धति में सम्मिजित होना चाहिए ताकि हम उनका औचित्य समझ सकें।
4. अन्य धर्मों की अच्छी बातों को अपनाना चाहिए।

इन चारों तत्वों को अपनाने पर हम अपनी संकीर्णता से ऊपर उठ कर सही मायने में धर्म को समझ सकते हैं और यही विवेकानन्द के अनुसार सार्वभौम धर्म है।

सार्वभौम धर्म से उनका तात्पर्य किसी नवीन धर्म से नहीं है वरन हम अपनी संकीर्णता से ऊपर उठें तथा सभी धर्मों के प्रति स्वीकृति का भाव रखें तथा यह समझें की अन्य धर्मों से भी हमें अच्छी बातें सीखने को मिल सकती हैं और उसे मानने को हम तैयार रहें। विवेकानन्द कहते हैं सभी धर्म एक दुसरे से भिन्न हैं किंतु उन सभी में समानता का आधार है केंद्र बिंदु–ईश्वर। सभी धर्मों का परम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति ही है। हां यह हो सकता है कि ईश्वर शब्द का अर्थ भिन्न–भिन्न है। कहीं इसे व्यक्तित्वपूर्ण और सर्वशक्तिमान माना गया है तो कहीं इसे निर्वैक्तिक माना गया है। किंतु इससे ईश्वर की सत्ता नहीं परिवर्तित होती है।

हम निकर्षतः यह कह सकते हैं कि धार्मिक विवादों का मूल कारण सिर्फ यह है की हम धर्म के वास्तविक अर्थ को समझते नहीं हैं या उपेक्षा करते हैं। प्रत्येक धर्म के दो पक्ष होते हैं जैसा कि विवेकानन्द ने भी माना है बाह्य पक्ष और आंतरिक पक्ष। जितने भी कर्मकांड हैं उन्हें वाह्य पक्ष कहते हैं और धर्म के आंतरिक पक्ष का संबंध आध्यात्मिकता से है। किंतु हम धर्म के वाह्य पक्ष में ही इतने उलझे हुए रहते हैं की अंतरिक पक्ष को कभी देख ही नहीं पाते। जब तक हमारे अंदर यह भावना रहेगी की सिर्फ हमारा धर्म और हमारे धर्मगुरू, हमारे धर्मग्रंथ सर्वश्रेष्ठ हैं तक तक हम सर्वभौम धर्म को अपनाना तो दूर की बात है हम सहिष्णु भी नहीं रह जायेंगे। अतः आवश्यकता है की हम इस तथ्य को अपनाएं की जैसे हमारे धर्म में ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है वैसे ही अन्य धर्मों में भी वह मार्ग बताएं गए है। वस्तुतः सभी धर्मों कें मूल में एक ही बात कही गई होती है बस फर्क इतना है की जब कोई आत्मज्ञानी या दैवीय प्रकाशित व्यक्ति इसे जनता के सामने प्रस्तुत करता है या जब लिखित रूप देता है तो भाषा और तर्क के कारण विभिन्नता आ ही जाती है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है की धर्मो के मूल में अलग अलग बातें हैं। जिस दिन हम यह समझ जायेंगे उस दिन सही मायने में धर्म से संबंधित जितने विवाद हैं वह सभी समाप्त हो जायेंगे। अभी तो हम सिर्फ धर्म को उतना ही समझते हैं जितना हमें समझाया जाता है या जिससे हमारा स्वार्थ सिद्ध होता हो। वास्विक अर्थ मे हम जब धर्म को समझने लगेंगे उस दिन सर्वभौम धर्म को भी अपना लेंगे।

ऊपर की गई विवेचना के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक सहिष्णुता की सामान्य अवधारणा के मूल में धर्मों की विभिन्नता एवं पारस्परिक अंतर है जो धर्मों के वाह्य पक्ष से संबंध रखता है। इस भिन्नता एवं अंतर के कारण सभी व्यक्ति अपने धर्म को दूसरे धर्मो से श्रेष्ठ समझता है तथा परिणामस्वरूप अन्य धर्मों को कुछ अंशो में हेय भी समझता है। इस भावना के कारण अन्य धर्मों के प्रति नाकारात्मक भाव उत्पन्न होने स्वाभाविक है तथा इसीलिए समाज में शांति बनाए रखने के लिए इन नाकारात्मक भावों को दबाए रखना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रक्रिया को सभ्य भाषा में धार्मिक सहिष्णुता कहा जाता है। अतः

धार्मिक सहिष्णुता आदर्श भाव स्थिति नहीं दर्शाता है बल्की यह एक नाकारात्मक स्थिति का संकेत करता है। इसलिए धार्मिक सहिष्णुता एक वांछनीय स्थिति नहीं मानी जा सकती। इसके विपरीत विवेकानंद का सर्वभौम धर्म एक साकारात्मक आदर्श प्रस्तुत करता है। जिससे धर्म के केंद्रीय पक्ष अर्थात् आध्यात्मिक पक्ष को विशेष महत्त्व दिया जाता है। सभी धर्मों में उसके मूल में उस धर्म के संस्थापक व्यक्तियों की आध्यात्मिय स्थित होती है तथा इन्हीं अनुभूतियों के आधार पर दिए गए उनके उपदेश उस धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। धर्म के इस अंतरिक आध्यात्मिक पक्ष को उस धर्म के सतत् अभ्यास के उपरांत ही समझा जाता है। इसके लिए उस धर्म संबंधित बाह्य पक्ष का पालन भी अपरिहार्य होता है। किंतु उस धर्म का बाह्य पक्ष एक साधन की तरह कार्य करता है जिसका साध्य उस धर्म से संबंधित आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त करना है। धर्म के इस केंद्रीय पक्ष तक पहुंचन के बाद यह सामान्य अनुभव होता है कि वह ईश्वरीय परम तत्व सभी धर्म के लिए एक ही है एवं सभी धर्मों से संबंधित अनंत संभाव्य अनुभूतियों में से कुछ अनुभूतियां हैं। अतः आध्यात्मिक स्तर पर सभी धर्मों में एक सामंजस्य तथा नैसर्गिक तादात्म्य भाव पाया जा सकता है। इसी नैसर्गिक तादात्म्य भाव को विवेकानंद ने सर्वभौम धर्म के नाम से संकेतिक किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विवेकानंद के सर्वभौम धर्म की परिकल्पना किसी नए धर्म की प्रस्तुति नहीं है बल्कि सभी धर्म के केंद्रीत मिलन बिंदु पर स्थित ईश्वरीय परम् तत्व की उपस्थिति है। अतः सार्वभौम धर्म की प्राप्ति सभी धर्मों के अनुयाई उपने उपने धर्मों की निष्ठापूर्वक सतत् साधना से प्राप्त कर सकते हैं तथा इसकी प्राप्ति से नैसर्गिक रूप से सभी धर्मों के प्रति सम्मान एवं सद्भाव उत्पन्न होता है। इसलिए सर्वभौम धर्म एक ऐसी धार्मिक स्थिति एवं भावना को दिखाता है जो धर्म के मूल तत्व से संबंधित तथा साकारात्मक है तथा सांप्रदायिक धर्मों से संबंधित विवादों को समूल नष्ट करने की शक्ति रखता है। आज के परिप्रेक्ष्य में विवेकानंद के सर्वभौम धर्म की प्रासंगिकता को समझाने की आवश्यकात ही नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा, वेद प्रकाश, धर्म दर्शन की मूल समस्याएं, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 2012.
2. पांडे, ऋषिकांत, धर्म दर्शन, पीयरसन, दिल्ली, 2016
3. लाल, बसंत कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बना रसीदास, दिल्ली, 2009
4. सिंह, शिवभानु, धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2017
5. मसीह, याकूब, सामान्य धर्मदर्शन एवं दार्शनिक विश्लेषण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1997
6. शर्मा, लक्ष्मीनिधि, धर्मदर्शन की रूपरेखा, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000
7. Hick, john, philosophy of Religion, Prentice Hell, New Jersey, 1990
8. Keith, Arthur Berriedale, The Religion and Philosophy of the Veda and Upnishads, The Harvard Oriental press, Oxford University, 1925
9. Yandell, Keith E., Philosophy of Religion, London and New York, 1999

पं. दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन में धर्म का स्वरूप

डॉ. वन्दना का
व्याख्या
शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्याल
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय परिसर, रायपु
जिला रायपुर (छ.ग.)

सोने वाले कलयुग का, विस्तर से उठने वाले द्वापरयुग का, उठकर खड़े होने वा त्रेतायुग का और आगे चलने वाले सतयुग का परिचायक है। इस प्रकार का मूलमंत्र लगात अपने विचारों में, चिंतन में और कर्मों में चरितार्थ कर दिखाने वाले नवोज्ज्वल भारत क महानायक पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ही हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के दर्शन में धर्म क स्वरूप के व्याख्या के पूर्व धर्म शब्द के अर्थ को समझना अधिक उपयुक्त होगा।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ अत्यंत ही व्यापक है। पर यह उर्दू क मजहब या अंग्रेजी के रिलीजन का पर्यायवाची नहीं है। धर्म का अभिप्राय है– धार्मिक विश्वा और कर्तव्य। वैदिक विद्वानों के अनुसार 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धी हो अभ्युदय से लौकिक तथा निःश्रेयस से पारलौकिक दोनो पहलुओं से संबंधित है। धर्म उ सिद्धान्तों, तत्वों तथा जीवन प्रणाली को कह सकते हैं, जिससे मानव जाति परमात्मा प्रद शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके। साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्म जन्म–मरण के झंझटों में न पड़कर शांति एवं सुख का अनुभव कर सके।

भीष्म पितामह ने महाभारत के शांतिपर्व में धर्म की व्याख्या करते हुए बताया है कि– 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अभ्युदय, अपीड़न और धार अर्थात् संरक्षण जिस उपाय से हो, वही धर्म है। धर्म में तो वह क्षमता है, जिससे जगत क संरक्षण होता है। धर्म के कारण ही व्यक्ति अपने स्थान और अपने पद पर बने रहते हैं। ज जगत की स्थिति का कारण हो और प्राणियों की प्रत्यक्ष उन्नति एवं मोक्ष प्राप्ति का हेतु बने, व धर्म है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए ए.एन.कृष्ण अयंगार ने लिखा है कि धर्म का तात्पर्य है मर्यादा बनाए रखना, पोषण करना तथा संचाल करना। उनके अनुसार धर्म के पांच प्रकार हैं– वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, नैमित्तिक धर्म और गुण धर्म। इनका प्रथम और अंतिम स्रो वेद और श्रुति है। हिन्दुओं के लिए वेद ही संपूर्ण ज्ञान और धर्म के स्रोत हैं। उसके पश्चा धर्मशास्त्र आते हैं।

एक अन्य स्थान पर महाभारत में शील को ही धर्म का कारण बताया है। शील से ह तीनो लोक जीते जा सकते हैं। मन, वचन और कर्म से समस्त प्राणियों के विषय में अनिष्ट आचरण न करना। कृपा व दान आदि शील के लक्षण हैं। मनुस्मृति के अनुसार धर्म के द लक्षण इस प्रकार हैं – धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, ज्ञान विद्या, सत्य औ

क्रोध का त्याग। श्रीमद्भग्वद्गीता के अनुसार यज्ञ, दान एवं तप रूप कर्म अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर की अखंड व अनन्य भाव से सेवा ही धर्म है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त प्राणियों का संरक्षण तथा उन्नति होती है, वही धर्म है।

पं.दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार – धर्म का संबंध केवल मंदिर मस्जिद से नहीं है। उपासना, व्यक्ति धर्म का एक अंग हो सकती है किन्तु धर्म तो व्यापक है। मंदिर–मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं है, वैसे ही मंदिर–मस्जिद धर्म से भिन्न हैं। हो सकता है कोई बालक प्रतिदिन पाठशाला जाए और फिर भी अनपढ़ रह जाए। उसी प्रकार मंदिर–मस्जिद में जाना मत मजहब रिलीजन है। रिलीजन को बहुत बार लोगों ने धर्म मान लिया। अंग्रेजी अनुवाद के कारण हमारी जो बहुत सी हानियाँ हुई हैं उनमें से एक बहुत बड़ी हानि यह भी है।

धर्म मजहब नहीं होताः

एक ओर तो रिलीजन को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर उपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का अधिकाधिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गया। फलतः रिलीजन के जितने सहचारी भाव हैं, वे हमने धर्म पर आरोपित कर दिए। रिलीजन यानी मत, पंथ, मजहब। यह एक धर्म नहीं है। धर्म तो व्यापक तत्व है। वह जीवन के सभी पहलूओं से संबंध रखने वाला तत्व है। उससे समाज की धारणा होती है और आगे बढ़े तो सृष्टि की धारणा होती है। यह धारण करने वाल जो वस्तु है, वह धर्म है।'

धर्म के तत्व सनातन व सर्वव्यापी।

धर्म के मूलभूत तत्व सनातन व सर्वव्यापी हैं। हाँ, उनका व्यवहार देश, काल, परिस्थिति सापेक्ष होता है। मनुष्य को शरीर धारण करने के लिए भोजन करना चाहिए। यह नियम शाश्वत है, किंतु व्यक्ति विशेष को कब, कैसा और कितना भोजन करना चाहिए, यह परिस्थिति–सापेक्ष होगा। कभी–कभी ऐसा भी हो सकता है कि भोजन नहीं चाहिए किसी व्यक्ति को टायफाइड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जाएगी। उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा। उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाएगा। इस प्रकार धर्म के जो नियम हैं, उनका व्यवहार समय के साथ, युग के साथ बदलता रहता है, इसलिए देश–काल के आधार पर इन नियमों का पालन करना चाहिए।

धर्म की परिधि में संपूर्ण मानवता और उसकी प्रकृति सन्निहित है :

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के धर्म की परिधि में केवल मानवीय समाज राज्य, राष्ट्र ही नहीं आते वरन् इसके अंतर्गत मानव की संपूर्ण प्रकृति ही आ जाती है। कोई भी नियम प्रकृति के प्रतिकूल नहीं हो सकता। ऐसे बहुत से व्यवहार हैं, जिसके नियम किसी विधिशास्त्र में लिखे नहीं होते किन्तु होते अवश्य हैं। शायद ये नियम कानूनों से भी अधिक प्रभावी और बंधनकारी होते हैं। उपने माता–पिता का आदर करना चाहिए, यह किसी कानून में नहीं लिखा। आजकल की सरकारें, जो बड़ी तेजी से तरह–तरह के कानून बना रही हैं, उन्होंने भी इस विषय में कोई

कानून नहीं बनाया। इतने कानून बनने के बाद भी ऐसा कोई कानून नहीं बना कि माता–पिता का आदर करो और कहना मानो। फिर भी माता–पिता का आदर करते हैं। न करने वाले को कोई अच्छा नहीं कहता। उन्हें बुरा माना जाता है। कल ऐसा ही कोई प्रश्न आकर खड़ा हो जाए तो न्यायालय में भी सामान्यतः यह मानेंगे कि माता–पिता का जब तक संतान का वयस्क न होने के कारण उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न कर लिया गया हो, उसे कहना मानना चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए।

वैधता का निर्णायक धर्म है :

पं. दीनदयाल उपाध्याय स्पष्ट रूप से कहना चाहते हैं कि इस प्रकार का विधान, जो आधारभूत, प्राकृतिक और आदिरूप है, वही सब वस्तुओं और व्यवहार की नियमाकूलता तथा वैधता का निर्णायक है। इस विधान को ही हमारे यहाँ धर्म कहा जाता है। इनेट लॉ (Innate Law) धर्म का निकटतम पर्याय हो सकता है, किन्तु फिर भी वह धर्म के पूरे भाप प्रकट करने में असमर्थ है। धर्म की प्रभुता होने के कारण हमारे राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' है। राजा धर्म रक्षा करने के लिए है। जब प्राचीन काल में राजा का अभिषेक हुआ करता था तो वह खड़ा होकर कहता था – "अदण्डयोऽस्मि! अदण्डयोऽस्मि!! अदण्डयोऽस्मि!!!" अर्थात् मुझे कोई दण्ड नहीं दे सकता। वही बात, जो पश्चिम का राजा कहा करता था। वहाँ भी राजा कहा करता था कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, इसलिए राजा को कोई दण्ड नहीं दे सकता। राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में एक पलाश का दण्ड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, "धर्म दण्ड्योसी! धर्मदण्ड्योसी!! धर्म दण्ड्योसी!!!" कि तेरे ऊपर भी दंड है यह धर्म का दण्ड है। तू अदंड्य नहीं है। राजा भागता था तथा वेदी परिक्रमा करता था और पुरोहित उसकी पीठ पर पलाश का डंडा मारता जाता था। तीन चक्कर लगाने के बाद यह विधि समाप्त होती थी। उसे ज्ञात हो जाता था कि उसके ऊपर भी धर्म का दण्ड है। राजा अदंड्य नहीं।

इस प्रकार जनता भी मनमानी कर सकती है क्या? लोग कहेंगे कि हाँ, जनतंत्र का अर्थ यही है। जनता चाहे जो करे, किन्तु हमारे यहाँ जनता चाहे भी तो अधर्म नहीं कर सकती। एक बार एक धर्म–प्रचारक से लोग प्रश्न पूछ रहे थे। उनका कहना था – ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है? ईश्वर अधर्म नहीं कर सकता। यदि करेगा तो सर्वशक्तिमान नहीं रहेगा। अधर्म शक्ति का नहीं, दुर्बलता का द्योतक है। आग यदि बुझने लगे तो शक्तिशाली नहीं रहेगी। शक्ति मनमानी करने में नहीं, संयमपूर्ण व्यवहार में है, अतः सर्वशक्तिमान परमेश्वर संपूर्ण संयमी अर्थात् पूर्ण धर्ममय है। ईश्वर जब जन्म लेता है तो मनमानी करने के लिए नहीं, वरन् अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए ही। ईश्वर का अवतार धर्म के लिए होता है। इसलिए भी सब कुछ कर सकता है, परन्तु अधर्म नहीं कर सकता। यदि बुरा न लगे तो कह सकते हैं कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है। हव धर्म से चलता है, इसलिए सृष्टि चलती है। राजा धर्म–राज्य के प्रमुख के नाते ही विष्णु है।[2]

कहा भी गया है कि–सुखस्य मूलम् धर्मः, धर्मस्य मूलम् अर्थः।

अर्थस्य मूलम् राज्यम्, राज्यस्य मूलम् इंद्रिय जयः।।

धर्म सुख का कारण है, अर्थ धर्म का कारण है, राज्य से अर्थ की प्राप्ति होती है और राज्य का आधार इन्द्रियों पर नियंत्रण है।

इस श्लोक के विश्लेषण से निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य, धर्म और अर्थ आदि सभी व्यवस्थाएँ प्रमुख रूप से मनुष्य को सुख प्रदान करने के लिए है। दीनदयाल जी भी सुख के संबंध में लिखते हैं– "वैसे तो संपूर्ण सृष्टि ही आनंदमय है, प्रत्येक प्राणी वही कार्य करता है, जो उसके लिए सुखकारक है। प्राणी ही क्यों जड़ पदार्थों में भी जितना कुछ होता है, वह सभी आनंद प्राप्ति के लिए है। संपूर्ण चराचर सृष्टि में एक ही आनंद का नाद गुंजित हो रहा है। साधारण जीवधारी अन्य प्राणी भी सुख के लिए ही क्रियाएँ करते हैं। कुत्ते को डंडा दिखाया, तो वह भागता है और रोटी दिखाई तो वह समीप आता है। एक समय भागने और दूसरे समय सपीम आने की यह क्रिया उसकी सुख–कामना ही है।"[3]

पं. दीनदयाल जी के अनुसार सुख चार प्रकार के हैं– भौतिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक, जिसे शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का सुख कहा जाता है। इन चारों सुखों की प्राप्ति में ही मनुष्य सुख का अनुभव करता है। परन्तु इनमें संतुलन बनाए रखना अत्यंत ही कठिन कार्य है। साथ ही अधिकांश सुखों की प्राप्ति मनुष्य अकेले नहीं कर सकता और इसीलिए समाज के साथ उसके संबंधों का प्रश्न उपस्थित होता है। सुख की भावना मनुष्य में आकर्षण तथा दुःख की भावना विकर्षण पैदा करती है। अतः मनुष्य उन कार्यों से बचना चाहता है, जो दुःख के कारण हैं और उन कार्यों की तरफ उत्प्रेरित होता है, जिनसे उन्हें सुख की प्राप्ति होती है। अतः स्थायी, समग्र एवं एकात्म सुख ही मनुष्य का वास्तविक सुख है।

संदर्भः–

1. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक चिन्तन– डॉ. विनोद चन्द्र पाठक, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली भारत, पेज 141
2. एकात्म मानववाद विवेचन दीनदयाल उपाध्याय– प्रकाशकः पं.दीनदयाल उपाध्याय मानव अध्ययन शोधपीठ कुशभाऊ ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय काठाडीह, रायपुर, पेज 41
3. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का राजतीतिक चिन्तन– डॉ.विनोद चन्द्र पाठक, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली भारत, पेज 137

योग संप्रत्यय की चिकित्सा दर्शन विषयक अवधारणा

डॉ.देवेन्द्र जाटव
निदेशक, आनन्द योग संस्थान
जबलपुर (म.प्र.)

समदोष–समधातू–समअग्निश्च मलः क्रियैः प्रसन्नात्ममेंइंद्रियमनः स्वस्थ इत्यअभिधीयते।[1] (चरक सूत्र 4:3) इस प्रकार चरक सूत्र के अनुसार स्वास्थ्य की अवधारणा में उल्लेख किया गया है कि त्रिदोषों, धातुओं एवं अग्नि इत्यादि तत्व में साम्यता इसके साथ ही मन की प्रसन्नता जैसे लक्षण स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक तथा सामाजिक संतुलन को स्वास्थ्य कहा गया है। योग संप्रत्यय का सीधा संबंध हमारे सामाजिक शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक कल्याण से है। भगवत गीता के अध्याय 6:21 के अनुसार योग द्वारा दुखों की निवृत्ति होती है। भगवत गीता के अध्याय 2:65 के अनुसार आनंद प्राप्ति के उपाय भी बताए गए।[3] समत्व का भाव तथा कर्म में कुशलता जैसे उपाय क्रमशः भगवत गीता के अध्याय 2:48 एवं 2:50 में उपदिष्ट हैं।[4]

भाव एवं अभाव जीवन में सदैव द्वैत के स्वरूप में संयुक्त रूप से रहते हैं जबकि मनुष्य का मन इसके एकांकी स्वरूप को स्वीकार करता है। भय से ग्रसित मन क्रोध रूपी व्याधि से दूषित होकर अपनी रक्षात्मक प्रणाली को दोष युक्त कर लेता है। मन का कार्य है हमें हमारी उचित आवश्यकताओं का ज्ञान कराना जैसे ही हम उचित आवश्यकताओं के स्थान पर अनुचित आवश्यकताओं को अपने जीवन में सम्मिलित कर लेते हैं वैसे ही हमारे मन की प्रकृति दूषित होकर हमें उद्वेलित करती हैं जिससे मन पुनः अपनी आवश्यकता निर्धारण की मूल प्रकृति से विमुख होकर लालच से ग्रसित हो जाता है। परिणामतः मन अनेक दोषपूर्ण व्यवहारिक वृत्तियों से परेशान हो जाता है।

अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशः क्लेशः।[5] (पतंजलि योग सूत्र 2.3) योग की मूल अवधारणा अनुसार उपरोक्त पांच प्रकार के क्लेश क्रमशः अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश के अंतर्गत मानवीय जीवन की समस्त कठिनाइयों को वर्गीकृत करते हुए उपाय या निदान विषयक योग आधारित सूत्र सुझाए गए। इनसे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय योग परंपरा के अंतर्गत शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक एवं सामाजिक रूप से मानवीय चेतना के परिष्कार हेतु निदान सुझाए गए थे। जिससे योग विषयक चिकित्सा दर्शन की पुष्टि हो जाती है। कालांतर में औषधीय चिकित्सा पद्धति को ही चिकित्सा का मूल रूप समझा गया है इसलिए योग के इस गैर औषधि चिकित्सा दर्शन का प्रमाणीकरण अति आवश्यक हो जाता है।

मन में स्थित मोह की प्रकृति हमें अपने जीवन में स्नेह प्रेम के तत्वों से युक्त बनाने के लिए हैं जबकि इसके दूषित होने पर व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति से अलग होकर अति चिंता पूर्वक भय को आमंत्रित करता है। सृष्टि के समस्त कार्य प्रकृति से संचालित होते हैं। मन की सात्विक

प्रकृति हमें स्वस्थ एवं निरोगी काया प्रदान करती है । आचरण व्यवहार के कौशल में अतिवाद राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं अथवा अन्य महत्वाकांक्षाओं उत्पन्न हो जाता है जिससे सात्विक मन राजसिक चेतना में परिणित हो जाता है। मन के राजसिक होने पर व्याधियों का बीज अंकुरित हो जाता है। भारतीय परंपरा में वैराग्य की अवधारणा का कारण भी सात्विक मन को धारण करना है।

मानवीय शरीर में स्थित अंतः स्त्रावी प्रणाली मानवीय चेतना की प्रकृति में उत्पन्न विकृतियों का नियंत्रण करने में सहायक है मधुमेह के प्रबंधन के निमित्त कारण पेनक्रियाज ग्लैंड का अध्ययन किया जाता है किंतु इसकी उत्पत्ति के कारण तत्व को समझने के लिए पंचतत्व प्रणाली को समझना आवश्यक है। सर्वाधिक भार युक्त तत्व है पृथ्वी इसके बाद जल, अग्नि, वायु एवं आकाश तत्वों का क्रमिक निर्धारण किया जाता है। मधुमेह जैसे विकार का केंद्र मणिपुर चक्र है। मणिपुर चक्र का प्रतिनिधित्व अग्नि तत्व करता है। अग्नि तत्व के कुपित होने पर पेनक्रियाज ग्लैंड दूषित होकर अपनी प्रकृति से विमुख हो जाती है और मधुमेह नामक व्याधि को उत्पन्न करती है। मणिपुर चक्र एवं संबंधित नाड़ियों के दूषित होने के पूर्व मानवीय चेतना का मनोकाइक रुप से दूषित होना इसका प्रमुख कारण है। इस प्रकार सात्विक आचरण को विशेष महत्व दिया जाता है सात्विकता के अभाव में पंच तत्वों का ताना–बाना असंगठित होकर दूषित हो जाता है जिससे रोग एवं व्याधियाँ शरीर व मन को ग्रसित कर देती हैं।

क्लिष्ट कर्म पंच तत्वों पर आधारित शरीर तथा पंच ज्ञानेंद्रियों कर्मेंद्रिय एवं तन्मत्त युक्त मनोकाया को दूषित करते हैं यह दोष कालांतर में रोग के रूप में परिलक्षित होते हैं जिसके निमित्त संपूर्ण चिकित्सा दर्शन को आधार प्रदान किया जाता है। योग चिकित्सा दर्शन अन्य चिकित्सा प्रणालियों की तुलना में गैर औषधीय विधि से उपचार करने का उपदेश प्रदान करता है। जबकि इसके लिए रोगी होना अनिवार्य नहीं है योग संप्रत्यय हमें कर्म कुशल बनाने में समर्थ है शरीर को निरोगी तथा चित् को एकाग्र बनाने में भी सहायक है।

मानवीय अंतःकरण के मूल तत्व जैसे मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार बाह्य आभ्यंतर दृष्टि से कार्य करते है। स्थूल शरीर अन्न प्राण एवं मनोमय कोष पर निर्भर होते हुए कार्यकुशलता पूर्वक कर्म करते हैं जबकि सूक्ष्म शरीर के निमित्त विज्ञान तथा आनंद कोष क्रियाशील रहते हैं

योग संप्रत्यय का संयम से गहरा नाता है प्रमाण, निष्पर्य विकल्प, निद्रा एवं स्मृति जैसी पांच वृत्तियों पर संयम का अंकुश लगाकर ही योगश्चित्तवृत्ति निरोधः की अवधारणा को प्राप्त किया जा सकता है चित् वृत्तियों पर पूर्णत संयम ही योग का परम लक्ष्य है यह एकाग्रता मानवीय चित् की मुढ़ता एवं विक्षिप्त जैसी मानसिक अवस्थाओं से रक्षा करती है। समस्त आधी व्याधि का स्रोत है हमारा मन, मन की पूर्ण परिपक्व प्रणाली शरीर के गहरे से गहरे रोग को नष्ट करने में समर्थ हो सकती है किंतु मन की इस व्यवस्था को अर्जित करना अति दुर्लभ है यही कारण है की शत–प्रतिशत जैविक जीवन प्रणाली को सक्रियता प्रदान करने विषयक जीवन शैली हेतु एक योगी वैराग्य पूर्वक चित्त की एकाग्रता को साधने में लीन होता है।

योग संप्रत्यय की धारणा हेतु योग मार्गी समस्त तामसिक राजसिक गुण दोषों का परिहार करते हुए सत्य में चित् को स्थित करने का कार्य करते हैं। योग के सभी अंग पंथ एवं

परंपराएं योग पूर्ण आचरण हेतु आसन प्राणायाम मुद्रा बंध षट्कर्म तथा यम, नियम इत्यादि योग के शास्त्र का अनुसरण करते हुए धारणा, ध्यान एवं समाधि के बल पर मानवीय चेतना के परिष्कार जैसे कठिनाई पूर्ण कार्य करते हैं। इस प्रकार तामसिक एवं राजसिक वृत्तियों में परस्पर गैर संतुलन कारी आचरण हमें रोग युक्त बनाता है योग की अवधारणा के अनुरूप ज्ञान कर्म एवं भक्ति का समन्वय कारी आचरण हमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणीधान के मार्ग पर चलकर स्वार्थ से परमार्थ की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

चित्त की उच्च्य अवस्था को अर्जित करने वाला मनुष्य अंततः आत्मिक शरणागति गुरु कृपा एवं योग बल से युक्त संकल्प की शक्ति द्वारा समस्त विकारों एवं विकृतियों पर अंकुश लगाने में सफल होता है। परिणामतः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनहद, विशुद्ध, आज्ञा एवं शहस्त्रशस्त्र चक्रों की प्रकृति का प्राकृतिक संयमन करते हुए एक योगी एकाग्रता को धारण कर आनंद की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। इस आनंद युक्त चित्त की अवस्था का पर्यायवाची स्वरूप ही निरोगी काया तथा आध्यात्मिक आचरण से है इसके अतिरिक्त शेष मात्र आडंबर एवं रूढ़ियों से ग्रसित हैं।

भारत की पृष्ठभूमि पर नाथयोग, राजयोग, हठयोग, बौद्ध योग एवं महावीर योग प्रणीत योग् की अनंत अवधारणाएं हैं जिनमें चित्त की एकाग्रता व्रतियों पर नियंत्रण एवं कर्म कुशल होने के उपदेश पाए जाते हैं। जिनका परम लक्ष्य बिना किसी रोग एवं दोष के शरीर को योग युक्त बनाना है प्राणिक शरीर को मनोकायक की तरंगों से होते हुए विज्ञान की प्रज्ञावान दृष्टि को प्राप्त करना है इस प्रकार जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चित्त को तुरियातीत बनाना है।

योग की संप्रत्यात्मकता चेतन अवचेतन अति चेतन के स्वरूप को समरूप कर चित्त की वृत्तियों का शमन करते हुए समाधि और संयम की प्राप्ति पर बल देती हैं। ध्यानस्त्थत चित्त समाधि एवं मानसिक शांति के अभाव में संभव नहीं है इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने पर कष्ट कारी व्रतियों की वृद्धि में सहायक कर्म निषिद्ध कर्म होंग इसके विपरीत शेष कर्म कुशल कर्म की श्रेणी में होंगे। ज्ञान कर्म एवं भक्ति योग की अवधारणा कुशल कर्म तथा कार्यों की ओर हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं। योग शास्त्र का अनुसरण औषधि रहित जीवन शैली का मार्ग है जिसमें आजीवन निरोगी काया एवं शांत चित्त पूर्वक जीवन जीने का कुशल योग मार्ग अभीष्ट के रूप में प्राप्त होता है। अतः योग चिकित्सा शास्त्र का आधुनिक स्वरूप योग चिकित्सा दर्शन के रूप में देखा जा सकता है।

संदर्भ सूची–

1. चरक सूत्र 4:3
2. भगवद्गीता 6:21
3. भगवद्गीता 2:65
4. भगवद्गीता 2:48, 2:50
5. पतंजलीयोग सूत्र 2.3

"ओशो का शिक्षा दर्शन"

डॉ. रश्मि पटेल
स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोधविभाग,
दर्शन–शास्त्र, रानी दुर्गावती वि.वि.
जबलपुर, म.प्र

ओशो रजनीश जिनका मूलतः नाम चन्द्रमोहन जैन था, जिन्हें विशेषकर ओशो रजनीश के नाम से जाना जाता है, इन्हें भारतीय विचारक तथा आध्यात्मिक शिक्षक के रूप में जाना जाता है ओशो ने बहुतायत संतो तथा दार्शनिको के विचारो को अपनी भाषा में सरलीकरण किया, तेजस्वी वाणी तथा उनके ज्ञान ने भारत तथा अन्य देशों की जनता को उनके विचारों ने प्रभावित किया युवा ओशों ने अपनी अलौकिक बुद्धि तथा दृढ़ता से पंडित तथा पुरोहितों, पादरीयों जो स्वभाव के बिना ही भीड़ के अगुआ बन बैठे थे। मूढ़ता एवं पाखण्ड का पर्दाफाश किया। ओशो ने ज्ञान के संदर्भ कई तथ्यों को उजागर किया, जिसमें विद्यार्थी के लिए उन्होंने मूलतः प्रतिस्पर्धा की बात की।

जीवन जीने के लिए और जीवन में आगे बढ़ने के लिए व्यक्ति को बहुत सी परेशानियों का सामना करना होता है। जिसमें सर्वप्रथम प्रतियोगिता है प्रतियोगिता एक छोटे से बच्चे से लेकर युवावस्था तक भी व्यक्ति को उसका सामना करना होता है इसी संदर्भ में ओशो कहते है, बिना किसी प्रतियोगिता के, बिना किसी तुलना के शिक्षा का प्रचार प्रसार होना चाहिए, प्रतिस्पर्धा से ही लोगो के बीच वैमनस्यता, अहंकार, द्वेष का कारण बनता है क्योंकि कहा जाता है कि तुम उस व्यक्ति के मुकाबले कमजोर हो दूसरा व्यक्ति अधिक बुद्धिमान है। ये सारी तुलनाएं खतरनाक होती है क्योंकि ऐसा होने से व्यक्ति हताश एवं निराश हो जाता है, उसके आगे बढ़ने का उत्साह खत्म होने लगता है अतः ऐसी शिक्षा ओशो के अनुसार सही नहीं है।[1]

ओशो के विचारानुसार शिक्षा ऐसी हो जो हमें ज्ञान देनें के साथ ही साथ सबसे प्रेम करना सिखाए एक दूसरे के प्रति द्वेष न हो, मनुष्य का सम्मान करें। ओहदों या पदों का सम्मान न होकर मानव एक दूसरे का सम्मान करें। प्रत्येक व्यक्ति जो जैसा हो उसे हम वैसा ही स्वीकार करे। क्योंकि प्रत्येंक व्यक्ति अपने आप में विशेष है, 'एक पौधा गुलाब का है और एक घास का पौधा है जिसमें घास का छोटा सा फूल खिलता है लेकिन उसकी भी अपनी गारिमा है उसका अपना आनन्द है रहस्य पूर्ण और महत्वपूर्ण यह है, कि गुलाब के फूल का अपना आनन्द है खिलने में तथा घास के फूल का अपना आनन्द है खिलने में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक अनोखी कृति है परमात्मा की ओर उसकी हमें स्वीकृति होनी चाहिए और यह ध्यान होना चाहिए हमारी पूरी शिक्षा हमारी पूर्ण संस्कृति और सभ्यता उसके भीतर छिपी है उसे निकालकर बाहर ले आए उसके भीतर कुछ छिपा न रह जाए और यह प्रतिस्पर्धा के द्वारा नहीं बल्कि सहज प्रेम और आनन्द के द्वारा ही संभव है।[2]

जिस प्रकार अन्य दार्शनिको ने तथा समाज सुधारको ने भारत में चल रही धार्मिक कुरीतियों तथा अंधविश्वास का निराकरण करने का प्रयास किया था जिनमें विशेषकर राजा राम मोहन राय, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गाँधी इत्यादि शामिल है उन्हीं में ओशो का भी नाम शामिल है। इन्होनें भी अपनी ओजस्वी वाणी से जनता को धर्म से अवगत कराया। धार्मिक शिक्षा से अवगत कराते हुए ओशो का कहना था कि कोई स्वस्थ व्यक्ति न तो हिन्दू होता है, न जैन होता है, न मुसलमान होता है धार्मिक होता है, यदि हम जिस भी प्रकार से शुद्ध शांत होना चाहते है या धार्मिक होना चाहते है या फिर जिस भांति भी मन शांत होगा और जिस प्रकार भी ज्ञान उपलब्ध होगा उससे ही धीरे धीरे मन भी शांत व निर्मल होता जाएगा। ओशो के कथनानुसार भौतिकवाद तथा धर्म अगर दोनों को साथ में लेकर चला जाए तो व्यक्ति अंदर से सुखी हो सकता है और आर्थिक दृष्टि से भी अपने राष्ट्र को समृद्धशाली बना सकता है।[3]

संदर्भ ग्रन्थ–

1 ओशो–शिक्षा में क्रान्ति

2 शिक्षा में क्रान्ति

3. शिक्षा और जागरण

डॉ. बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर का दार्शनिक चिंतन

डॉ. रमेश कुमार साकेत
रीवा (म.प्र.)

भीमराव रामजी अम्बेडकर (14 अप्रैल, 1897–6 दिसंबर, 1956), डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर नाम से लोकप्रिय, भारतीय बहुज्ञ, विधिवेत्ता, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, और समाजसुधारक थे। उन्होंने दलित बौद्ध आन्दोलन को प्रेरित किया और अछूतों (दलितों) से सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध अभियान चलाया था। श्रमिकों, किसानों और महिलाओं के अधिकारों का समर्थन भी किया था। वे स्वतंत्र भारत के प्रथम विधि एवं न्याय मन्त्री, भारतीय संविधान के जनक एवं भारत गणराज्य के निर्माताओं में से एक थे। अम्बेडकर विपुल प्रतिभा के छात्र थे। उन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स दोनों ही विश्वविद्यालयों से अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त की तथा विधि, अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान में शोध कार्य भी किये थे। व्यावसायिक जीवन राजनीतिक गतिविधियों में अधिक बीता। इसके बाद अम्बेडकर भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रचार और चर्चाओं में शामिल हो गए और पत्रिकाओं को प्रकाशित करने, राजनीतिक अधिकारों की वकालत करने और दलितों के लिए सामाजिक स्वतंत्रता की वकालत की और भारत के निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा।

हिन्दू पन्थ में व्याप्त कुरुतियों और छुआछूत की प्रथा से तंग आकर सन् 1956 में उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया था। सन् 1990 में, उन्हें भारत रत्न, भारत के सर्वोच्च नागरिक सम्मान से मरणोपरान्त सम्मानित किया गया था। 14 अप्रैल को उनका जन्म दिवस अम्बेडकर जयन्ती के तौर पर भारत समेत दुनिया भर में मनाया जाता है। डॉक्टर अम्बेडकर की विरासत में लोकप्रिय संस्कृति में कई स्मारक और चित्रण शामिल हैं। रमाबाई अम्बेडकर, अम्बेडकर की पत्नी रामजी सकपाल परिवार के साथ बंबई (अब मुंबई) चले आये। अप्रैल 1906 में, जब भीमराव लगभग 15 वर्ष आयु के थे, तो नौ साल की लड़की रमाबाई से उनकी शादी कराई गई थी। तब वे पांचवी कक्षा पढ़ रहे थे। उन दिनों भारत में बाल–विाह का प्रचलन था।

छुआछुत के विरुद्ध संघर्ष

अम्बेडकर ने कहा था "छुआछूत गुलामी से भी बदतर है। अम्बेडकर बड़ौदा के रियासत राज्य द्वारा शिक्षित थे, अतः उनकी सेवा करने के लिए बाध्य थे। उन्हें महाराजा गायकवाड़ का सैन्य सचिव नियुक्त किया गया, लेकिन जातिगत भेदभाव के कारण कुछ ही समय में उन्हें यह नौकरी छोड़नी पडी। उन्होंने इस घटना को अपनी आत्मकथा, वेटिंग फॉर अ वीजा में वर्णित किया। इसके बाद, उन्होंने अपने बढ़ते परिवार के लिए जीविका साधन खोजने के पुनः प्रयास किये, जिसके लिये उन्होंने लेखाकार के रूप में, व एक निजी शिक्षक के रूप मे भी काम किया, और एक निवेश परामर्श व्यवसाय की स्थापना की, किन्तु यें सभी प्रयास तब विफल हो गये जब उनके ग्राहकों ने जाना कि ये अछूत बने। हालांकि वे छात्रों के साथ सफल 1918 में, ये मुंबई

में सिडेनहम कॉलेज ऑफ कॉमर्स एंड इकोनॉमिक्स में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे फिर भी अन्य प्रोफेसरों ने उनके साथ पानी पीने के बर्तन साझा करने पर विरोध किया भारत सरकार अधिनियम 1991, तैयार कर रही साउथबरो समिति के समक्ष, भारत के एक प्रमुख विद्वान के तौर पर अम्बेडकर को साक्ष्य देने के लिये आमंत्रित किया गया। इस सुनवाई के दौरान, अम्बेडकर ने दलितों और अन्य धार्मिक समुदायों के लिये पृथक निर्वाचिका और आरक्षण देने की वकालत की। 1920 में, मुंबई से, उन्होंने साप्ताहिक मूकनायक के प्रकाशन की शुरूआत की। यह प्रकाशन शीघ्र ही पाठकों में लोकप्रिय हो गया, तब अम्बेडकर ने इसका प्रयोग रूढ़िवादी हिंदू राजनेताओं व जातीय भेदभाव से लड़ने के प्रति भारतीय राजनैतिक समुदाय की अनिच्छा की आलोचना करने के लिये किया। उनके दलित वर्ग के एक सम्मेलन के दौरान दिये गये भाषण ने कोल्हापुर राज्य के स्थानीय शासक शाहू चतुर्थ को बहुत प्रभावित किया, जिनका अम्बेडकर के साथ भोजन करना रूढ़िवादी समाज में हलचल मच गया। बॉम्बे उच्च न्यायालय में विधि का अभ्यास करते हुए, उन्होंने अछूतों की शिक्षा को बढ़ावा देने और उन्हें ऊपर उठाने के प्रयास किये। उनका पहला संगठित प्रयास केंद्रीय संस्थान बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना था, जिसका उद्देश्य शिक्षा और सामाजिक–आर्थिक सुधार को बढ़ावा देने के साथ ही अवसादग्रस्त वर्गों के रूप में सन्दर्भित "बहिष्कार" के कल्याण करना था। दलित अधिकारों की रक्षा के लिए, उन्होंने मूकनायक, बहिष्कृत भारत, समता, प्रबुद्ध भारत और जनता जैसी पांच पत्रिकाएं निकालीं। सन् 1925 में, उन्हें बम्बई प्रेसीडेंसी समिति में सभी यूरोपीय सदस्यों वाले साइमन कमीशन में काम करने के लिए नियुक्त किया गया। इस आयोग के विरोध में भारत भर में विरोध प्रदर्शन हुये। जहां इसकी रिपोर्ट को अधिकतर भारतीयों द्वारा अनदेखा कर दिया गया, अम्बेडकर ने अलग से भविष्य के संवैधानिक सुधारों के, लिये सिफारिश लिखकर भेजी।

राजनीतिक जीवन

अंबेडकर का राजनीतिक कैरियर 1926 में शुरू हुआ और 1956 तक वो राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न पदों पर रहे। दिसंबर 1926 में, बॉम्बे के गवर्नर ने उन्हें बॉम्बे विधान परिषद के सदस्य के रूप में नामित किया उन्होंने उपने कर्तव्यों को गंभीरता से लिया, और अक्सर आर्थिक मामलों पर भाषण दिये। वे 1936 तक बॉम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य थे। 13 अक्टूबर 1935 को, अम्बेडकर को सरकारी लॉ कॉलेज का प्रधानाचार्य नियुक्त किया गया और इस पद पर उन्होने दो वर्षो तक कार्य किया। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज के संस्थापक श्री राय केदारनाथ की मृत्यु के बाद इस कॉलेज के ग्वार्निंग बॉडी के अध्यक्ष के रूप में भी कार्य किया। अम्बेडकर बम्बई (अब मुम्बई) में बस गये, उन्होंने यहॉ एक तीन मंजिला बडे घर 'राजगृह' का निर्माण कराया, जिसमें उनके निजी पुस्तकालय में 50,000 से अधिक पुस्तकें थीं, तब यह दुनिया का सबसे बड़ा निजी पुस्तकालय था। इसी वर्ष 27 मई 1935 को उनकी पत्नी रमाबाई की एक लंबी बीमारी के बाद मृत्यु हो गई। रमाबाई अपनी मृत्यु से पहले तीर्थयात्रा के लिये पंढरपुर जाना चाहती थीं पर अम्बेडकर ने उन्हें इसकी इजाजत नहीं दी। अम्बेडकर ने कहा की उस हिन्दू तीर्थ में जहॉ उनको अछूत माना जाता है, जाने का कोई औचित्य नहीं है,

इसके बजाय उन्होंने उनके लिये एक नया पढरपुर बनाने की बात कही। 1936 में, अम्बेडकर ने स्वतंत्र लेबर पार्टी की स्थापना की, जो 1937 में केन्द्रीय विधान सभा चुनावों में 13 सीटें जीती। अम्बेडकर को बॉम्बे विधान सभा के विधायक के रूप में चुना गया था। वह 1942 तक विधानसभा के सदस्य रहे और इस दौरान उन्होंने बॉम्बे विधान सभा में विपक्ष के नेता के रूप में भी कार्य किया।

इसी वर्ष अम्बेडकर ने 15 मई 1936 को अपनी पुस्तक 'एनीहिलेशन ऑफ कास्ट' (जाति प्रथा का विनाश) प्रकाशित की, जो उनके न्यूयॉर्क में लिखे एक शोधपत्र पर आधारित थी। इस पुस्तक में अम्बेडकर ने हिंदू धार्मिक नेताओं और जाति व्यवस्था की जोरदार आलोचना की। उन्होंने अछूत समुदाय के लोगों को गाँधी द्वारा रचित शब्द हरिजन पुकारने के कांग्रेस के फैसले की कड़ी निंदा की। बाद में, 1955 के बीबीसी साक्षात्कार में, उन्होंने गांधी पर उनके गुजराती भाषा के पत्रों में जाति व्यवस्था का समर्थन करना तथा अंग्रेजी भाषा पत्रों में जाति व्यवस्था का विरोध करने का आरोप लगाया।

ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन एक सामाजिक–राजनीतिक संगठन था जिसकी स्थापना दलित समुदाय के अधिकारों के लिए अभियान चलाने के लिए 1942 में आंबेडकर द्वारा की गई थी। वर्ष 1942 से 1946 के दौरान, अम्बेडकर ने रक्षा सलाहकार समिति और वाइसराय की कार्यकारी परिषद में श्रम मंत्री के रूप में सेवारत रहे। अम्बेडकर ने भारत की आजादी की लड़ाई में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया था। पाकिस्तान की मांग कर रहे मुस्लिम लीग के लाहौर रिजोल्यूशन (1940) के बाद, आम्बेडकर ने "थॉट्स ऑन पाकिस्तान नामक 400 पृष्ठों वाला एक पुस्तक लिखा, जिसने अपने सभी पहलुओं में "पाकिस्तान" की अवधारणा का विश्लेषण किया। "व्हॉट' कॉंग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स?" (कॉंग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिये क्या किया?) इस किताब के साथ, अम्बेडकर ने गांधी और कांग्रेस दोनो पर अपने हमलों को तीखा कर दिया, उन्होने उन पर ढोंग आरोप लगाया। अम्बेडकर ने अपनी राजनीतिक पार्टी को अखिल भारतीय अनुसूचित जाति फेडरेशन (शेड्युल्ड कास्ट फेडरेशन) में बदलते देखा, हालांकि 1946 में आयोजित भारत के संविधान सभा के लिए हुये चुनाव में खराबं प्रदर्शन किया। बाद में वह बंगाल जहां मुस्लिम लीग सत्ता में थी वहां से संविधान सभा में चुने गए थे अम्बेडकर ने बॉम्बे उत्तर में से 1952 का पहला भारतीय लोकसभा चुनाव लड़ा, लेकिन उनके पूर्व सहायक और कांग्रेस पार्टी के उम्मीदवार नारायण काजोलकर से हार गए। 1952 में अम्बेडकर राज्य सभा के सदस्य बन गए। उन्होंने भंडारा से 1954 के उपचुनाव में फिर से लोकसभा में प्रवेश करने की कोशिश की, लेकिन वे तीसरे स्थान पर थे (कांग्रस पार्टी जीती)। 1957 में दूसरे आम चुनाव के समय तक अम्बेडकर की निर्वाण (मृत्यु) हो गया था।

संविधान निर्माण

गांधी व कांग्रेस की कटु आलोचना के बावजूद अम्बेडकर की प्रतिष्ठा एक अद्वितीय विद्वान और विधिवेत्ता की थी। जिसके कारण जब, 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद, कांगेस के नेतृत्व वाली नई सरकार अस्तित्व में आई तो उसने अम्बेडकर को देश

के पहले कानून एवं न्याय मंत्री के रूप में सेवा करने के लिए आमंत्रित किया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। 29 अगस्त 1947 को, अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत के नए संविधान की रचना के लए बनी संविधान की मसौदा समिति के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया। संविधान निर्माण के कार्य में अम्बेडकर का शुरूआती बौद्ध संघ रीतियों और अन्य बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन भी काम आया।

अम्बेडकर एक बुद्धिमान संविधान विशेषज्ञ थे, उन्होंने लगभग 60 देशों के संविधानों का अध्ययन किया था। अम्बेडकर को "भारत के संविधान का पिता" के रूप में मान्यता प्राप्त है। संविधान सभा में, मसौदा समिति के सदस्य टी.टी. कृष्णामाचारी ने कहा–

बौद्ध धर्म में परिवर्तन

सन् 1950 के दशक में भीमराव अम्बेडकर बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुए और बौद्ध भिक्षुओं व विद्वानों के एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए श्रीलंका (तब सिलोन) गये। पुणे के पास एक नया बौद्ध विहार को समर्पित करते हुए, डॉ. अम्बेडकर ने घोषणा की कि वे बौद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिख रहे हैं और जैसे ही यह समाप्त होगी वो औपचारिक रूप से बौद्ध धर्म अपना लेंगे। 1954 में अम्बेडकर ने म्यानमार का दो बार दौरा किया; दूसरी बार वो रंगून से तीसरे विश्व बौद्ध फैलोशिप के सम्मेलन में भाग लेने के लिए गये। 1955 में उन्होंने 'भारतीय बौद्ध महासभा' यानी 'बुद्धिस्ट सोसाइटी ऑफ इंडिया' की स्थापना की उन्होंने अपने अंतिम प्रसिद्ध ग्रंथ, 'द बुद्ध एंड हिज धम्म' को 1956 में पूरा किया। यह उनकी मृत्यु के पश्चात सन्1956 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में अम्बेडकर ने लिखा हैं कि– मैं बुद्ध के धम्म को सबसे अच्छा मानता हूं। इससे किसी धर्म की तुलना नहीं की जा सकती है। यदि एक आधुनिक व्यक्ति जो विज्ञान को मानता है, उसका धर्म कोई होना चाहिए, तो वह धर्म केवल बौद्ध धर्म ही हो सकता है। सभी धर्मों के घनिष्ठ अध्ययन के पच्चीस वर्षों के बाद यह दृढ़ विश्वास मेरे बीच बढ़ गया मैं भगवान बुद्ध और उनके मूल धर्म की शरण जा रहा हैं। मैं प्रचलित बौद्ध पन्थों से तटस्थ हूँ। मैं जिस बौद्ध धर्म को स्वीकार कर रहा हूँ, वह नव बौद्ध धर्म या नवयान हैं। 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर शहर में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने खुद और उनके समर्थकों के लिए एक औपचारिक सार्वजनिक धर्मांतरण समारोह का आयोजन किया। प्रथम डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पत्नी सविता एवं कुछ सहयोगियों के साथ भिक्षु महास्थवीर चंद्रमणी द्वारा पारम्परिक तरीके से त्रिरत्न और पंचशील को अपनाते हुये बौद्ध धर्म ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने अपने 5,00,000 अनुयायिओं को त्रिरत्न, पंचशील और 22 प्रतिज्ञाएँ देते हुए नवयान बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया। डॉ. भीमराव अंबेडकर जी व उनका परिवार कबीर साहेब जी की विचारधारा से बहुत प्रभावित था कबीर साहेब जी के ज्ञान को आधार बनाकर जीवन जीते थे सामाजिक बुराइयों जैसे जातिवाद, गलत धार्मिक मान्यताएं, जीव हिंसा, नशाखोरी, आदि को दूर किया।

अम्बेडकरवाद

"अम्बेडकरवाद" अम्बेडकर की विचारधारा तथा दर्शन है। स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, बौद्ध धर्म, विज्ञानवाद, मानवतावाद, सत्य, अहिंसा आदि के विषय अम्बेडकरवाद के सिद्धान्त हैं।

छुआछुत को नष्ट करना, दलितों में सामाजिक सुधार, भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रचार, भारतीय संविधान में निहीत अधिकारों तथा मौलिक हकों की रक्षा करना, एक नैतिक तथा जातिमुक्त समाज की रचना और भारत देश प्रगती यह प्रमुख उद्देश शामिल हैं। अम्बेडकरवाद सामाजिक, राजनितिक तथा धार्मिक विचारधारा है

पुरस्कार और सम्मान

1990 में, अम्बेडकर को मरणोपरांत भारत के सर्वोच्च नागरिक पुरस्कार भारत रत्न से सम्मानित किया गया था। इस पुरस्कार को सविता अम्बेडकर ने भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति रामास्वामी वेंकटरमण द्वारा अम्बेडकर के 99 वें जन्मदिवस, 14 अप्रैल 1990 को स्वीकार किया था। यह पुरस्कार समारोह राष्ट्रपति भवन के दरबार हॉल/अशोक हॉल में आयोजित किया गया था

पुस्तकें व अन्य रचनाएँ

भीमराव अम्बेडकर प्रतिभाशाली एवं जुझारू लेखक थे। अम्बेडकर को पढ़ने में बहुत रूची थी तथा वे लेखन में भी रूची रखते थे। इसके चलते उन्होंने मुंबई के अपने घर राजगृह में ही समृद्ध ग्रंथानलय का निर्माण किया था, जिसमें उनकी 50 हजार से भी अधिक किताबें थी। अपने लेखन द्वारा उन्होंने दलितों वे देश की समस्याओं पर प्रकाश डाला। उनहोंने लिखे हुए महत्वपूर्ण ग्रंथों में, अनहिलेशन ऑफ कास्ट, द बुद्ध अँड हिज धम्म, कास्ट इन इंडिया, हू वेअर द शूद्राज?, रिडल्स इन हिंदुइस्म आदि शामिल हैं। 32 किताबें और मानोग्राफ (22 पुर्ण तथा 10 अधुरी किताबें), 10 ज्ञापन, साक्ष्य और वक्तव्य, 10 अनुसंधान दस्तावेज, लेखों और पुस्तकों की समीक्षा एवं 10 प्रस्तावना और भविष्यवाणियां इतनी सारी उनकी अंग्रेजी भाषा की रचनाएँ हैं। उन्हें ग्यारह भाषाओं का ज्ञान था, जिसमें मराठी (मातृभाषा), अंग्रेजी, हिन्दी, पालि, संस्कृत, गुजराती, जर्मन, फारसी, फ्रेंच, कन्नड़ और बंगाली ये भाषाएँ शामील है। अम्बेडकर ने अपने समकालिन सभी राजनेताओं की तुलना में सबसे अधिक लेखन किया हैं। उन्होंने अधिकांश लेखन अंग्रेजी में किया हैं। सामाजिक संघर्ष में हमेशा सक्रिय और व्यस्त होने के साथ ही, उनके द्वारा रचित अनेकों किताबें, निबंध, लेख एवं भाषणों का बड़ा संग्रह है। वे असामान्य प्रतिभा के धनी थे। उनके साहित्यिक रचनाओं को उनके विशिष्ट सामाजिक दृष्टिकोण, और विद्वता के लिए जाना जाता है, जिनमें उनकी दूरदृष्टि और अपने समय के आगे की सोच की झलक मिलती है। अम्बेडकर के ग्रंथ भारत सहित पूरे विश्व में बहुत पढ़े जाते हैं। भगवान बुद्ध और उनका धम्म यह उनका ग्रंथ 'भारतीय बौद्धों का धर्मग्रंथ' है तथा बौद्ध देशों में महत्वपूर्ण उनके डि.एस.सी. प्रबंध द प्रॉबध द प्रॉब्लम ऑफ द रूपीः इट्स ओरिजिन अॅन्ड इट्स सोल्युशन से भारत के केन्द्रिय बैंक यानी भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना हुई है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

(1) डॉ भीमराव अम्बेडकर, Annihilation of Caste, 1936।

(2) बोधिसत्व डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर, the Buddha and his dhamma, डॉ. भदन्त आनंद कौशल्यायन, सिद्धार्थ महावि, प्रकाशन मुंबई, 1975।

(3) डॉ. भीमराव अम्बेडकर, Khairmode, चंगदेव भवनराव, सहित्या संस्कृत मंडल महाराष्ट्र, पृष्ठ संख्या– 245।

स्वामी सत्यानन्द जी की शिक्षाओं का दर्शनिक अवलोकन

डॉ0 विनय पटेल
योग शिक्षक
जबलपुर

स्वामी सत्यानन्द जी ने लंबे समय से चली आ रही एकांत में साधना, हिमालय की गुफाओं में जीवन, मोक्ष की प्राप्ति के लिए संसार के त्याग की विचारधारा को उलट कर समाज के लिए उपयोगी योग साधनाओं, संन्यास परम्परा और व्यवहारिक वेदान्त की साधना पद्धतियों का विकास किया। इस मार्ग पर स्वयं चले और शिष्यों को इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। इस तरह एक नई परंपरा को विकसित किया। आज अगर कोई ऐसा शब्द है जो दुनिया के कोने–कोने मे गूंजता है, अगर कोई ऐसा सिद्धान्त है जो विभिन्न देशों मे धर्मों, मतों और विचारधाराओं के अनुयायियों को स्वीकार है तो वह है योग। हम अब आपसे कुछ प्रश्न पूछते है कि क्या आपको सुखी और सामंजस्य पूर्ण जीवन अच्छा लगता है? क्या आप आपने दैनिक कार्य–कलापों में उत्साह से भरे रहते हैं, जब प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना होता है, तब क्या आप शान्त मन और सहज भाव से इनका सामना कर पाते हैं? यदि नहीं , तो स्वामी जी की जीवनोपयोगी शिक्षाएँ हमारे लिए आशा की एक नई किरण है।

सत्यानन्द योग परम्परा की अखंड गुरु–शिष्य श्रृंखला:–योग की अलख संपूर्ण विश्व में जगाने का संकल्प एक पीढी से दूसरी पीढी में हस्तांतरित होता गया। स्वामी शिवानन्द सरस्वती से स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी से स्वामी निरंजनानंद सरस्वती जी को और स्वामी निरंजनानंद जी से सूर्य प्रकाश जी को। आज सूर्य प्रकाश जी स्वामी जी की शिक्षाओं को प्रचारित करने का दायित्व निभा रहे हैं।

स्वामी सत्यानन्द जी के गुरु स्वामी शिवानंद जी का संक्षिप्त जीवन परिचय:– स्वामी शिवानन्द जी का जन्म तमिलनाडु के पट्टामडई में सितम्बर 1887 को हुआ। दशनामी सन्यास परम्परा में दीक्षित होने के बाद सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए लोगों को योगाभ्यास तथा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। 1936 में दिव्यजीवन संघ की सथापना की। योग, स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक जीवन पर 200 से भी अधिक पुस्तकों का प्रणयन किया। सेवा, प्रेम और दान को आत्मोन्नति का आधार बताया और जीवन भर इसकी साधना की।

स्वामी सत्यानन्द जी का संक्षिप्त जीवन परिचय:– स्वामी सत्यानन्द जी का जन्म उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा ग्राम में 1923 में हुआ। बचपन से ही अध्यात्म के विषयों पर उनकी रुचि थी। आध्यात्मिक प्यास के पारिवारिक वातावरण में शान्त न होने पर 19 वर्ष की अवस्था में घर से प्रस्थान कर दिया। गुरु की खोज ऋषिकेष के शिवानंद आश्रम में जाकर पूरी हुई। 1947 में गुरु ने उन्हें परमहंस सन्यास परम्परा में दीक्षित किया। 1953 में परिव्राजक सन्यासी के रूप में भ्रमण करने के लिए शिवानंद आश्रम छोड़ दिया। तत्पश्चात 1956 में ही उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मंडल एवं 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अस्सी से अधिक ग्रन्थों की

रचना की। 1988 में अपने मिशन से अवकाश लेकर परमहंस संन्यासी का जीवन देवघर के रिखिया ग्राम मे बिताया। 5 दिसम्बर 2009 को मध्यरात्रि को महासमाधि में लीन हो गये।

स्वामी सत्यानन्द जी के शिष्य स्वामी निरंजनानंद जी का संक्षिप्त जीवन परिचय:–स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में 1960 मे हुआ। चार वर्ष की आयु में बिहार योग विद्यालय आये तथा दस वर्ष की अवस्था में संन्यास मे दीक्षित हुए। योग के प्रचार प्रसार के लिए 1971 से ग्यारह वर्षों तक अनेक देशों की यात्राएँ की। 1983 में भारत वापस आगए और उन्हें बिहार योग विधलय का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् 1994 में प्रथम योग विश्वविद्यालय की स्थापना की। अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल, बिहार योग विद्यालय, शिवानंद आश्रम, योग रिसर्च फाउन्डेशन, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा संस्थानों की स्थापना की। सन् 2017 में भारत सरकार के द्वारा योग के क्षेत्र में उत्कृष्ट सेवाओं के लिए पद्मभूषण सम्मान प्रदान किया गया।

सन्यास की परम्परा का प्रशिक्षण:– भारत वर्ष में लुप्त होती सन्यास की परम्परा और समाज में इसकी घटती लोकप्रियता को नवजीवन प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य सत्यानन्द योग की अनुपम भेंट है। संन्यास का प्रशिक्षण सन् 1964 से निरंतर चल रहा है। बिहार योग विद्यालय के सन्यासियों और शिक्षकों ने ही इस परम्परा की निरन्तरता और पवित्रता को बनाए रखा है। समर्पित और निष्ठावान लोग ही किसी मिशन के विकास में दीर्घकालीन और सकारात्मक योगदान दे सकते हैं। स्वामी जी कहते हैं संन्यासी का मूल गुण है निःस्वार्थ भावना, यह जीवन लोगों की भलाई के लिए है, अपनी भलाई के लिए कदापि नहीं।

आत्मभाव की साधना का केन्द्र रिखिया पीठ :– सन् 1989 को स्वामी जी ने रिखिया पीठ की स्थापना की। स्वामी जी कहते हैं अपने जीवन में स्वार्थ वृत्ति का विलय करने के लिए प्रेम और सत्कार को अपनाना पड़ता है। दूसरों का दुख अपने दुख की तरह अनुभव करना 'आत्मभाव' है। दूसरों से प्रेम करना, दूसरों का सम्मान करना, दूसरों की आवश्यकतानुसार उनके उत्थान हेतु कर्म करना। सेवा, प्रेम और दान इन तीनों को श्री स्वामी जी ने माध्यम बनाया और कहा कि हर व्यक्ति में अपने प्रभु को देखने का प्रयास करो–हरिव्यपक सर्वत्र समाना। केवल अपने अन्दर ईश्वर की खोज मत करो, दूसरों में भी देखो। योग में युक्त समद्रष्टा पुरुष, सब प्राणियों अपने में और सब प्राणियों में अपने को देखता है यही आत्मभाव है। जब द्वैत समाप्त होता है तो हम और तुम का भाव समाप्त हो जाता है। सेवा, प्रेम और दान ही रिखियापीठ की मूल साधना है।

योग साधना के चार स्तर – स्वामी जी ने योग को जीवन के हर एक आयाम को उन्नत बनाने के साधन के रूप में देखा।

योग अभ्यास– यह योग का प्रथम चरण है जिसमें व्यक्ति सिर्फ अपनी शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं का समाधान करने के लिए योग को अपनाता है। जैसे उसे अपनी व्याधि से छुटकारा मिल जाता है, वह अभ्यास को त्याग देता है।

योग साधना– योग का दूसरा चरण योग साधना का है, जिसमे साधक योग द्वारा निर्देशित

लक्ष्य को प्राप्त करने की कोशिश करता है। जैसे–जैसे हम योग के एक चरण से दूसरे चरण की ओर बढ़ते हैं, वैसे–वैसे योग के साथ हमारा सम्बन्ध गहन होता जाता है। जैसे–जैसे हम अपने स्वभाव, मानसिकता, विवेक और व्यवहार में हो रहे रूपान्तरण को देखते हैं वैसे– वैसे योग के प्रति हमारी श्रद्धा प्रगाढ़ होती जाती है।

यौगिक जीवनचर्या और संस्कृति– तीसरे चरण मे योग जीवनशैली में रूपान्तरित हो जाता है। यहाँ हर छण योग के सिद्धान्तों का व्यवहार में उतारने का प्रयास प्रारंभ हो जाता है। योग हमारी जरुरत से आदत में परिवर्तित होने लगता है।

चौथ स्तर यौगिक संस्कृति का है, जिसमें योग मार्ग का पथिक प्रकाश स्तम्भ बन जाता है, योग की सुरभि चहुं ओर प्रसारित होने लगती है। उसे देखकर लोग योग की शक्ति, शान्ति और संपूर्णता का अनुभव करते हैं।

योग में अनुसंधान की आधारशिला:– सन् 1975 से 85 के बीच स्वामी जी के मार्गदर्शन में योग पर गहन अनुसंधान कार्य हुए। उन दिनों बहुत कम संस्थाएँ योग के क्षेत्र में अनुसंधान कर रही थीं। आसन, प्राणायाम, शिथिलीकरण और ध्यान के अभ्यासों का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव, दमा अन्य स्वास सम्बन्धी रोग, मधुमेह, मनोरोगों आदि अनेक बीमारियों पर अनुसंधान किए गए। इस प्रकार 1975 से 85 की अवधि में बिहार योग विद्यालय का मुख्य ध्येय अनुसंधान रहा।

बच्चों के लिए योगयुक्त शिक्षा पद्धति अगली पीढ़ी की तैयारी:– सत्तर के दशक में शिक्षा में योग पर काफी काम हुआ। आगे चलकर यह आंदोलन 'रिसर्च ऑन योगा इन एडयुकेशन' के नाम से पूरे विश्व में फैल गया। सन् 1993 के विश्व योग सम्मेलन के बाद गंगा दर्शन में बाल योग मित्र मण्डल की स्थापना हुई आज भारत में इस आन्दोलन से जुड़े बच्चों की संख्या तीन लाख के करीब पहुच गई है। श्री स्वामी जी का स्पष्ट कहना था कि अगर हम बच्चों तक पहुँच पाते हैं और उनके जीवन की गुणवत्ता और प्रतिभा में सुधार ला पाते हैं, तो वे अपनी रचनात्मकता का अधिकतम उपयोग कर, अपने भावी जीवन के तनावों और संघर्षों का सामना बेहतर ढंग से कर पाएँगे।

बिहार योग विद्यालय का प्रथम अध्याय–स्वास्थ्य और शांति:– पिछले पचास सालों तक बिहार योग विद्यालय ने शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति– इन दो बिन्दुओं को लेकर योग का प्रचार पूरे विश्व में किया।

जीवनशैली और सदाचार:– सन् 2013 में जब मुंगेर में विश्व योग सम्मेलन तो यह घोषणा की गई थी कि योग का प्रचार का कार्य अब पूरा हो गया है। विगत पचास सालों में सत्यानन्द योग परम्परा ने योग प्रचार में अपना योगदान दिया। संगोष्ठी में स्वामी निरंजन जी का संदेश कुछ इस प्रकार था। 'योग की प्राचीन आध्यात्मिक विद्या के वास्तविक स्वरूप और लक्ष्य को बनाए रखने के लिए यह होना चाहिए कि लोग योग को केवल शारीरिक अभ्यास के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन शैली के रूप में अपनाने के लिए प्रेरित करें। योग अभ्यासी को अपने जीवन

और अपनी दिनचर्या में योग को समावेश करने का संकल्प लेना चाहिए ताकि समाज के लिये आने वाला समय आरोग्य, आनन्द, आशा और शान्ति से परिपूर्ण हो।'

सत्यानन्द योग परम्परा के प्रचलित योग अभ्यासः– पवनमुक्त आसन सिरीज, योग निद्रा, अजपाजप, क्रिया योग, अन्तरमौन के अभ्यास शरीर और मस्तिष्क को तनाव–रहित करने के प्रभावशाली उपाय हैं।

अंत में स्वामी जी के इस संदेश से अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा कि "योगविद्या भारत वर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन–पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब दुखी और अस्वस्थ हैं। पूजा–पाठ, धर्म–कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन–धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।"

संदर्भ ग्रन्थ

1. स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, 2013, बिहार योग विद्यालय का इतिहास, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
2. रिखिया पीठ, 2019, एजिएन ओफसेट प्रिंटर, ग्रेटर नोएडा।
3. स्वामी शक्ति मित्रानन्द सरस्वती, 2010, योग विद्या, पत्रिका, शिवानन्द मठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।
4. स्वामी धर्म शक्ति, 2010, मेरे आराध्य, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
5. स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती, 2012, कर्म संन्यास, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
6. रिखिया पीठ, 2019, आत्मभाव, एजिएन ओफसेट प्रिंटर, ग्रेटर नोएडा।
7. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, 2011, योग प्रदीप–1, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
8. बालयोग मित्र मंडल, 2013, योग प्रश्नावली–1,योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
9. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, 2012, क्रिया योग, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
10. स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती, 2013, गुरु शिष्य सम्बन्ध, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
11. स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, 2014, योग दर्शन, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।

महामना का शिक्षा–दर्शन : समकालीन समस्याएँ एवं समाधान

डॉ0 विवेक कुमार पाण्डेय
(असिस्टेंट प्रोफेसर)
दर्शन एवं धर्म विभाग,
एम0एम0वी0, बी0एच0यू0,वाराणसी

शिक्षा व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमता तथा उसके व्यक्तित्व को विकसित करने वाली प्रक्रिया है। यही प्रक्रिया उसे समाज में एक वयस्क की भूमिका निभाने के लिए समाजीकृत करती है तथा समाज के सदस्य एवं जिम्मेदार नागरिक बनने के लिए व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान तथा कौशल उपलब्ध कराती है। शिक्षा प्रत्येक युग में, मानव को अधिक परिपक्व, समझदार और प्रबुद्ध बनाने में बेहद प्रभावी रही है। चाहे वह अनौपचारिक रुप में घर–बाहर, माता–पिता, पड़ोसियों द्वारा सिखाए गये सबक हो या वैदिक वाचिक परम्परा की औपचारिक शिक्षा पद्धतियाँ, निस्संदेह शिक्षा का मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन जैसे ही वह लोकयुग से संस्थायुग में प्रविष्ट हुई, उसे शक्ति, शासन, सत्ता तथा महत्वाकांक्षाओं, स्पर्द्धाओं, जय–पराजयों और छद्म–छलों का माध्यम बना लिया गया। 'शिक्षाजन्य स्पर्द्धाओं का परिणाम ही परमाणु बम है, विध्वंसक विज्ञान और तकनालाजी है, बाजारवाद और विज्ञापनवाद है, सूचना और संचार क्रान्ति है' और इसने व्यक्ति के बहुआयामी व्यक्तित्व को तोड़कर 'एक आयामी' बना दिया। यह 21वीं सदी के शिक्षा के लिए चिंता है, चुनौती है। कैसे मनुष्य को उसका सब कुछ लौटाया जाय? ऐसी शिक्षा कैसे सम्भव है, जो मनुष्य बने अर्थकारी, लोकोपयोगी और मूल्ययुक्त बनाए? क्या महामना का शिक्षा–दर्शन इन चुनौतियों हेतु उपयोगी सिद्ध हो सकता है? प्रस्तुत आलेख इन्ही उत्तरों की तलाश है।

शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा की 'शिक्ष्' धातु में 'अ' प्रत्यय लगाने से बना है। 'शिक्ष्' का अर्थ है सीखना और सिखाना। इस प्रकार 'शिक्षा' का अर्थ हुआ सीखने–सिखाने की क्रिया। यह क्रिया मोटे तौर पर दो रूपों में चलती है– (i) व्यापक रुप में जिसे हम 'लोकरुप' कह सकते हैं, (ii) संकुचित रुप जिसे हम 'संस्थागत' कह सकते हैं। 'लोकरूप' में शिक्षा किसी समाज में सदैव चलने वाली सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से व्यक्तित्व के ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि एवं व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। यहाँ शिक्षा का विषय मानव या मानवेतर प्राणी भी हो सकते हैं। संस्थागत रुप में शिक्षा किसी समाज में एक निश्चित समय तथा निश्चित स्थानों में सुनियोजित ढंग से चलने वाली एक सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा विद्यार्थी निश्चित पाठ्यक्रम को पढ़कर सम्बन्धित परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना सीखता है।

शिक्षा का संस्थागतरूप ही आधुनिक–युग में शिक्षा की पहचान बना, जिसके आधार

थे– श्रेणीबद्ध मॉडल प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय। पश्चिम ने इस मॉडल का इतना विकास किया कि संस्थागत मॉडल ही मानवीय शिक्षा का पर्याय हो गया। अब जो वैदिक ऋषि– "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः" चारों दिशाओं से ज्ञान और शिक्षा को आमंत्रिक कर रहे थे, वह एक दिशायामी हो गया। जो विद्या अर्थात् शिक्षा मुक्ति का माध्यम–'सा विद्या या विमुक्तये' मानी जाती थी, उसे शक्ति का स्रोत–'ज्ञान शक्ति है' मानकर देशों ने अपनी शक्ति विस्तार और स्थापना का माध्यम बना लिया। मनुष्य की शिक्षा यन्त्रों पर आधारित हो गयी, परिणाम यह हुआ कि मनुष्य स्वयं यंत्रवत हो गया। यही कारण था कि महामना वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा को पश्चिमी ढाँचे पर खड़ा करना नहीं चाहते थे। वे उसे भारतीय परम्परा एवं संस्कृति की नींव पर विकसित करना चाहते थे जिसमें ज्ञान और विज्ञान हो। यन्त्र हो पर मनुष्य का यंत्रीकरण न हो।

अब हम इस लेख के प्रतिपाद्य विषय पर शिक्षा सम्बन्धी आते हैं कि इक्कीसवी सदी की समस्याओं का समाधान क्या महामना के चिंतन से मिल सकता है? इसके लिए आवश्यक है कि हम इस सदी की समस्याओं से पहले अवगत हों। आज के समय को कुछ विचारक 'उत्तर–आधुनिक' युग की संज्ञा देते हैं। उत्तर–आधुनिक युग की बहुत बड़ी विशेषता है– विज्ञान और तकनीकी। आज तकनीकी ही शिक्षा के केन्द्र में है। ल्योटार्ड का तो विश्वास है कि कोई भी ज्ञान, आज के तकनीकीकरण और रूपान्तरण में बदले बिना जीवित नहीं रह सकता। तकनीकी ही शक्ति का आधार है। विज्ञान का भी उद्देश्य सत्य की खोज करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो निवेश की तुलना में उत्पादन के समीकरण को स्थापित करना है। वैज्ञानिकों, तकनिशियनों और उपकरणों को इसलिए खरीदा नहीं जाता कि वे ज्ञान की तलाश करें। उनकी खरीदी तो इसलिए होती है कि वे प्रतिष्ठानों के मालिक को अधिक से अधिक शक्ति और लाभ प्रदान करें। ज्ञान के सम्बन्ध में उत्तर–आधुनिक युग में इस बात की खोज होती है कि जो कुछ अनुसंधान में प्राप्त हुआ है क्या उसे धड़ल्ले से बाजार में बेचा जा सकता है। जैसे ही कोई तकनीकी आती है, त्यों ही यह प्रश्न उठने लगता है कि वह बाजार के लिए लाभकारी या उपयोगी है की नहीं? ल्योटार्ड का कहना है कि ज्ञान लाभ के लिए है। ज्ञान और सूचना स्वयं में एक वस्तु है। इसलिए हम वस्तु नहीं खरीदते, ज्ञान खरीदते हैं।[8]

इस सदी में ऐसे–ऐसे सूक्ष्म यन्त्र और ज्ञान के साधन विकसित हो रहे हैं, जो अकल्पनीय है। विनाश की अभूतपूर्व शक्तियों से सम्पन्न अस्त्रों का निर्माण हो रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के परिणाम मानव के लिए केवल शुभ ही नहीं अपितु अशुभ भी सिद्ध हो रहे हैं। सेटेलाइट से निकलने वाली असंख्य विद्युत तरंगे, नैनो प्रौद्योगिकी और रासायनिक एवं कीटनाशकों ने अपना दुष्प्रभाव, पृथ्वी, जल और वायु पर डाला है। अब धरती को माता नहीं वरन् भौतिक पदार्थ समझकर व्यवहार किया जाता है। इसका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है कोविड–19 मानव को भौतिकवादी एवं भोगवादी शिक्षा की यही देन है। 'लाभ के लिए शिक्षा' में भोग और स्वार्थ की वृत्ति प्रधान होती है। वह 'अन्य' पर ध्यान नहीं देती है। संक्षेप में इक्कीसवीं सदी में शिक्षा की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

(i) परम्परागत स्वरूप नष्ट हो, संस्थानीकृत होता जा रहा है।

(ii) शिक्षा मूल्यपरक न होकर, लाभपरक एवं उपयोगिता परक हो गयी है।

(iii) यह लोक–कल्याणकारी न होकर, व्यक्ति–कल्याणकारी हो गयी है।
(iv) यह मानव तथा मानवेत्तर सत्ताओं का दोहन कर रही है।

ऐसी भयावह स्थिति में प्रश्न यह है कि क्या महामना का शिक्षा–दर्शन इस समस्या के निदान हेतु कोई दिशा दे सकता है, जो न केवल भारत अपितु पूरे विश्व के लिए मार्गदर्शन हो? क्या ऐसी शिक्षा भी संभव है जिसमें केवल भोग ही नहीं अपितु योग भी हो, लाभ ही नहीं अपितु त्याग भी हो, स्वार्थ ही नहीं अपितु परार्थ भी रहे? इसके लिए आवश्यक है कि हम पहले महामना के शिक्षा–दर्शन पर प्रकाश डालें।

महामना का शिक्षा–दर्शन विचार और कर्म का समिश्रण है। इसका प्रमाण–काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है। यह विश्वविद्यालय महामना मालवीय की दूरदर्शिता और भावी स्वतन्त्र भारत के निर्माण का सबसे बड़ा स्मारक है। उनके शिक्षा–दर्शन का यह सर्वाधिक जीवन्त निदर्शन है। इसलिए महात्मा गाँधी ने कहा था कि– 'काशी विश्वविद्यालय के मालवीय जी प्राण हैं, काशी विश्वविद्यालय मालवीय जी का प्राण है।'[3] यह विश्वविद्यालय देश की जनता के लिए था, इसलिए जनता की आकांक्षा और देश की आवश्यकताओं के अनुरूप महामना ने शिक्षा की व्यवस्था की थी। प्रमाण विश्वविद्यालय के ध्येय हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1. हिन्दू–शास्त्र तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन की वृद्धि जिसके द्वारा भारत वर्ष की प्राचीन सभ्यता में जो कुछ भी श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण था उसका तथा हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति तथा भावनाओं की रक्षा और मुख्यतः हिन्दुओं मे और सार्वजनिक रुप में सर्वसाधारण में प्रचार हो सके।
2. कला और विज्ञान की सर्वतोमुखी शिक्षा तथा अन्वेषण की वृद्धि।
3. आवश्यक प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ–साथ विज्ञान, शिल्पादि कला–कौशल तथा व्यवसाय तथा धन्धों की उन्नति हो।
4. धर्म और नीति के शिक्षा का आवष्यक अंग मानकर या अखण्ड भाग बनाकर युवकों में सदाचार का संघटन या चरित्र निर्माण का विकास करना।[4]

महामना के उपर्युक्त ध्येय से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि वे एक ऐसी शिक्षा–पद्धति के पक्षधर थे, जिससे देश का समग्र विकास हो एव देश की पारम्परिक निजता भी बनी रहे। वे चाहते थे कि विश्व में जितना भी ज्ञान संभव हो उसका अन्वेशण, सृजन, परिवर्धन और वितरण विश्वविद्यालय में हो और इस ज्ञान के द्वारा भारतीय चरित्र और बुद्धि का विकास हो। महामना के लिए शिक्षा का ध्येय था– 'विमुक्ति और मुक्ति वह है जो मानव को सभी प्रकार के बंधनों से छुटकारा दिलाये। किन्तु मुक्ति दिलायेगा कौन? यह अपने आप तो मिल नहीं सकती। महामना ने इसके लिए श्रेष्ठ अध्यापकों को चुना और उनकी नियुक्ति की क्योंकि मुक्त ही दूसरे को मुक्त कर सकता है– मुक्ताश्चान्यान् विमोचयेत्।

महामना का उदेश्य था कि शिक्षा द्वारा मनुष्य में ह्रदय की विशालता और चरित्र का निर्माण हो। विश्वविद्यालय उनके लिए लोक–संवेदना और लोकहित का माध्यम था। वे दोनों पद्धतियों का सहारा, मनुष्य–निर्माण हेतु लेते थे। साहित्यिक समितियाँ, व्याख्यान मालाएँ, कथावार्त्ता, पर्व–उत्सव इत्यादि इनके माध्यम थे। छात्रों के लिए मालवीय जी के ह्रदय में अपार

करुणा और हित–कामना थी। डॉ0 राजबली पाण्डेय, अपने आलेख 'कुलगुरू मालवीय जी : शैक्षणिक आदर्श' में लिखते हैं कि– ''वास्तव में मालवीय जी का ह्रदय माता का ह्रदय था।''[5] इसमें ऊँच–नीच, अमीर–गरीब के लिए कोई विभेद नहीं था, बल्कि दीन विद्यार्थियों पर उनकी विशेष कृपा थी।

महामना सनातनी हिन्दू थे, वे वैदिक कर्म के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं में आस्था रखते थे। किन्तु सात्विकता के आधार पर वे रूढ़िवादिता को कभी स्वीकार नहीं करते थे। वे अपनी संस्कृति के प्रशंसक एवं पक्षधर थे। किन्तु वर्तमान युग के ह्रास को देखकर वह मानते थे कि अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए, उसके अव्यवस्थित स्वरूप को व्यवस्थित कर उसका समयानुकूल परिष्कार करना एवं उसकी अखण्डता को बनाए रखना, साथ ही वर्तमान वैज्ञानिक एवं भौतिक युग के साथ–साथ चलने के लिए अपने अतीत मात्र के सहारे खड़ा रहना पर्याप्त नहीं है। अतः सभ्यता की दौड़ में सशक्त होने के लिए आधुनिक भौतिक विकास को ग्रहण कर संस्कृति के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना महामना के शिक्षा का लक्ष्य था। वे जानते थे कि झूठी आध्यात्मिकता और जीवन के पार्थिव पक्ष की उपेक्षा से दरिद्र भ्रष्टाचारी जीवन का ही निर्माण हो सकता है। इसलिए वे आध्यात्मिक ज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान, ज्ञान के इन दोनों पक्षों के समन्वय तथा संवर्धन के हिमायती थे। इस प्रकार महामना ऐसी शिक्षा चाहते थे जिसमें स्वराज्य सिद्धि का बल हो, जो व्यक्ति के चारित्रिक विकास को उस स्तर पर पहुँचाये जहाँ से समुन्नत, स्वाभिमानी और लोक सेवी मनुष्य निकल सकें। जिनमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो, जो लोक कल्याणकारी हों, जिसका आधार मातृभाषा हो, जो व्यक्ति को उद्यमी बनाये। जिसके केन्द्र में धर्म हो, प्रौद्योगिकी नहीं, क्योंकि महामना धर्म की भित्ति पर विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि को बड़ा करना चाहते थे।

अब महामना के उपर्युक्त शिक्षा–दर्शन में समकालीन समस्याओं का, जो आधुनिक शिक्षा के एकांगी विकास के फलस्वरुप उपजी, समाधान स्वतः स्पष्ट हो जाता है। महामना के शिक्षा–दर्शन का सर्वोच्च उद्देश्य है लोक–हित, चारित्रिक हित। इसलिए वे पश्चिम के अंधानुकरण का विरोध करते हुए, देश को समग्र दृष्टि से विकसित करना चाहते थे। वह श्रेय और प्रेय दोनों को समन्वित करना चाहते थे। उनके अनुसार– ''हमारी प्राचीन शिक्षा–पद्धति, जो सांसारिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा का मधुर समन्वय है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– चारों ध्येयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है।''[6] यदि इस समग्रता को हम ध्यान में रखें और इस दृष्टि से विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास करें तो जो समस्याएँ आज हमारे सम्मुख है, वे नहीं उपस्थित होंगी।

समकाल का विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी अर्थ एवं भोग के पीछे भाग रही है। इसलिए संसार पर्यावरण से लेकर अन्य कई विपदाओं से घिरा हुआ है। नादिम गार्डिमर ने ठीक ही कहा है– ''विज्ञान के अश्व पर सवार मनुष्य उन अतल गहराईयों की ओर छलांग लगा दी है। जहाँ उसके अस्तित्व के चिन्ह भी मिल पाना असम्भव है।''[7] इस प्रकार आज की शिक्षा से न केवल मानवेतर अस्तित्व वरन् मानव अस्तित्व भी खतरे में है। इसलिए महामना की यह सोच थी कि कोई भी

विकास अपने देश के स्वास्थ्य एवं प्राकृतिक संसाधनों को ध्यान में रखकर होना चाहिए। सम्पूर्ण सृष्टि मे ईश्वर का वास है। जिसे हम ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, "इस सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टि में उसी प्रकार वर्तमान है, जैसे मुझमें या आप में।"[8] यदि हम यह दृष्टि रखें तो न केवल मानव अपितु मानवेतर सत्ताओं के प्रति भी सम्मान का भाव होगा। हम उनका भोग भी करेंगे तो त्यागपूर्वक।

महामना किसी राष्ट्र के उन्नयन हेतु 'औद्योगिक विकास की अपेक्षा नैतिक विकास को आवश्यक मानते थे।[9] इतना ही नहीं, वे यह भी कहते थे कि बिना पारस्परिक विश्वास एवं निष्ठा के औद्योगिक समृद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती। विश्वास एवं निष्ठा के बिना विकास, विनाश का वाहक होगा। औद्योगिक विकास उसी समाज में असमानता एवं विकृतियाँ पैदा करता है, जिस समाज के लोग भोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं। केवल भोग मानव और प्रकृति के मध्य असंतुलन पैदा कर देता है।[10] इसलिए मालवीय जी कहते हैं–"नीति के विरुद्ध विषय–भोग का सुख स्थायी नहीं होता और परिणाम उसका विष से भी कड़वा होता है।"[11] अतः औद्योगिक विकास को लोकोपयोगी, नीतिपयोगी बनाने से असमानता और विकृतियाँ स्वतः दूर हो जाती हैं।

उत्तर–आधुनिक विचारकों के विपरीत, मालवीयजी, ज्ञान को दान का विषय मानते थे, बाजार का नहीं। बाजार में वस्तुएं बेची जाती हैं, यहाँ उसे कोई भी चाहे वह सुपात्र हो या कुपात्र धन के आधार पर खरीद सकता है। जबकि दान सुपात्र को दिया जाता है कुपात्र को नहीं। बाजार का आधार–अर्थ और उपयोगिता है। किन्तु मालवीय जी ऐसे ज्ञान को महत्त्व देते थे, जो सादा जीवन और उच्च विचार को प्रेरित करता हो। उनके लिए आदर्श मूल्य ही ज्ञान था। वे समन्वयवाद के पोषक थे। उनका विद्यार्थियों से कहना था कि– "शास्त्र और शस्त्र, बुद्धिबल और बाहुबल, दोनों का उपार्जन करो।"[12] शास्त्र का ज्ञान दुखित–त्रस्त लोगों की रक्षा के लिए देना चाहते थे, निरपराधों के ऊपर प्रहार करने के लिए नहीं।"[13]

महामना ज्ञान और आचरण दोनों के समन्वय के पोषक थे। उन्होंने 1929 ई0 के अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था कि– "दूसरों के प्रति कोई भी ऐसा आचरण न करो, जिसे तुम अपने प्रति किये जाने पर अप्रिय समझते है, जो कुछ तुम अपने प्रति चाहते हो, वैसा ही तुम्हें दूसरे के प्रति भी करना आवश्यक है।" महाभारतकार कहता है–

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि, परेशां न समाचरेत्।।

वह विद्यार्थियों का निर्माण मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा करना चाहते थे जिससे मनुष्य–मनुष्य के बीच भ्रातृत्व की भावना का विकास हो सके। विद्यार्थियों के उनका महत्वपूर्ण संदेश था–

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया। देशभक्त या त्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव।।

सत्य से, ब्रह्मचर्य से, व्यायाम से, विद्या से और आत्मत्याग से सदा आदर के योग्य बनो।

उत्तर–आधुनिक विचारक धर्म, दर्शन, साहित्य, कला जैसे 'महान आख्यान' को अस्वीकार करते हुए तकनीकी, संचार, कम्प्यूटर विज्ञान वाले समाज को वास्तविक समाज मानते हैं। ज्ञान केवल सूचना मात्र है। उसकी उपादेयता, अर्थ एवं व्यक्तिगत विकास के लिए है। जिसमें एक देश के सत्य को पूरे विश्व का सत्य मान लिया जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे विचार व्यक्ति के हृदय को विस्तीर्ण नहीं वरन् संकीर्ण करते हैं। लोभ और स्वार्थ का ही परिणाम था विश्व युद्ध।

ऐसी शिक्षा राष्ट्र के अकल्याणकारी ही होती है। शिक्षा को महामना ने राष्ट्र–निर्माण की अनिवार्य शर्त के रुप में देखा। एक ऐसी शिक्षा, जो प्राची और प्रतिची के समन्वय से बनी हो और मनुष्य मात्र के सर्वांगीण कल्याण में अभिवृद्धि करती हो। जिसमें धर्म, दर्शन, साहित्य, कला विज्ञान, प्रौद्योगिकी, सबका समागम हो। वे शिक्षा के माध्यम से एक ऐसा समाज बनाना चाहते थे, जहाँ किसी प्रकार का ताप न हो।

इस प्रकार उपर्युक्त विचारों के सम्यक् विवेचन से स्पष्ट होता है कि यंत्रीकरण, उपभोक्तावाद, बाजारवाद के फलस्वरूप समकालीन शिक्षा, मनुष्य के वृहत्तर व्यक्तित्व निर्माण में बाधक है। उसका उद्देश्य केवल 'लाभ' रह गया है। उसमें 'त्याग' का अभाव है। परिणामस्वरुप अनेक समस्याएँ सम्मुख हैं। ऐसी स्थिति से, इन समस्याओं से निजात पाने के लिए हमें महामना के शिक्षा–दर्शन की ओर पुनः प्रस्थान करना होगा, जिससे हम अपने खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त कर, भारत की सेवा के लिए पुनः जन्म ले सकें। अतः महामना की शिक्षा–दृष्टि में ही समकालीन समस्याओं का समाधान एवं विश्व का कल्याण है।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

सन्दर्भ सूची

1. दवे रमेश, 'इक्कीसवीं शती में शिक्षा का भविष्य', वागर्थ, अंग 75, सित. 2001, पृ0, 100
2. चौबे, देवव्रत, 'मदन मोहन मालवीय का दर्शन', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृ0, 78
3. प्रज्ञा, महामना स्मृति अंग, 39–41 (भाग 1–2) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1993–96
4. सीताराम चतुर्वेदी, महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, 14 दि0, सन् 1929 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 12वें उपाधि वितरण महोत्सव के अवसर पर, मालवीय जी का दीक्षान्त भाषण से उद्धृत।
5. पाण्डेय राजबली, 'कुलगुरु मालवीय जीः शैक्षणिक आदर्श' महामना स्मृति अंक, 2012, पृ0, 234
6. सीताराम चतुर्वेदी, महामना प0 मदन मोहन मालवीय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का दीक्षान्त भाषण 1920
7. गार्डिमर नादिन, 'हवर्ल्ड ऑफ सायन्स, पृ0, 47
8. वही, दीक्षान्त भाषण, 1929
9. एस0 एल0 दर एवं सोमस्कन्दन; हिस्ट्री ऑफ द बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बी0एच0यू0, 2007, पृ0 131
10. डी0 बी0 चौबे, मदन मोहन मालवीय का दर्शन, पृ0, 81
11. मालवीय पद्मकान्त (सम0) मालवीय जी के लेख, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली 1962, पृ0, 169
12. उद्धृत, चौबे, देवव्रत, 'मदन मोहन मालवीय का दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2016, पृ0, 81
13. वही, पृ0 81

पर्यावरण दर्शन में प्रो.हेमन्त नामदेव का दार्शनिक चिन्तन

डॉ. देवदास साकेत
अतिथि विद्वान–दर्शन विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

प्रो. हेमन्त नामदेव का जन्म 08.अक्टूबर 1960 ई. को उज्जैन में हुआ। शिक्षा–दीक्षा उज्जैन से सम्पन्न हुई। इन्होंने एम.ए. अर्थशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र विषय पर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। पीएच–डी.उपाधि दर्शनशास्त्र विषय में पर्यावरण दर्शन शीर्षक पर मिला। ये दर्शनशास्त्र के ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। इनका जीवन बड़ी कठिनाईयों और संघर्ष से भरा हुआ था। इन्होंने अपने जीवन में कार्य की प्रधानता को अधिक महत्व दिया। ये बाल्यकाल से हि छोटे–छोटे कार्य करके अपना जीवनयापन करते रहें। बहुत कम मानदेय में कार्य को बड़े मनोयोग से सम्पन्न करते रहें। आपने विद्यार्थी जीवन में ही एक संगोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें देश के ख्याति प्राप्त विद्वानों ने सहभागिता की। आपने आर्थिक समस्याओं को भी बड़ी नजदीकी से देखा है। परमात्मा पर पूर्ण विश्वास और निष्ठा ने उनके जीवन की दिशा और दशा को परिवर्तित कर दिया। प्रो. नामदेव का विचार अति सरल और नैतिकता के अनुकूल रहा है। उन्होंने तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र को अपने व्यवहार, लेखन कला और विचारों में भी दिखाई देता है। उन्होंने तर्कशास्त्र के विचारों को नीतिशास्त्र को पर्यावरण दर्शन मे प्रयुक्त करते हैं और कहते है कि समाज में नैतिकता का हो रहा ह्रास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति भौतिक सुख सुविधाओं को अपना जीवन मूल्य मान लिया है। जबकि जरूरत है कि मानवीय मूल्यों को आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मसात करने की है। पर्यावरण मुख्य रूप से आक्सीजन ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक स्रोतों को भी प्रदान करता है। नैतिक मूल्यों के प्रतिमूर्ति प्रो. नामदेव ने मुझे शोध कार्य के दौरान भरपूर आर्थिक सहयोग प्रदान किया। उनके प्रति मैं ही नहीं, मेरा पूरा परिवार जीवन पर्यन्त ऋणी रहेगा। उनका विचार था कि इस मेरे मानदेय में इस सृष्टि के सभी प्राणियों का अधिकार है। नैतिक मूल्यों की बाते ही नहीं करते थे बल्कि नैतिक मूल्यों को अपने जीवन में प्रयोग किया है।

पर्यावरण पर विश्व का ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है। पर्यावरण–प्रदूषण एक राष्ट्रीय खतरा ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय खतरा के रूप में उभर कर मानव समाज के सामने है। इसके संरक्षण के लिए सम्मिलित प्रयास किया जाना आवश्यक है। इन प्रश्नों के सन्दर्भ में प्रो. हेमन्त नामदेव का चिन्तन बड़ा ही गम्भीर रहा है। उनकी चिन्तन परम्परा, आध्यात्मिक, नैतिक और तार्किक रहा है। किसी भी समाज का विकास बुद्धि, भाव और क्रिया इन तीनों प्रणालियों के आधार पर किया जा सकता है। नीति दर्शन परम्परा के आधुनिक दार्शनिक प्रो. नामदेव का योगदान दर्शन में मानवीय मूल्यों को खोजने में रहा है। उन मानवीय मूल्यों को खोजने के लिए प्रो. हेमन्त नामदेव ने पर्यावरण दर्शन को अध्ययन का आधार बनाया।

मानव विकास की दिशा में अग्रसर रहे। छोटी सी छोटी बारीकी को टटोलने का कार्य किया है। मानवीय विकास के आधार पर व्यक्ति अपने जीवन में सुख व शांति पाई है। बिना नैतिक मूल्य के जीवन आज बुरी तरह प्रताड़ित और पीड़ित जैसा प्रतीत हो रहा है। बहुत कुछ पाने पर भी वह खोया–खोया सा लगता है। दिन–प्रतिदिन मानव का मानव के प्रति सम्मान, विश्वास और प्यार कम से कमतर होता जा रहा है। हम सबको इसका कारण खोजना पड़ेगा। कोई भी अन्वेषण तभी प्रारम्भ होता है, जब कोई समस्या उत्पन्न हो। जब तक सैद्धान्तिक या व्यावहारिक क्षेत्र में कोई कठिनाई नहीं होगी। तब तक कोई अन्वेषण नही किया जा सकता है।[1] हमारे 'अविवेकपूर्ण भौतिक सुख सुविधाओं ने हमारे समक्ष पर्यावरण विनाश का महासंकट खड़ा कर दिया है। पर्यावरण शब्द 'परि' तथा 'आवरण' अर्थात् परिवृत्ति से मिलकर बना है। यह मानव को प्रत्येक ओर से घेरे हुये है, और उसके जीवन तथा क्रियाओं पर प्रभाव डालता है। इस परिवृत्ति में मनुष्य से इतर के सम्पूर्ण तथ्य, वस्तुयें, स्थितियाँ और दशायें सम्मिलित होती है, जिसकी क्रियायें मानव के जीवन–विकास को प्रभावित करती है।

व्यापक अर्थ में मनुष्य के पर्यावरण के अन्तर्गत अन्य मानव भी आ जाते हैं, लेकिन जब आम तौर पर पर्यावरण का तात्पर्य "गैर मानवीय पर्यावरण" से होता है। इस अर्थ में मनुष्य के पर्यावरण के अतिरिक्त अन्य पशु–पक्षी, पेड़–पौधे, नदी–पर्वत आदि आते है।[2] आध्यात्मिक रूप से 'पर्यावरण' को आज बड़े ही व्यापक अर्थों में लिया जा सकता है। इस परिवेश की प्राचीन अवधारणा जहाँ औषधि, वनस्पति, पशु–पक्षी, नदी–पर्वतों आदि से लगाया जाता था। आज पर्यावरण में विचारों को भी समाविष्ट किया गया है। हम प्रतिक्षण जिस चेतना से घिरे रहते हैं, वे चेतना भी हमको प्रभावित करती है।

आज भी गांव का कम पढ़ा लिखा व्यक्ति भी पेड़–पौधों के प्रति संवेदनशील है लेकिन शहर का रहने वाला व्यक्ति अपनी भावनाओं को खो चुका है। आधुनिक नगर बनाने में वनस्पतियों का सफाया किया जा रहा है, जबकि प्राचीन भारत के वास्तुकार सुन्दर बाग–बाटिका का निर्माण पहले करते थे और पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने में योगदान देते थें। तेज–आवाज, जो नगर का अभिन्न अंग है, लोगों को बहरा बना दिया है। सांस लेने के लिए आज स्वच्छ–हवा की कमी है। आज हम दिनों–दिन विनाश की गर्त में जा रहे हैं। पर्यावरण के विनाश की कीमत पर किया जाने वाला नगर विकास, अन्ततः हम सभी को महाविनाश के गर्त में ले जायेगा।

ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्रता प्रदान किया है। अन्तःकरण मनुष्य के अन्दर ईश्वर की वाणी है। वह कार्यों के अच्छे–बुरे होने को अपरोक्ष रूप से जान सकता है, जटिल परिस्थितियो में भी ईश्वर अन्तःकरण की सहज स्फूर्ति मानव के अन्दर सत्य का प्रकाश करता है।[3]

पर्यावरण के प्रति मनुष्य को चेतन होना आवश्यक है। मानव का जन्म भौतिक जगत् की गोद में होता है। सृष्टि में हवा, जल और अन्न का सेवन करके वह पलता–बढ़ता है। वह पर्यावरण से सम्बन्ध रखकर आगे बढ़ता है और प्रकृति उसका लालन–पालन करती है। मानव ने प्रकृति के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध बनाया है। वह अब कायम रखना बहुत ही कठिन कार्य है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में संत, महात्माओं ने इसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व अनुमान लगाया था। मानव जीवन पद्धति इस प्रकार थी, कि फल–फूल, वृक्ष–लताओं, नदी–पर्वतों और जीव–जन्तुओं को नुकशान पहुचाएँ बिना, व्यक्ति आराम से पृथ्वी पर रह कर अपना जीवन यापन कर सकता है। वराहमिहिर ने मन्दिर, घर के समीप पीपल, नीम, अशोक और शिरीष के वृक्षों को लगाने से पर्यावरणीय वातावरण स्वच्छ रहता है।[4] भारत भूमि पर जन्में अनेक संतों ने आराधना, अर्चना और प्रार्थना कर पर्यावरणीय वातावरण को संतुलित और शुद्धिकरण करने का कार्य किया है।

भारतीय सृष्टि–विज्ञान विश्वास ही करती है, कि व्यक्ति आस्थावान है क्योंकि इस सृष्टि का केन्द्र बिन्दु 'पंच–तत्व ही हैं। ये सम्पूर्ण तत्व, पानी, हवा, भूमि, वनस्पति और जीव, जिनमें मनुष्य भी सामिल है।[5] हमारी भारतीय संस्कृति वनों–तपोवनों में फलती फूलती रही है। इस पृथ्वी के प्रति मानव का व्यवहार कैसा हो, इसका प्रमाण इस प्रार्थना से समझा जा सकता है विष्णुपत्नी नमःस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्वमे' अर्थात् हे धरती माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, क्योंकि मेरी विवसता है कि तुम्हारे ऊपर चलना पड़ता है। इन पैरों के माध्यम से स्पर्श करना पड़ता है, इसलिए मुझ अज्ञानी मानव को क्षमा करें। पृथ्वी को ऋग्वेद में माता कहकर पुकारा गया है। जिस प्रकार से माता अपने बच्चों का पालन–पोषण करती है, उसी प्रकार पृथ्वी माता भी फल–फूल, अन्न देकर मानव जीवन को कृतार्थ करती है। पृथ्वी की उदारता बहुत ही अनुपम है, वह पर्वत के भार को भी सहन करती है, पृथ्वी वृक्ष और वन के भार को भी सहन करती है। वह इस पृथ्वी को उर्वरा बनाती है।

ऋग्वेद में कहा गया है –

घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते घृतपृचा घृतावृधा।
उर्वीपृथ्वी होतृवूर्ये पुरोहिते ते इद विप्रा ईलते सुम्नमिष्टये।।[6]

यह पृथ्वी जल द्वारा आच्छादित होती है, और जल का ही आश्रय प्रदान करती है। वे विस्तीर्ण, जल से ओतप्रोत और जलवृष्टि का विधान करने वाली है। यज्ञ वाले यजमान उनसे सुख प्राप्त करते है। संसार को आज सबसे अधिक शान्ति की जरुरत है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित सभी को चाहिए। मानव को संयम की आवश्यकता होती है। ये चीजें विज्ञान से नहीं बल्कि धर्म और अध्यात्म की साधना से मिलता है। धर्म की जो आत्मज्ञान और आत्मसंयम को प्रधानता देता है। वही इस सम्पूर्ण सृष्टि में मानव जाति के प्रति प्रेम पैदा करने वाला है।[7] आज देश में सामाजिक नैतिकता का अभाव है। राजनीतिक नैतिकता का तो प्रश्न ही नहीं है। इसके साथ–साथ संवैधानिक नैतिकता भी नष्ट हो रही है। राजनीति केवल राजनैतिक सत्ता की अनीति बन गई है। अधर्म का आज सभी जगह बोलबाला है। ऐसी स्थिति में केवल आर्थिक समृद्धि के पीछे व्यक्ति भागता जा रहा है।[8]

वर्तमान समय की आवश्यकता अध्यात्म और व्यवहार के बीच के भेद को समाप्त करने की है। यदि उसको कार्य रूप में परिणत नही किया गया तो मानव एक मात्र भोग–विलास के अतिरिक्त उसका कोई नैतिक मूल्य नहीं बचेगा। यदि मानव को नैतिक जीवन जीना है तो शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व को शाश्वत सत्य मानना होगा। इस सत्य तक पहुंचने के लिये प्रत्येक

युग के साथ समन्वय पूर्ण नीति की प्रासंगिकता को आत्मसात करना होगा।[9]

प्राकृतिक संसाधनों का मानव बहुत ही दोहन किया है। वनों का तीव्रगति से विनाश, असंख्य जीव–जन्तुओं के अस्तित्व की समाप्ति मानव के लोभ वृत्ति का परिणाम है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में संतों ने प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों को ही पोषित करने का प्रयास किया है। प्रकृति और मनुष्य परस्पर एक–दूसरे के पूरक है। दोनों के मध्य सह–अस्तित्व है, प्रतिस्पर्धा नहीं है। इस सृष्टि को जीतने के विचार ने ही आज पर्यावरण विनाश के महासंकट को लाकर सामने खड़ा कर दिया है। मन से इन विचारों का निकालने की आवश्यक आन पड़ी है। आज मनुष्य को स्वस्थ चिन्तन परम्परा को आत्मसात करने की आवश्यकता है। अनैतिक मूल्यों को त्यागकर नैतिक और सच्चे सुख और आनन्द की प्राप्ति करना आवश्यक है।

सन्दर्भ :–

1. अशोक कुमार वर्मा, वैज्ञानिक प्रणाली, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1992, पृष्ठ 15
2. डॉ. रामेन्द्र, समाज और राजनीति दर्शन एवं धर्म दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ 28
3. डॉ. जे.एन. सिन्हा, नीतिशास्त्र, जयप्रकाश नाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, 1972, पृष्ठ 213
4. परामर्श (खंड–17, अंक–3, जून 1996
5. हरिशचन्द्र व्यास एवं कैलाशचन्द्र व्यास, मानव और पर्यावरण, विद्या विहार, नई दिल्ली, 1993, पृष्ठ 18
6. ऋग्वेद/सूक्त 70/श्लोक 4
7. डॉ. राधाकृष्णन्, भारत और विश्व, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 191
8. भालचन्द्र कृष्णा जी केलकर, पं. दीनदयाल उपाध्याय – विचार दर्शन (खण्ड–3), सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ 115
9. शरतचन्द्र पेढारकर, मानव वाटिका के सुरभित पुष्प, रामकृष्ण मिशन, रायपुर, 1989, पृष्ठ 130.

आचार्य श्रीराम शर्मा के चिंतन में मानव उत्कर्ष एवं उसके साधन –सूत्र

डॉ.गोविन्द प्रसाद मिश्र
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, म.प्र.

दार्शनिक चिंतन के इतिहास में वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य उन विरल प्रज्ञ पुरूषो में थे जिनके दार्शनिक विचारों का उद्देश्य बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा से उपजे किसी मत या वाद की महत्ता का प्रतिपादन नहीं है अपितु जीवन भर किये गये चिन्तन–मनन व सेवा युक्त महत्त्वपूर्ण प्रयोगों और तप साधना से प्राप्त निष्कर्षों का जिज्ञासुओं में वितरण है।

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ.शंकर दयाल शर्मा अपनी पुस्तक देशमणि में आचार्य श्रीराम शर्मा को भारत के महान दार्शनिक,विचारक एवं महापुरुष के रूप में उधृत करते हुए लिखते हैं कि–"मैं आचार्य श्रीराम शर्मा को प्रखर प्रतिभा, दृढ़ इच्छाशक्ति तथा प्रचण्ड आत्मविश्वास से संपन्न अपनी तरह का एक विशिष्ट अध्यात्मवादी चिन्तक मानता हूँ जिन्होंने अपना चिंतन वर्तमान युग के वैज्ञानिक जीवन–दर्शन के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनका चिंतन विज्ञान और अध्यात्म, मस्तिष्क और ह्रदय तथा तर्क और आस्था के संतुलन पर आधारित है। मैं समझता हूँ कि इसीलिये उनका दर्शन हमारे समाज के लिए इतना अधिक व्यावहारिक और उपयोगी बन पड़ा है। उन्होंने पृथ्वी पर देवत्व का आवाहन करने के बजाय मनुष्य में छुपे हुए देवत्व को उभारने का प्रयास किया। ईश्वर के प्रति सुनिश्चित आत्मीयता की अनुभूति "उपासना", जीवन में शालीनता की अविच्छिन्नता अर्थात "साधना" तथा करुणा और उदारता से ओत–प्रोत ह्रदय में निरन्तर निर्झर की तरह उद्‌भुत होती रहने वाली "आराधना"– यही है वह त्रिवेणी, जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है। आचार्य जी ने सिद्धांत और साधना को आधुनिक युग के अनुकूल तर्क और शब्द देकर सामाजिक परिवर्तन का जो रास्ता दिखाया है, उसके लिए आने वाली पीढ़ियाँ युगों–युगों तक उनकी कृतज्ञ रहेंगी"।

पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी के अनुसार मनुष्य बन्दर की औलाद या पशु का विकसित रूप नही अपितु देवत्व का बीजरूप है। वह (मनुष्य) भटका हुआ देवता है। उनके अनुसार अनंत संभावनाओं का आगार है यह मानव जीवन मानव व्यक्तित्व में अनंत शक्तियां–क्षमताएँ प्रसुप्त रूप से छिपी हुई हैं जिनको जागृत करना शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक, आत्मिक एवं सामाजिक – रूप से उन्नति करना, आई .क्यू., ई.क्यू.,सी .क्यू और यस.क्यू का समग्र विकास ही मानव जीवन का लक्ष्य है और इसी उपलब्धि में ही मानव जीवन की सार्थकता है यही मानव जीवन की सर्वांगीण विकास है जिसे मानव उत्कर्ष कहते हैं ।

उत्कर्ष से तात्पर्य है उन्नति करना, ऊंचा उठना, आगे बढ़ना, समग्र विकास, सर्वांगीण उन्नति, अभ्युदय एवं निःश्रेयस की उपलब्धि आदि मानव एक मननशील, चिन्तनशील, विवेकशील

प्राणी है अपनी मनन शक्ति की विशिष्टता के कारण ही वह मनुष्य कहलाता है– "मननात् मनुष्यः" अपनी इसी मनन शक्ति,चिंतन शक्ति के कारण वह निरंतर उन्नति पथ पर अग्रसर रहता है वेद भी मनुष्य को ऊँचा उठने का निर्देश देते हैं ऋग्वेद में कहा गया है कि उत्क्रामात् पुरुष माव पत्था। अर्थात् – हे पुरुष, तू ऊपर उठ। अवनति – गर्त में गिरने वाला न हो। पुनः अथर्ववेद का ऋषि भी कहता है कि – "उद्यानं ते पुरुष नावयानं" अर्थात हे मनुष्य तेरा उत्थान हो, उन्नति हो द्य तेरा अधः पतन न हो। 'डॉ.राधाकृष्णन का मत है कि– "मानव का दानव होना उसकी हार है, मानव का महामानव होना उसका चमत्कार है और मानव का मनुष्य होना उसकी जीत है। ऋग्वेद का निर्देश है–मनुर्भव अर्थात मनुष्य बनो। आचार्य श्रीराम शर्मा मानव की पांच कोटियाँ बताते हैं सामान्य मानव बीच की अवस्था है द्य ऊपर की उन्नतिशील कोटियाँ क्रमशः महामानव एवं देवमानव कहलाती हैं जबकि निम्न कोटि नर पशु, नर पिशाच की होती है श्रीमद्भगवद्गीता में मानव के अन्दर दैवी एवं आसुरी दोनों तरह की सम्पदाएं बताई गई हैं। जब मानव के भाव–विचार और कर्म सही दिशा में होंगे तो उसके अन्दर की दैवी शक्तियां जागृत होंगी और वह देवत्व की ओर उत्कर्ष करेगा तथा मानव से महामानव, देव मानव बनता हुआ चला जाएगा इसके विपरीत दुर्बुद्धि, दुश्चिन्तन व दुष्कर्म स्वरूप यदि आसुरी प्रवृत्तियाँ जागृत और विकसित होती रही तो वह नर से नर पशु, नर पिशाच हो जायेगा – मानव से दानव बन जाएगा जो मानव जीवन का उत्कर्ष नही अपितु अपकर्ष और पतन ही कहलायेगा।

मानव के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष में गुणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय दर्शन विशेषकर सांख्य, योग, श्रीमद्भगवद्गीता आदि के अनुसार व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव एवं स्वरूप में प्रकृति के तीन गुणों– सत्व, रजस एवं तमस की प्रधानता होती है किन्तु सभी व्यक्तियों में इन तीनों गुणों की मात्रा समान रूप से नहीं होती।किसी में सतो गुण की प्रधानता होती है तो किसी में रजो गुण की और कोई तमो गुण प्रधान होता है। सत्व गुण की विशेषता है ज्ञान शान्ति, आनंद और निर्मलता। सत्व, गुण की प्रधानता मे व्यक्ति ज्ञान पर बल देता है। रजोगुण प्रधान व्यक्ति में सक्रियता के साथ आसक्ति अत्यधिक होती है और इस कारण वह विभिन्न प्रकार की तृष्णाओं और कामनाओं से ग्रस्त रहता है। तमोगुण आलस्य प्रमाद, अन्धकार और अज्ञान का प्रतीक है। तमोगुण से प्रभावित व्यक्ति अज्ञानी होता है। वह लापरवाही से काम करता है । उसमें आलस्य प्रमाद एवं विभिन्न प्रकार के भ्रमों की प्रधानता होती है।

एक से काय– कलेवर के होते हुए भी गुण, कर्म स्वभाव का अंतर हर एक की अपनी अलग पहचान बना देता है। एक तरफ जहां श्रेष्ठ मूल्यों, सद्गुणों की उपेक्षा कर उलटी राह पर चलने वाले नर पशु, नर पिशाच की श्रेणी में गिने जाते हैं, तो वहीं दूसरी तरफ मानवीय मूल्यों, सद्गुणों को अपनाकर सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदर्शों के अनुरूप जीवन पद्धित पर चलने वाले महा–मानव, देव–मानव की श्रेणी में जा विराजते हैं।

मानव जीवन की सार्थकता मानवीय सद्गुणों को धारण कर सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने में ही है अन्यथा राजा भर्तृहरि के शब्दों में मानवीय गुणों से रहित मानव पशु के समान ही है– येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः। ते मृत्युलोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।

जड़ से जीवन श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है उच्चस्तरीय मानस की परिपक्व अवस्था प्राप्त मानवीय चेतना। ऐसे जन जिन्हें अपनी गौरव गरिमा का ज्ञान नहीं है अथवा जिनकी मानसिक चेतना विकसित नहीं हुई है, वे शास्त्रोक्त वचन– 'मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति 'अर्थात् मनुष्य के रूप में पशु के विचरण करने की युक्ति को ही चरितार्थ करते हैं।

आचार्य श्री के अनुसार मनुष्य का अपने को दीन हीन असहाय मानना, मानव शरीर को तुच्छ हाड़–मांस का पुतला समझना उसकी बहुत बड़ी भूल है, अज्ञानता है। मानव शरीर प्रसुप्त रूप से असीम और अपरिमित शक्तियों से भरा हुआ तेज पुंज है जिसके सूक्ष्म आन्तरिक कोशों और चक्रों में अलौकिक क्षमताएँ, सिद्धियाँ ,विभूतियाँ समाई हुई हैं जिसको पाने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है -- बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सदग्रंथहि गावा।

महाभारत के अनुसार भी मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता का वर्णन सभी वेद, उपनिषद व शास्त्र करते हैं। प्रायः सभी धर्मों में मनीषियों ने एक मत से मानव जीवन की गरिमा को स्वीकारा है। महर्षि वशिष्ठ ने भी योगवाशिष्ठ में श्री राम को उपदिष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में दूसरा कोई अन्य प्राणी नहीं है। यदि देखा जाय तो कई सारे मानवेतर प्राणी शारीरिक विशिष्टताओं में मनुष्य से आगे हैं इसलिए मानव की यह श्रेष्ठता निश्चित ही उसकी दैहिक विशिष्टता के कारण नही अपितु उसकी आन्तरिक विशिष्टताओं, उसकी अंतर्निहित प्रसुप्त क्षमताओं के कारण है। गीतोक्त दैवी सम्पदाओं, प्रेम, दया, करुणा, सम्वेदना, उदारता, साहसिकता, नैतिकता, सहृदयता, स्नेह सौजन्य आदि सद्गुणों से ओत–प्रोत मानवी अन्तःकरण सुसंकारों के प्रभाव से व्यक्तित्व में अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित होता है तो वह स्वयं तो दिव्यता से ओत प्रोत होता ही है, अन्यों को भी अपने गुण कर्म स्वभाव से प्रेरित, प्रभावित एवं प्रकाशित करता रहता है जिसका मानवेतर प्राणियों में प्रायः अभाव होता है। दैवी सद्गुणों, उच्चस्तरीय विचारणाओं को अपने गुण, कर्म, स्वभाव में समाहित करने तथा उसे प्रकट कर सकने की क्षमता सिर्फ मनुष्य में ही है। परमात्मा के प्रयोजन में सहभागी बनने ,उसके विश्व उद्यान रूपी इस अनुपम कृति को अधिकाधिक सुन्दर समुन्नत बनाने में केवल उसका अंश मनुष्य ही सक्षम है। इसीलिये मनुष्य को ईश्वर का राजकुमार और धरती पर उसका उत्तराधिकारी माना जाता है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए व्यक्तित्व के विविध आयामों यथा इन्टेलेक्चुअल कोशिएंट (आई.क्यू–बुद्धिलब्धि –बौद्धिक विकास), इमोशनल कोशिएंट (इ.क्यू– भाव प्रवणता–भावनात्मक विकास), क्रियेटिव कोशिएंट (सी.क्यू – रचनात्मकता, सृजनशीलता) और स्पिरिचुअल कोशिएंट (एस.क्यू– आध्यात्मिक विकास) आदि का समुचित विकास आवश्यक है।

व्यक्तित्व का विकास ई० क्यू० तथा आई० क्यू० के सुमेल के परिणामस्वरूप ही संभव हो पाता है, परंतु इसकी सीमाओं के पार एवं परे पहुँचने की क्षमता इन दोनों में भी नहीं है। इस के लिए एस० क्यू० यानी कि आध्यात्मिक मेधा की जरूरत पड़ती है। एस.क्यू.पूर्ण परिष्कृत प्रज्ञा

है। इसे ही योग दर्शन में ऋतंभरा कहा गया है। सामान्य बुद्धि विश्लेषण करती है, तर्क करती है। जब बुद्धि उचित–अनुचित में भेद कर केवल उचित को ही अपनाती है तो उसे प्रज्ञा कहते हैं। यही नीर–क्षीर विवेक है, परंतु जब यह चेतना के उच्चास्तरीय धरातल में पहुँच जाती है तो इसका स्वरूप ऋतंभरा प्रज्ञा हो जाती है जो सत्य को उसकी पूर्णता में अनुभव करने लगती है, यही समाधि की उच्च अवस्था है। अपनी अंतर्निहित क्षमताओं का जागरण है।

आज के अर्थ प्रधान भौतिकवादी युग में अधिकांश लोग येन केन प्रकारेण धनसंचय में ही लगे रहकर स्वार्थ प्रधान एकांगी विकास को ही सर्वस्व समझ बैठे हैं जो मानव एवं मानव समाज के सर्वांगीण उन्नति में साधक न होकर बाधक है इसीलिये आचार्य श्री कहते हैं खुदगर्जियों को छोड़िये, "अपने मतलब से मतलब" रखने की नीति से मुँह मोड़िए, धनी बनने की नहीं महान बनने की महत्वाकांक्षाएं पालिए , आवश्यकताएं घटाइए, जोड़ने के लिए नही जरूरत पूरी करने के लिए कमाइए, शेष समय और शक्ति को सर्वांगीण उन्नति के पथ पर लगने दीजिए। मनुष्य जीवन का वास्तविक आनन्द उठाने की दिशा में प्रगति करें। धन लालसा के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठें, अपनी आवश्यकताओं को कम करें और जो शक्ति बचे उसे शारीरिक, सामाजिक एवं आत्मिक सम्पदाओं की वृद्धि में लगायें, उस के द्वारा ही सर्वांगीण सुख शान्ति का आस्वादन किया जा सकेगा।

आचार्य जी के अनुसार मनुष्य को मानवोचित ही नही देवोपम जीवन जी सकने योग्य साधन प्राप्त होते हुये भी वह पशु तुल्य दीन–हीन जीवन इसलिये जीता है कि वह जीवन को परिपूर्ण, सर्वांगपूर्ण बनाने के मूल तथ्यों पर न ध्यान देता है और न उनका अभ्यास करता है।

आचार्य श्री मानव के सर्वांगीण विकास के लिए चिन्तन के साथ साथ स्वयं के प्रयोग परीक्षण पर आधारित प्रत्येक मनुष्य को अपनाने योग्य व्यावहारिक विधि भी बताते हैं और वह है जीवन साधना यानी मानव के भाव – विचार और कर्म का शोधन एवं परिष्कार इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आचार्य श्रीराम शर्मा उपासना–साधना और आराधना रूपी योगत्रयी के अवलंबन का सूत्र देते हैं। भारतीय दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप योग से सम्बंधित यौगिक ग्रंथों में मानव एवं मानवता के उत्कर्ष हेतु भक्ति योग, ज्ञान योग, कर्म योग आदि अनेकों मार्ग बताये गये हैं। आचार्यश्री इन तीनों को एक साथ समन्वित स्वरूप उपासना–साधना–आराधना की त्रिवेणी के रूप में अपनाने की बात करते हैं।

उपासना : भारतीय दर्शन में परमात्मा की प्राप्ति के अनेकों साधनों में से उपासना एक विशेष साधन है। उपासना शब्द उप और आसन दो शब्दों के योग (उप,आसन) से बना है जिसका शब्दार्थ है 'अपने इष्ट–आराध्य (ईश्वर) के समीप (उप) स्थिति या बैठना (आसन)' आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार परमात्मा सारी श्रेष्ठताओं एवं उत्कृष्टताओं का समुच्चय है। वह समस्त सत्प्रवृत्तियों एवं अनंत शक्तियों का केंद्र है और ईश्वर के अनुशासन को स्वीकार करते हुए उसके प्रति श्रद्धा पूर्वक समर्पित भक्ति ही उपासना है। ज्ञानमार्गी शंकराचार्य के गीता भाष्य(12. 3) के अनुसार उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर, उसके समीप पहुँचकर, तैलधारा के सदृश समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थिर रहने को उपासना कहते हैं'।

जिस प्रकार जल, अग्नि और वायु की समीपता से मनुष्य तुरंत उसके गुणों का प्रभाव अनुभव करने लगता है ठीक उसी प्रकार से परमात्मा का सानिध्य प्राप्त होते ही ईश्वर के दिव्य गुण उपासक में भी आने लगते हैं। उसके जीवन का आपा विस्तृत होने लगता है। उसकी शक्तियां प्रकट होने लगती हैं।

ईश्वर की उपासना जीवन की एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है जिसके अभाव में आत्मसत्ता पर कषाय कल्मषों का आवरण चढ़ता चला जाता है। इसीलिए उपासना नित्य की जानी चाहिए। श्री रामकृष्ण परमहंस भी कहा करते थे– अपने लोटे को रोज माजो अर्थात अपनी आत्मा की सफाई नित्य नियमित रूप से करते रहें। उसमें कभी आलस्य–प्रमाद न बरतें।

उपासना का प्रधान आधार श्रद्धा और विश्वास है। श्रद्धा एक जीवंत शक्ति है जिसका आरोपण जहां भी किया जाए वही अभिनव चेतना उभर पड़ती है। आचार्य श्रीराम शर्मा जी के शब्दों में झाड़ी में स्थित भूत का कोई अस्तित्व नहीं होता किंतु उसकी मान्यता और विश्वास के आधार पर अंधकार में साकार भूत आ धमकता है और उस व्यक्ति को कितना भयभीत कर देता है, यह हर कोई जानता है। कल्पना का यह भूत यदि किसी को विक्षिप्त, पागल और मार सकता है तो दिव्य गुणों से, दिव्य क्षमताओं से ओतप्रोत आराध्य हमारे जीवन को दिव्य न बनाएं – ऐसा कैसे हो सकता है? इसलिए उपासना के लिए श्रद्धा और विश्वास आवश्यक है।

उपासना के दो चरण हैं– जप और ध्यान पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने उपासना हेतु गायत्री मंत्र को विशेष महत्व दिया है। उनके ही शब्दों में यूं तो उपासना के लिए किसी भी पद्धति को अपनाया जा सकता है। श्रद्धा और भावना के अनुरूप सभी उपासना पद्धतियां सामान्य रूप से फलदाई सिद्ध होती हैं पर अपनी दृष्टि में अनुभव के आधार पर वेदमाता–देवमाता–विश्वमाता गायत्री का आंचल पकड़ना हर दृष्टि से लाभप्रद है।

उपासना में बाधक तत्व : उपास्य के गुण उपासक में आने और बसने लगते हैं। आग के संपर्क से लोहा गरम होने लगता है किन्तु यदि आग और लोहे के बीच व्यवधान हो तो ऐसा नही होगा इसलिए जिन उपासकों में परमात्मा के गुण संकलित होते दिखाई न दें, वहां समझ लेना चाहिए कि उसकी उपासना और परमात्मा के बीच में भी कामनाओं, वांछनाओं तथा वासनाओं का व्यवधान पड़ा हुआ है और जब तक यह व्यवधान हटाया नहीं जाएगा तब तक उपासना का वास्तविक फल प्राप्त होना संभव नहीं है। श्री रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में जब तक पशुभाव न मिटे, विषय वासनायें न मिटें, तब तक ईश्वर के आनंद का आस्वादन नहीं हो सकता। इसीलिये उपासना के साथ साथ साधना भी आवश्यक है।

साधना : आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार उपासना की सफलता के लिए जप ध्यान और प्रार्थना आदि के साथ–साथ साधना आवश्यक ही नही अनिवार्य है। साधना का अर्थ है साध लेना यानी ठीक कर लेना। उपासना बीजारोपण है तो साधना खाद पानी से लेकर के निराई गुड़ाई तक की प्रक्रिया। उपासना भगवान की की जाती है और साधना अपनी इा साधना का अर्थ है– जीवन साधना, आत्म निर्माण –चरित्र निर्माण, जीवन में मानवीय मूल्यों–सद्गुणों की स्थापना का प्रयत्न पुरुषार्थ, जिसके बिना उपासना फलवती नही हो पाती, शास्त्र भी कहते हैं

कि आचरण हीन व्यक्ति की उपासना निष्फल होती है , ऐसे व्यक्ति को को वेद भी पवित्र नही कर सकते –आचारहीनं न पुनन्ति वेदा। अतः अपनी आत्म समीक्षा करते हुए अपनी कमियों, दोष दुर्गुणों के निष्कासन और अच्छाइयों, जीवन मूल्यों, सद्गुणों को अपनाने का सतत अभ्यास, प्रयत्न पुरुषार्थ करते रहना ही जीवन साधना है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि देवताओं को भी वे ही लोग प्रिय होते हैं जो स्वयं को श्रेष्ठ बनाने का श्रम करते हैं –न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

आराधना–उपासना, साधना और आराधना के त्रिवेणी की तीसरी धारा आराधना है। उपासना–साधना से प्राप्त शक्तियों–सद्गुणों का आत्म निर्माण के साथ साथ राष्ट्र निर्माण में, मानवीय मूल्यों एव मानवता के विकास में, मानव धर्म –संस्कृति एवं समाज के उत्कर्ष में उपयोग ही आराधना है । यही गीता का लोक संग्रह है। लोक कल्याण हेतु निष्काम कर्म है। "शिव भावे–जीव सेवा" ही आराधना है द्य आराधना विश्वरूप में भगवान का दर्शन करते हुए उसकी सेवा है। उपासना भगवान की, साधना अपने जीवन की और आराधना सर्वं खल्विदं ब्रह्म भाव से सभी प्राणियों की, समाज, संस्कृति, राष्ट्र और मानवता की, की जाती हैं।" आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार आराधना रूपी समाज की यह सेवा तीन तरह से होती है– 1. सुविधा संवर्धन 2. पीड़ा निवारण और 3. पतन निवारण।

व्यक्ति या समाज के उत्कर्ष हेतु आवश्यक भौतिक संसाधनों– सुविधाओं की व्यवस्था कर देना पहले प्रकार की (सुविधा संवर्धन) सेवा कही जायेगी किसी दुखी प्राणी के तात्कालिक कष्ट को दूर कर देना द्वितीय प्रकार की(पीड़ा निवारण) सेवा है और किसी भटके व्यक्ति के जीवन को सन्मार्ग पर ला देना, स्वयं के उदाहरण द्वारा किसी मानव में उत्कृष्ट सद्गुणों को स्थापित कर देना, सेवा का तीसरा प्रकार (पतन निवारण) है। यही सर्वोच्च सेवा है। नाली में गिरे हुए शराबी को नाली से निकाल देना पीड़ा निवारण सेवा हुई किंतु उसको शराब पीने की बुरी आदत से छुटकारा दिला देना पतन निवारण सेवा कहलायेगी ! यह उसके लिए सर्वोच्च सेवा होगी जो प्रकारांतर से समाज की भी बहुत बड़ी सेवा–आराधना होती है। आचार्य श्री के शब्दों में दृ दया, करुणा, उदारता, सहयोग, परमार्थ, सत्य, न्याय, प्रेम ,संयम सेवा आदि श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों, भावनाओं का जनमानस में जगाया जाना संसार की सबसे बड़ी आराधना है। किसी संत ने ठीक ही कहा है कि–ग्रन्थ पंथ सब जगत के, बात बतावृत तीन राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन।

समाज में सत्प्रवृत्तियों की स्थापना रूपी समाज सेवा सबसे बड़ा पुण्य परमार्थ है, यही ज्ञान यज्ञ है, किन्तु ज्ञान या उपदेश वही सार्थक होता है जो उपदेशक के आचरण में हो। शास्त्र भी अपने चरित्र से ही शिक्षा देने की बात करते हैं– स्व–स्व चरित्र शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। जिसके लिए जीवन साधना और उपासना की भी महती आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि आचार्य श्रीराम शर्मा के चिंतन में उपासना–साधना एवं आराधना एक दूसरे के पूरक हैं जिनका सम्यक अवलंबन मानव के सर्वांगीण विकास में बाधक तत्वों को दूर करते हुए उत्कर्ष के पथ को प्रशस्त करते हैं। उपासना भक्ति योग है, साधना ज्ञान योग है, और

आराधना कर्म योग है। मानव का सर्वांगीण विकास भाव (भक्ति योग), विचार (ज्ञान योग) और कर्म (कर्म योग) तीनों से सम्बंधित हैं। मानव जीवन के तीन आयाम हैं– भावना, ज्ञान और क्रिया। उपासना से भावना का, जीवन साधना से विचार–व्यक्तित्व का और आराधना से क्रियाशीलता का परिष्कार और विकासोत्थान होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, डॉ शंकर दयाल, देशमणि 2, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 1995
2. पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय–69, विचार सार एवं सूक्तियां,प्रथम खण्ड, पृष्ठ–22.
3. प्रकाशक–अखंड ज्योति संस्थान, मथुरा, 1998
4. सिद्धान्तालङ्कार, 8/1/4, पृ. 113, 2007
5. अथर्ववेद संहिता, 8.1.6, युग निर्माण योजना मथुरा, 2005
6. ऋग्वेद संहिता–10.53.06, युग निर्माण योजना, मथुरा, 2005
7. भर्तृहरि, नीतिशतकम–13, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 2017

. रामचरित मानस उ.का 3–42

8. अखण्ड ज्योति,व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की धुरी– अध्यात्म, पृष्ठ 20,नवम्बर 1993
9. अखंड ज्योति, सर्वांगीण उन्नति., पृष्ठ 02, 1948
10. आचार्य, श्रीराम शर्मा, जीवन देवता की साधना–आराधना पृ.9, युग निर्माण योजना, मथुरा,2007
11. आचार्य, श्रीराम शर्मा ,उपासना का तत्व दर्शन और स्वरुप,पृष्ठ 48, युग निर्माण योजना, मथुरा, 2001
12. आचार्य, श्रीराम शर्मा, उपासना का तत्व दर्शन और स्वरुप, पृष्ठ 11, युग निर्माण योजना, मथुरा, 2001
13. आचार्य, श्रीराम शर्मा, गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ठ अनुष्ठान परक साधनाएं, पृष्ठ 3. 58, युग निर्माण योजना, मथुरा. 1998
14. आचार्य, श्रीराम शर्मा, उपासना का तत्व दर्शन और स्वरुप, पृष्ठ 49, युग निर्माण योजना, मथुरा, 2001
15. गुप्त, महेंद्र नाथ, श्री राम कृष्ण वचनामृत सार, पृष्ठ 91, श्री राम कृष्ण मठ, नागपुर,1999
16. वशिष्ठ स्मृति, 6/3 ,चौखम्मा प्रकाशन ,वाराणसी,2010
17. ऋग्वेद, 4/33/11, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली ,2016
18. आचार्य, श्रीराम शर्मा ,जीवन देवता की साधना–आराधना, पृष्ठ 30 –36, युग निर्माण योजना, मथुरा 2007
19. आचार्य, श्रीराम शर्मा,जीवन देवता की साधना–आराधना, पृष्ठ 30, युग निर्माण योजना, मथुरा, 2007

21 शर्मा, पंडित श्रीराम, अखंड ज्योति, जून 1963, अखंड ज्योति संस्थान, मथुरा,1963

22 संत वाणी, शान्ति सन्देश, जनवरी 1958, पृष्ठ–7, अनोमा प्रेस, भागलपुर

23 मनु स्मृति,2/20, रुपेश ठाकुर प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, 2002

नई शिक्षा नीति 2020 एवं गाँधी का शिक्षा दर्शन

डॉ. सत्यनारायण देवलिया
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सगर (म.प्र.)

आज भारत में नई शिक्षा नीति के क्रियान्वयन का दौर चल रहा है। नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत शिक्षा के क्षेत्र में कई बदलाव प्रस्तावित किये गए हैं। इस हेतु पूरे भारत में कई संगोष्ठी, कार्यशालाएँ, चर्चा–परिचर्चा आयोजित हुई हैं व आयोजित हो रही हैं। पुरानी शिक्षा नीति की जगह नई शिक्षा नीति लाने के वृहत उद्देश्य हैं। शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार आने व विद्यार्थी को अच्छी शिक्षा मिलने से कहीं न कहीं उनका भविष्य उज्ज्वल होगा। नई शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य है कि बच्चों को तकनीकि तथा रचनात्मक महत्व को समझाना तथा उन्हें उपने आने वाले कल के लिए पूर्ण रूप से तैयार करना जिससे उनके अंदर सशक्तिकरण व मनोबल बना रहे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 पर नई दिल्ली में आयोजित कान्क्लेव (07 अगस्त 2020) को सम्बोधित करते हुए भारत के प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी ने नई शिक्षा नीति की प्रमुख बातों व महत्व को देश के समक्ष रखा। नई शिक्षा नीति की जरूरत के बारे में बात करते हुए उन्होंने बतलाया कि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति महज सर्कुलर नहीं, वरन भारत के वर्तमान और भविष्य को बनाने के लिए महायज्ञ है, जिसमें सभी का योगदान आवश्यक है। और प्रमुख बातें राष्ट्रीय शिक्षा नीति की जो पी.एम.नरेन्द्र मोदी जी ने भी कान्क्लेव में रखीं –पाँचवी तक के बच्चों को उनकी मातृभाषा में पढ़ाने की सहमति, इससे बच्चों की नीव मजबूत होगी। हर व्यक्ति जरूरत के हिसाब से डिग्री ले सके, कोई व्यक्ति जीवनभर एक प्रोफेशन में नहीं टिका रहेगा खुद को फिर से कौशल या कौशल में अपडेट होते रहना होगा। योग्य छात्र के साथ शिक्षक भी तैयार करना। शिक्षा के साथ शरीर निर्माण व चरित्र निर्माण पर भी नई शिक्षा नीति का उद्देश्य है। नई शिक्षा नीति में 10+2 बोर्ड स्ट्रक्चर को खत्म कर दिया गया है, अब नया स्कूल स्ट्रक्चर 5+3+3+4 होगा, जिसके तहत 5 वीं तक प्रि स्कूल, 6वीं से 8वीं तक मिड स्कूल, 8वीं से 11वीं तक हाईस्कूल और 12वीं से आगे ग्रेजुएशन होगा। भारतीय प्रतिभा भारत में रह कर विकास करे। आदि कई योजनाएँ भारत की नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में प्रस्तावित हैं। एक ढर्रे पर वर्षों से चल रही शिक्षा प्रणाली में नई शिक्षा नीति के तहत बदलाव किया जा रहा है। वर्तमान में नई शिक्षा नीति के क्रियान्वन की ओर भारत अग्रसर है तो ऐसे समय में महात्मा गाँधी के शिक्षा दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डालना प्रासंगिक होगा। और हम पायेंगे कि आज हम जिन बदलावों की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं महात्मा गाँधी ने भारत के स्वर्णिम भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए अपने शिक्षा दर्शन में स्वतंत्रता के पूर्व ही इसकी आवश्यकता व महत्व को स्वीकार्य किया था।

सन् 1935 के नये सुधारों के अनुसार किये गये चुनावों में कांग्रेस ग्यारह में से सात प्रान्तों में बहुत बडे बहुमतों से विजयी हुई। जैसे ही नये मंत्रिमण्डल बने, गाँधी जी के हरिजन रूख एकदम बदल गया अभी तक जहाँ उसमें अंग्रेजी–शासन की आलोचना रहती थी, उसके स्थान पर अब नये मंत्रियों के मार्ग–दर्शन के लिए उसके अंदर रचनात्मक सुझावों का ताँता लग गया। इनमें दो सुधार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। एक– सम्पूर्ण शराब बन्दी और दो– शिक्षा पद्धति क्रान्ति।[1]

अब यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि बापू के अनुसार शिक्षा से क्या आशय है? क्या मात्र अक्षर ज्ञान ही शिक्षा है? गाँधी जी के मत में मात्र अक्षर ज्ञान को शिक्षा नही कहा जा सकता। जो शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक नहीं है, गाँधी जी के अनुसार उसे सही शिक्षा नहीं माना जा सकता। गाँधी जी के अनुसार सही शिक्षा वह है जो व्यक्ति में सन्निहित सभी शक्तियों के समुचित विकास में सहायक हो। गाँधी जी का मानना है कि मानव व्यक्तित्व के चार मुख्य कारक हैं– शरीर, मन, ह्रदय एवं आत्मा। शिक्षा का उद्देश्य है इन चारों का समुचित विकास।[2] यदि शिक्षा मानव व्यक्तित्व के इन चारों पक्षों को अनदेखा करके केवल एक या दो पक्षों पर ही बल देती है, तो वह वास्तविक शिक्षा नहीं कही जा सकती। गाँधी जी की यह मान्यता थी कि आधुनिक शिक्षा में मानव व्यक्तितव के आध्यात्मिक पक्ष की अनदेखी है, आध्यात्मिक पक्ष की पूर्णता के अभाव में यह शिक्षा अधूरी है।[3] मानव व्यक्तित्व के सभी पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए ही गाँधी जी ने नयी तालीम (शिक्षा) बेसिक शिक्षा या बुनियादी शिक्षा की अवधारणा को रखा।

नई तालीम में मानव व्यक्तित्व के व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन को दृष्टिगत रखा गया है। चरित्र निर्माण एवं आध्यात्मिक पूर्णता भी गाँधी जी की नई तालीम का उद्देश्य है। विद्या वह है जो मुक्ति दिलाने वाली हो– 'सा विद्या या विमुक्तये।' और यह मुक्ति मात्र मृत्यु उपरान्त मोक्ष नहीं बल्कि जीवनमक्ति है। और जीवन मुक्त व्यक्ति चरित्रवान होने के साथ समाज में शांति की स्थापना एवं सामाजिक विघटन को भी समाप्त करने में सहायक होता है।

गाँधी जी का मत है कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान, आँख आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी से होता है। इसमें यदि पारमार्थिक वृत्ति का मेल न हो, तो बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ–साथ तथा एक सी गति से होना चाहिए।[4] महात्मा गाँधी अपनी आत्म कथा 'सत्य के प्रयोग' में आत्मिक शिक्षा के अर्थ व महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि आत्मा का विकास करने का अर्थ है चरित्र का निर्माण करना, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। विद्यार्थियों को यह ज्ञान प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता की आवश्यकता होती है। आत्मज्ञान के बिना दुसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है।[5] आत्मा की शिक्षा किस प्रकार दी जाएँ इसके लिए गाँधी जी लिखते हैं टालस्टोय आश्रम में बालकों से भजन गवाते, उन्हें नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाते किन्तु मात्र इतने से गाँधी जी को सन्तोष नहीं था। गाँधी जी ने अनुभव किया कि आत्मज्ञान, जिसके बल पर ही विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण भी होता है मात्र पुस्तकों द्वारा नहीं

किया जा सकता। जिस प्रकार शरीरिक कसरत द्वारा की जी है और बुद्धि की शिक्षा बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही की जा सकती है। आत्मा की कसरत शिक्षक के आचरण द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[8] एक शिक्षक अपने आचरण द्वारा अपने शिष्यों की आत्मा को हिला सकता है।

इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार शिक्षा का अर्थ विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास से था। जिसमें शिक्षार्थी के शरीर के सभी अंगो की कार्यक्षमता का विकास, उसकी वैचारिक तथा बौद्धिक शक्ति का विकास साथ ही उसका 'आत्म विकास'। गाँधी जी का मानना था कि सामान्यतः इस सर्वांगीण शिक्षा की उपेक्षा की जाती है, इसलिए वे भारत में प्रचलित सामान्य शिक्षा की पद्धतियों से वे संतुष्ट नहीं थे। केवल अक्षर ज्ञान या सूचनाओं की जानकारी शिक्षा नही है। गाँधी जी के अनुसार तो "प्रत्येक व्यक्ति" कुछ मूल प्रकृतियों तथा शक्तियों के साथ पैदा होता है, तथा शिक्षा का लक्ष्य हर व्यक्ति में इन शक्तियों को उभारना है– उसे विकसित करना है।' गाधी जी इसीलिए प्रचलित उच्च शिक्षा से भी सन्तुष्ट नही थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करके जब विद्यार्थी जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उतरता है तो उसे स्पष्ट अनुभूत होता है कि जो ज्ञानार्जन उसने विश्वविद्यालय में प्राप्त किया उसकी उसके व्यावहारिक जीवन में कोई उपादेयता नहीं है। जो उसने किताबी ज्ञान विश्वविद्यालय में प्राप्त किया, और जो वास्तव में उसे अपने व्यावहारिक जीवन में करना है उसमें कोई सम्बन्ध ही नहीं उसे समझ आता। अतः गाँधी जी के मत में इस प्रकार की शिक्षा बन्द कर देना चाहिए। इन्हीं कारणों से गाँधी जी बुनियादी शिक्षा के पक्षधर थे। बुनियादी शिक्षा में शिक्षार्थी को यह सिखया जाता है कि वह स्वयं करके किसी कार्य में कार्यकुशलता प्राप्त कर सके। प्रचलित शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी जो विद्यालय या महाविद्यालय में सीखते हैं, उसके सम्बन्ध में सदा एक प्रश्न खड़ा रहता है कि उसकी वास्तविक जीवन में क्या उपयोगिता है? किन्तु बुनियादी शिक्षा का यह स्पष्ट लाभ होता है कि विद्यार्थी सीखन के क्रम में ही उस शिक्षा की व्यावहारिक उपयोगिता को भी समझ लेता है।

बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में गाँधी जी ने जो सुझाव दिया था और उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने और परीक्षण करने का आग्रह किया था[8]–

(1) प्राथमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष की या इससे कुछ अधिक हो। इसमें अँग्रेजी को छोड़कर, वे सब विषय मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाये जायें जो मैट्रिक तक पढ़ाये जाते हैं। इसके अलावा किसी एक उद्योग की पूरी तालीम विद्यार्थी को दी जाए। ज्ञान के जितने भी आवश्यक अंग हैं, उन सबकी जानकारी इस उद्योग के आधार पर देकर उसका सर्वांगीण विकास हो, यह उद्‌देश्य रहे। कुछ मिलाकर इसमें उच्चतर माध्यमिक शाला तक का शिक्षण विद्यार्थी को मिल जावे।

(2) यह पढ़ाई अपने सम्पूर्ण रूप में स्वावलम्बी हो। वास्तव में स्वावलम्बन इसकी सफलता और गुणवत्ता की कसौटी मानी जाए।

गाँधी जी की शिक्षा सम्बधी योजना को व्यवस्थित रूप देने व आगे बढ़ाने के लिए 'वर्धा शिक्षा योजना' नाम से डॉ. जाकिर हुसैन जी की अध्यक्षता में एक समिति बनी। बाद में

इसे 'बुनियादी शिक्षा' कहा जाने लगा। और इसे पहले से व्यवस्थित रूप दिया गया। सात वर्ष से कम उम्र के बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाए इसका भी एक क्रम बना, उसका नाम पड़ा– 'पूर्व बुनियादी'। बाद में बुनियादी शिक्षा में संगीत, सफाई, आरोग्य, बीमार की सेवा आदि भी जोड़ दिए गए और बुनियादी के बाद उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षाक्रम 'उत्तर बुनियादी' कहा जाने लगा।[9]

जैसा कि पूर्वोक्त है, गाँधी जी के मतानुसार शिक्षा मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास साधन की पद्धति है। और अगर यह शिक्षा सही पद्धति से है तो शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपना उपयुक्त ढंग से विकास कर सकता है और यदि मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है तो यह विकास समाज का भी सही विकास है। परन्तु यदि वही शिक्षा की पद्धति गलत हो तो समुचित विकास तो हो ही नहीं पाता, बल्कि वह गलत दिशाएँ भी पकड़ लेता है और मनुष्य का पतन ही होता है, मनुष्य का पतन समाज के पतन का कारक हो जाता है, जो आज भी प्रायः हम प्रत्यक्ष देख–सुन रहे हैं।

वर्तमान में प्रचलित शिक्षा प्रणाली के दोषों को भारत सरकार ने भी महसूस किया एवं देश भर में शिक्षाविदों से इस पर चर्चा परिचर्चा आयोजित कराई व सुझाव मँगाए। हम पायेंगे कि प्रस्तावित नई शिक्षा नीति 2020 में अधिकांश वे सुझाव शामिल हैं जो महात्मा गाँधी ने अपनी नई–तालीम में आजादी के एक दशक पूर्व प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के आमूल–चूक परिवर्तन के लिए सुझाए थे। आज जब भारत अपनी आजादी का अमृत–महोत्सव मना रहा है ऐसे में शिक्षार्थी के सर्वांगीण विकास को दृष्टिगत रखते हुए नई शिक्षा नीति के क्रियान्वयन का शुभारम्भ यहाँ के युवा एवं भारत के उज्जवल भविष्य का संकेत है। पर आवश्यकता उसके सही मर्म को समझकर सही उद्देश्य से सही दिशा में, सही हाथों से क्रियान्वयन होने व इसे अपनाने की है तभी नई शिक्षा नीति 2020 अपनी सार्थकता को प्राप्त होगी।

सन्दर्भ–सूची

1. हरिभाऊ उपाध्याय: बापू–कथा, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–221001
2. डॉ. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे:गाँधी दर्शन की रूपरेख नादर्न बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2003 पृ.–102
3. वही।
4. महात्मा गाँधी :ग्राम स्वराज्य, संग्राहक : हरिप्रसाद व्यास, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदावाद – 14, 1963 पृ.–74
5. एम.के. गाँधी : सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, अनुवादक काशिनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाश्न मन्दिर, अहमदावाद–14, 1957, पुनर्मुद्रण– 2010, पृ. 309
6. वही, पृ.–310
7. बसन्तकुमार लाल: समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2013, प्रथम संस्करण, 1992, पृ.–193
8. हरिभाऊ उपाध्याय : बापू–कथा (1920–1948) सर्वसेवा संघ–प्रकाशन, राजघट, बाराणसी–221001 अक्टूबर, 2007, पृ. 178–179
9. वही।

बाबा साहब का सोशल एन्डोस्मोसिस

डॉ. नरेन्द्र कुमार बौद्ध
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सगर (म.प्र.)

बाबा साहब अपने सोशल एन्डोस्मोसिस सम्बन्धी विचार को दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं एक तो समाज का स्वरूप जिसमें सामान्यतया समाज की संरचना का निरूपण किया जाता है, एवं दूसरा उस स्वरूप के औचित्य को दर्शाने वाली वैचारिकी का प्रतिपादन किन आधारों पर किया गया है। अर्थात् उस समाज का ढाँचा क्या है? जिसके वे सदस्य हैं उस ढाँचे का तार्किक औचित्य एवं उसकी व्यवहारिक उपादेयता क्या है? इन दोनों महत्वपूर्ण बिन्दुओं को रेखांकित करते हैं। अब यदि हिन्दू समाज की बात की जावे तो विशेष रूप से हिन्दू समाज के स्वरूप अर्थात् हिन्दू सामाजिक संरचना (जैसे वर्ण अथवा जाति संरचना) एवं उससे सम्बन्धित हिन्दू विधान अर्थात् वर्ण, जाति एवं अन्य संरचनाओं से समबन्धित विधान जो न इसे परिभाषित एवं निर्देशित करता है। दूसरे जैसे वर्णाश्रम धर्म, कर्म एवं पुनर्जन्म पर आधारित ऐसी वैचारिकी जो इसके तार्किक औचित्य एवं व्यवहारिक उपादेयता को प्रस्तुत करती है, उसके प्रतिपादन से सम्बन्धित है।

अम्बेडकर के अनुसार यदि हिन्दू समाज के ढाँचे पर विचार करें तो पाते हैं कि यह जाति के ताने–बाने पर बुना हुआ है। जाति कोई ईश्वरीय नियम नहीं है और न ही यह कोई पवित्र संस्था है। जाति व्यवस्था श्रम विभाजन नहीं अपितु श्रमिकों का विभाजन है जो विभिन्न जातियों के बीच भाईचारे की भावना पनपने नहीं देती। एक जाति दूसरी जाति से अपने को बड़ा या छोटा समझती है, क्योंकि इसमें सामुदायिक जीवन पद्धति का अभाव होता है जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की भावना ही नहीं पनप पाती है। स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुता अर्थात सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु जाति रूपी दैत्य को समाप्त करके ही ढाँचे को बदलना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि बाबा साहब किस तरह के समाज की स्थापना करना चाहते हैं? भारतीय सामाजिक ढाँचे के विषय में उनकी क्या परिकल्पना है? क्या उनकी दृष्टि में पारम्परिक समाज के स्वरूप के तार्किक औचित्य एवं उसकी स्थापित उपादेयता असिद्ध है? बाबा साहब का सोशल एन्डोस्मोसिस सामाजिक न्याय को स्थापित करने मे कहाँ तक कामयाब रहा? आदि।

बाबा साहब आदर्श समाज की स्थापना के लिए पंच फलकीय सामाजिक संरचना की कल्पना करते हैं। ये पंचफलकीय जिसके आधारभूत तत्त्व – धर्म, व्यक्ति, सामाजिक लोकतंत्र, राजनैतिक लोकतंत्र और राज्य समाजवाद हैं। वे धर्म को परम्परात्मक भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही प्राथमिकता देते हैं, और धर्म को व्यक्ति तथा समाज के अन्य सभी तत्त्वों का धारक निरूपित करते हैं। लेकिन वे हिन्दू धर्म या किसी मजहब के स्थान पर बौद्ध धर्म को अपने

समाज की संरचना का आधार मानते हैं। इसका कारण परम्परात्मक भारतीय प्रारूप एवं अम्बेडकरीय प्रारूप में भिन्नता का केन्द्र बिन्दु जाति एवं दूसरा लक्ष्य व्यक्ति है। चूँकि व्यक्ति एवं समाज का सम्बन्ध सावयवी सम्बन्ध नहीं है जैसा कि मशीन एवं उसके पुर्जे का होता है। न ही समाज में अस्तित्व को खो दे ऐसा है वरन् उसकी अपनी अस्मिता होती है। व्यक्ति समाज का सम्बन्ध बूँद और समुद्र के बीच के सम्बन्ध जैसा भी नहीं है वह केवल समाज की सेवा के लिए पैदा नही हुआ बल्कि आत्म विश्वास के लिए भी कार्य करता है। वह आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक संगठनों की रचना करता है। इसलिए समाज, राज्य तथा आर्थिक धार्मिक तंत्र व्यक्ति के लिए हैं न कि व्यक्ति उनके लिए। इस प्रकार समाज, राज्य, धर्म एवं अर्थतंत्र का उद्देश्य व्यक्ति के विकास के लिए अनुकूल पृष्ठ भूमि का निर्माण करना होना चाहिए। जो व्यवस्था इस तथ्य की अवहेलना करती है, वह उन्नत और टिकाऊ नहीं हो सकती। बिना इसके व्यक्ति की स्वतंत्रता व अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती। अर्थात् अम्बेडकर वैयक्तिक स्वतंत्रता के विरोध की जगह व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा पर जोर देते हैं।

वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्षधर नहीं है जो अधिकांश लोगों की गरिमा को खंडित करती है और उन्हें पशुवत् जीवन व्यतीत करने को बाध्य करती है। वैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन तो जाति सहित अन्य सभी सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएँ करती हैं, अन्तर सिर्फ इतना रहता है कि जहाँ जाति व्यवस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता का परिसीमन विधान के उल्लंघन के नाम पर करती हैं, वहीं अन्य व्यवस्थाएँ जैसे साम्यवादी या तानाशाही ऐसा आर्थिक विषमता को कम करने या आर्थिक विकास को तेज करने की दृष्टि से करती हैं।

धर्म:

अम्बेडकर, मार्क्स की तरह धर्म को समाज के लिए अफीम नहीं मानते हैं वरन मानव–जीवन और प्रगति के लिए आवश्यक मानते हैं। समाज में एकता संगठन बनाए रखने की दृष्टि से नैतिक और वैचारिक संहिताओं का होना आवश्यक है। चाहे कैसे ही और कितने ही शक्तिशाली कानूनों का निर्माण क्यों न कर लिया जाए किन्तु वास्तविक धर्म की स्थापना के बिना अपेक्षित सामाजिक संरचना की स्थापना संभव नहीं है। क्योंकि कानून के माध्यम से समाज को सीमित हद तक अनुशासन में रखा जा सकता है। अतः समाज को अधिकांशतः अनुशासन में रखने के लिए धर्म व नैतिकता का सहारा आवश्यक है। लेकिन समाज में साधारणतः जो धर्म स्वीकार किया जाता है, वह मजहब होता है। मजहब ईश्वर पूजा, आत्म प्रार्थना, यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड तथा रहस्य पर आधारित होता है।जिसका सम्बन्ध इस विश्व से कम परलोक से अधिक होता है।

– जबकि वास्तविक धर्म तर्क व विवेक संगत हो।
– सामाजिक नैतिकता की एक संहिता के रूप में स्वतंत्रता समानता और भ्रातृत्व सम्बन्धी मानवीय मौलिक तत्वों को प्राथमिकता प्रदान करने वाला हो।
– सर्वकालिक एवं सार्वभौमिक हो जो सभी काल सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा कर सकता हो।
– यह निर्धनता का अनुमोदन न करने वाला हो।

अम्बेडकर की दृष्टि में बौद्ध धर्म ही एक मात्र ऐसा धर्मा है जो वास्तविक धर्म की उपरोक्त कसौटियों पर खरा उतरता है। वास्तविक धर्म से आशय धम्म अर्थात्, बुद्ध के बताए मार्ग से है। धम्म सामाजिक है। ईश्वर, आत्मा, परलोक की बात नहीं करता धम्मा सदाचार है, मिथ्या विश्वास नहीं वरन् सामाजिक नैतिकता है। धम्म के बुनियादी तत्त्व प्रज्ञा, करूणा, मैत्री और प्रेम हैं। इस प्रकार अम्बेडकर की सामाजिक संरचना का प्रारूप एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था जो व्यक्ति को स्वतंत्रता और आत्म विश्वास के पर्याप्त अवसर प्रदान करती है।

सामाजिक प्रजातंत्र : सामाजिक प्रजातंत्र स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्त्व के सिद्धान्तों पर आधारित है। स्वतंत्रता का तात्पर्य जीवन तथा शरीरिक रक्षा, एवं मनुष्य की शक्ति के सक्षम एवं प्रभावकारी प्रयोग की स्वतंत्रता से है। इसकी स्वतंत्रता यदि किसी को नहीं है तो इसका अर्थ उसको दासता में जकड़ कर रखना है, क्योंकि दासता केवल पराधीनता को ही नहीं कहा जा सकता, बल्कि कुछ व्यक्तियों को दूसरे लोगों द्वारा निर्धारित व्यवहार एवं कर्तव्यो का पालन के लिए विवश होना भी है।

इसी प्रकार समता भी सार्वजनिक जीवन का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि सभी मनुष्य क्षमता व गुणों में भिन्न होते हैं। इसलिए समता को समाज का सर्वमान्य अथवा नियामक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है। अम्बेडकर का मानना है कि मनुष्य की क्षमता तीन स्तर पर निर्भर करती है– एक मनुष्य की शारीरिक वंश परम्परा दो सामाजिक उत्तराधिकार जैसे माता–पिता का प्यार, शिक्षा, ज्ञान–विज्ञान जो व्यक्ति को सामाजिक परम्परा के रूप में मिलता है जो अन्य व्यक्ति की अपेक्षा सभ्य बनाता है। तीसरा व्यक्ति के अपने प्रयास।

पहले दो विषय जो व्यक्ति के वश में नहीं होते, उनके आधार पर उसके साथ असमानता का व्यवहार उचित नहीं है। यदि पहली दोनों बातों में ऐसे व्यक्ति समान हैं तो असमान प्रयत्न के आधार पर उनसे असमान व्यवहार किया जा सकता है। अम्बेडकर का मानना है समाज यदि अपने व्यक्तियों से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है तो उसे सभी व्यक्तियों को आरम्भ से ही समान अवसर व सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहिए। ताकि कोई व्यक्ति जिसके पास साधन नहीं है, मानव दौड़ में पीछे न रह जाए। अतः साधनहीन व्यक्तियों की सहायता करना समता का ध्येय है।

समानता के अभाव में स्वतंत्रता समाज में कुछ लागों को शेष लोगों पर अपना शेष लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की छूट प्रदान करती है तो दूसरी तरफ बिना स्वतंत्रता के समानता व्यक्ति की सृजनात्मकता प्रवृति को कुंठित करती है। जिसके परिणाम स्वरूप बिना भ्रातृत्व के स्वतंत्रता और समानता समाज में स्वाभाविक कार्य व्यवहार के स्थापित नहीं हो सकती इसलिए। सभी व्यक्तियों और वर्गो का स्वाभाविक सम्मिश्रण सम्भव हो सके इसके लिए सोशल एन्डोस्मोसिस ही मूल आवश्यक है।

जाति व्यवस्था और हिन्दू समाज एक दूसरे के पर्याय हैं। जाति से पृथक हिन्दू समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जाति–व्यवस्था का नियमन हिन्दू सामाजिक विधान के द्वारा ही होता है जिसकी बुनियाद हिन्दू धर्म के उस सामाजिक दर्शन पर टिकी है जिसे वर्णाश्रम

या वर्णाश्रम वैचारिकी का जाता है। अर्थात् कहा जा जा सकता है कि हिन्दू समाज में अन्याय का मूल कारण ही सामाजिक विधान और हिन्दू वैचारिकी है। इसलिए जब तक उन्हें समाप्त नही किया जाता तब तक हिन्दू समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना अर्थात् स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्त्व भावना का विकास सम्भव नही है।

राजनैतिक प्रजातंत्र : प्रजातंत्र का तात्पर्य सरकार का वह स्वरूप है जिसके माध्यम से लोगों के साममजिक आर्थिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न किए जाएँ अम्बेडकर प्रजातंत्र का समर्थन करते हैं लेकिन उसे अंतिम सत्य नही मानते। प्रजातंत्र व्यक्ति को विकास के पूर्ण अवसर प्रदान करने की दृष्टि से श्रेयस्कर है। यह आवश्यक स्वतंत्रता सम्मान और अधिकार भी प्रदान करता है। इसकी प्राथमिकता इसलिए है क्योंकि व्यक्ति को शैक्षिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाएँ बनाने का अधिकार प्रापत होना चाहिए ताकि वह अपनी समस्याओं को सरकार के सम्मुख प्रभावकारी ढंग से रख सके। अम्बेडकर प्रजातंत्र में नियमबद्धता की अपेक्षा सामाजिक उत्तरदायित्व को अधिक महत्वपूर्ण निरूपित करते हैं।

अम्बेडकर का लोतांत्रिक समाजवादी दृष्टिकोण व्यक्तिमूलक है। वे व्यक्ति के कार्यों और अधिकारों में राज्य और समाज का कम–से–कम हस्तक्षेप चाहते हैं। उनके अनुसार राज्य एक ऐंसा संगठन है जो एक नागरिकों को जीवन–अधिकार, स्वतंत्रता, भाषण तथा धर्मानुसरण की आजादी प्रदान करता है। दूसरा विभिन्न वर्गों के मध्य सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक असमानता को दूर करता है, और तीसरा नागरिकों को भय एवं अभाव से मुक्त करता है।

राज्य व्यक्ति और समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक मात्र साधन है न कि अपने आप में साध्य। अर्थात् राज्य की तुलना में व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि राज्य का निर्माण व्यक्ति ने किया है। राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसी समाज व्यवस्था का विकास कर सके जिसमें व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके।

आदर्श सामाजिक न्याय की अवधारणाः

न्याय एवं न्याय के औचित्य में अत्यन्त निकटता का सम्बन्ध है। न्याय के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि न्याय एक व्यक्ति विशेष का हक है उसे मिलना ही चाहिए तो प्रश्न उठता है कि यह उस व्यक्ति का हम क्यों है? उसके हक का औचित्य क्या है? अगर यह उस व्यक्ति का जायज हक है तो अवश्य मिलना चाहिए अन्यथा नहीं। जेसे शिशु को माँ का दूध का हक है। यह उसका जायज हक इसलिए है, क्योंकि यह अनादिकाल से होता आया है बल्कि इसलिए कि बच्चे को जन्म देना यदि माँ का नैसर्गिक अधिकार है तो माँ के दूध पर बच्चे का भी नैसर्गिक अधिकार है तथा न्यायसंगत भी यही है कि बच्चे को माँ का दूध पीने के लिए उपलब्ध होना ही चाहिए। अब प्रश्न उठता है यदि कोई माँ अपने बच्चे को अपना दूध नही उपलब्ध कराती है तो बच्चा स्वयं न्याय पाने में समर्थ नही है तो अपने विरूद्ध इस अन्याय का प्रतिकार कैसे करे?

पशु समाज में मत्स्य न्याय का सिद्धान्त काम करता है जिसमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं सत्सय समाज में छोटी मछलियाँ न तो अपनी रक्षा हेतु एकजुट होती हैं और न ही बड़ी मछलियाँ अपने द्वारा छोटी मछलियों को निगलने को पाप, अनैतिक या

गैर–कानूनी करार कर निसिद्ध करती हैं। परन्तु मानव समाज में कमजोर की रक्षा करने और उसका जायज हक दिलाने का दायित्व समाज का होता है। यह मान्यता ही वस्तुतः समाजिक न्याय की धारणा का आधार है।

इसी मान्यता के चलते अमेरिका में काले लोगों की ओर से अब्राहम लिंकन ने यह प्रश्न उठाया था कि 'हमारा मालिक बनना आपके हित में हो सकता है मगर आपका गुलाम बनना कैसे हमारे हित में हो सकता है।' इसी भावना ने गाँधी को भी यह कहने के लिए बाध्य किया कि 'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म के लिए अभिशाप है', अस्पृश्यता जीवित रहे इससे अच्छा हिन्दू धर्म मर जाए। उनकी पहल अन्याय के निवारण तक ही सीमित नही होती बल्कि एक बेहतर और न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए भी होती है।

स्वतंत्रता का आशय 'बंधन और अवरोध का न होना' है जबकि समानता से तात्पर्य 'भेदभाव का नही होना' है। अम्बेडकर स्वतंत्रता अथवा समानता को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष मानते हैं इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता इसी अर्थ मे है कि वह दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रभावित नहीं करे। जैसे निर्धन व निर्बल है तो उनके अनुसार ऐसे में अवसर की समानता का कोई व्यवहारिक मूल्य नहीं है जब तक कि निर्बल व कमजोर व्यक्ति अथवा वर्ग को विशेष संरक्षण प्रदान न किया जाए। ऐसी दशा में कमजोर वर्ग के लोगों को साधन व सुविधा प्रदान किया जाना समता के सिद्धन्त के विरूद्ध नहीं अपितु अनुकूल है।

जहाँ तक समानता का प्रश्न है अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू उपनिषदों में समानता के तत्व मौजूद हैं किन्तु उपनिषद् हिन्दू विज्ञान के अंग हैं न कि हिन्दू धर्म के। यदि ये हिन्दू धर्म के अंग होते तो हिन्दू समाज का एक वर्ग जो सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक रूप से प्रभावित नहीं होता। इस आधार पर अम्बेडकर का मानना है कि हिन्दू समाज का बुनियादी सिद्धान्त असमानता है। वर्ण एवं जाति की रचना श्रेणीबद्ध असमानता के सिद्धान्त पर हुई है, जो जन्मजात और अपरिवर्तनीय है। वर्णों एवं जातियों की समाज में स्थिति तथा उनमें अधिकार एवं सुविधाओं का वितरण भी असमानता पर आधारित है। जैसे–जैसे हम सामाजिक सोपान में नीचे उतरते हैं वर्णों के अधिकार एवं रियायतें घटती जाती है। अंतिम पायदान के आने तक समाप्त हो जाती हैं, अंतिम पायदान के प्रति समाज का यह स्वरूप दासता प्रदायक, अत्यन्त कठोर एवं अमानुषिक हो जाता है।

निष्कर्षतः अम्बेडकर की आदर्श समाज व्यवस्था जो स्वतंत्रता समानता एवं भ्रातृत्व पर आधरित है इस दृष्टि से गतिमान होगी कि इसके किसी एक भाग में होने वाले परिवर्तनों को दूसरे भागों तक पहुँचाने के लिए विभिन्न रास्ते होंगे। वस्तुतः इसमें साथ–साथ रहने एवं संयुक्त अनुभव के आदान प्रदान की यह सामूहिक जीवन की एक विधि है जिसमें अपने साथियों के प्रति आदर व सम्मान के दृष्टिकोण का विकास होता है।

यदि परम्परागत समाज का विधान केवल सामाजिक असमानता से सम्बन्धित होता तो भारतीय समाज में एक वर्ग विशेष की समस्या शायद इतनी गम्भीर नहीं होती और न ही हिन्दू समाज को यह वर्ग अपने पतन का सर्वाधिक उत्तरदायी ठहराता। सामाजिक असमानता के वि-

ान के साथ धार्मिक असमानता का विधान भी निर्धारण किया गया यदि धार्मिक समानता का सिद्धान्त बनाया होता तो वर्गीय असमानता स्वतः समाप्त हो जाती। ईश्वर के समक्ष समाज के सभी सदस्य समान होते और धरती पर समानता स्थापित होने से दुनिया की कोई भी ताकत नहीं रोक सकती थी चूंकि किसी न्यायपूर्ण समाज की पहचान उस समाज में भाईचारे की भावना का होना है। समाज में यदि व्यक्तिवाद अधिक है तो उससे हमेशा अराजकता फैलने की आशंका बनी रहती है। केवल मैत्री भाव या भ्रातृत्त्व भाव ही ऐंसा है जो समाज में नैतिक व्यवस्था को बनाए रखता है। वैयक्तिक स्वार्थ तो केवल लोगों को एक–दूसरे से पृथक करता है जबकि भ्रातृत्व भावना समाज में लोगों को दूसरों के साथ जोड़ती है।

समाज में स्वतंत्रता और समानता को तो कानून के माध्यम से किसी हद तक स्थापित किया जा सकता है, किन्तु भाईचारे का विकास कानून के आधार पर नहीं किया जा सकता। कानून के द्वारा स्थापित की गई स्वतंत्रता एवं समानता भी स्थाई नहीं होती। इनकी स्थापना ऐसी वैचारिकी के माध्यम से ही हो सकती है जो युक्तिसंगत, तार्किकता और नैतिकता पर आधारित हो इसके लिए बौद्ध वैचारिकी उत्तम है, जो पाश्चात्य नहीं अपितु भारतीय है। यही बाबा साहेब की सोशल एन्डोस्मोसिस की कल्पना है। लेकिन यह भावना समाज में तभी पनप सकती है जब लोग एक–दूसरे के समान हों। एक–दूसरे की स्वतंत्रता को महत्व देते हों। एक दूसरे का सम्मान करते हों तथा समाज में विचारों एवं अन्य का आदान–प्रदान निर्बाध और समरस हो। अतः बाबा साहब की यह आदर्श न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हेतु सोशल एन्डोस्मोसिस की विचारधारा न केवल एक समाज के लोगों के मध्य वरन् विभिन्न समाजों के मध्य भ्रातृत्व भाव की स्थापना हेतु महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो गई है।

सन्दर्भ

1. अम्बेडकर बी.आर. बुद्धा एण्ड दा फ्यूचन ऑफ हिज रिलिजन, जालंधन, भीम पत्रिका, 1980, पृ. 205
2. कीर, धनंजय, डॉ. अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन, बाम्बे, पापुलर प्रकाशन, 1981, पृ. 205
3. लिमये मधु, डॉ अम्बेडकरः एक चिन्तन (मस्तराम कपूर, अनुदित), नई दिल्ली, सरदार बल्लभभाई पटेल एजुकेशन सोसाइटी, 1980
4. मून बसंत, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर (प्रशान्त पाण्डेय अनुदित), नई दिल्ली नेशनल बुक ट्रस्ट, 1991, पृ. 205
5. तिवारी विवेकानन्द : अछूतवाद के सच पृ. 339
6. उदत, विकल्प की तलाश : बुद्ध से अम्बेडकर तक, रामगोपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस जयपुर, 2008 पृ. 207–209

रविंद्र संगीत का दार्शनिक विवेचन

निवेदिता साबत
पी.एच.डी. शोधार्थी (दर्शन विभाग),
शास० हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल म०प्र०

भारतीय नवजागरण के प्रहरी रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किया है कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किया है और उन्होंने समन्वयकारी जीवन दर्शन को अपने व्यक्तित्व में विकसित भी किया। रविंद्रनाथ टैगोर का जन्म 1861 ई. में हुआ है। जिस घर में उनका जन्म हुआ वहाँ ईसाई धर्म से सम्बन्धित वातावरण अधिक था। इसीलिए बचपन से ही उन्होंने धर्म का मर्म समझा और प्रकृति की गोद में विचरण करते हुए मानव की संवेदना और जगन्नियन्ता की आराधना करते रहे हैं। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन किया, किन्तु उनका अपना दार्शनिक दृष्टिकोण अलग था। रवीन्द्रनाथ का मुख्य दार्शनिक काव्य 'गीतांजलि' है जिस पर उन्हें सन् 1915 में नोबल पुरस्कार मिला। उनकी अन्य प्रमुख कृतियाँ क्रियेटिव युनिटी, द रिलीजन ऑफ मेन, साधना, स्टेबर्डस आदि हैं। उनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति कवि की प्रेरणा और अन्तरानुभूति की देन है। उनके दार्शनिक विचार मुख्यतः तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित हैं।[1] उन्होंने दो देशों– भारत एवं बांग्लादेश के राष्ट्रगान की रचना कीएवं शान्तिनिकेतन की स्थापना की जो आज विश्वविद्यालय के रूप में प्रसिद्ध है।

कवि रत्न रवीन्द्रनाथ टैगोर ने, संगीत की एक नई विधा को जन्म दियाउसी विधा का नाम 'रवीन्द्र संगीत'है।'रवीन्द्र संगीत' का प्रभाव समूचे पूर्वी भारत पर तो है हीसाथ ही अन्यत्र भी उसे गाया बजाया जाता है। सन् 1925 ई० को रवीन्द्र संगीत शब्द सर्वप्रथम प्रयुक्त किया गया। यूं तो देखा जाए भारतीय संगीत का मूल स्रोत सामवेद है परंतु संगीत को वेदों से भी पुरातन कहना गलत नहीं होगा क्योंकि संगीत भाव से जुड़ा है एवं यह उतना ही पुरातन है जितना की मानवीय भावना। यह भी सत्य है कि शब्दों में 'भावे हि विद्यते देवः तस्मात् भावो हि कारण'[2] अर्थात् भावना ही देवों का निवास है, अतः ईश्वर के साक्षात्कार का मुख्य आधार भावना ही है। किसी भी कला को भलीभांति जानने के लिए उसकी पूर्ण फिलॉसफी को समझना जरूरी है इसीलिए रविन्द्र संगीत को जानने से पहले हमें महान दार्शनिक कवि गुरु रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझना जरूरी है।

रविंद्र नाथ टैगोर के दार्शनिक दृष्टिकोण एवं मानव धर्म–

रविंद्र नाथ टैगोर के दार्शनिक विचारों पर सबसे अधिक प्रभाव उपनिषद और वेदान्त का दिखाई देता है जिसमे अमूर्त एकवाद तथा एक विशेष प्रकार के ईश्वरवाद का अनूठा एवं धार्मिक समन्वय है। उनकी मान्यता है कि सत एक ही है एवं इस एक को ईश्वर भी कहते हैं। इसीलिए टैगोर को हम आध्यात्मवादी और आदर्शवादी भी कह सकते हैं उनके अनुसार मानव में ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति ही मानव धर्म है। कवि गुरु रविंद्र नाथ टैगोर प्रकृति प्रेमी भी थे एवं प्रकृति को

बालक की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे प्रकृति से उन्होंने उन गहराइयों को जाना जो संगीत, काव्य, शिल्प और नृत्य आदि कलाओं को जन्म देती है।

कवि गुरु के अनुसार, मानव के दो स्वरूप होते है–

1– समीम पक्ष एवं

2– असीम पक्ष

एक श्रेष्ठता पक्ष है तथा दूसरा उसका भौतिक जैविक पक्ष है जो पहले की तुलना में निम्नतर है। उनके अनुसार मानव धरती का बालक तो अवश्य है, परन्तु वास्तव में स्वर्ग का उत्तराधिकारी है। ससीम पक्ष मानव का भौतिक मनोवैज्ञानिक पक्ष है तथा असीम पक्ष मानव का आध्यात्मिक पक्ष है। वह स्वतन्त्रता जो मानव के असीम स्वरूप की पहचान है वही उसकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। भौतिक पक्ष से तात्पर्य उसके शारीरिक, जैविक तथा मन एवं उसके विभिन्न स्थितियों में प्रकट होता है एवं उसका आध्यात्मिक पक्ष उसके भौतिक पक्ष से परे है। आध्यात्मिक तत्त्वों को उन्होंने सौन्दर्यबोध, मधुर संगीतएवं सुन्दर कलाकृति आदि से जोड़ा है। टैगोरमानव के भौतिक पक्ष की वास्तविकता को स्वीकार करते है। उनके अनुसार यही शरीर धारी जीव संसार में जीवन में गतिशील है तो इसका निषेध नहीं हो सकता है।मानव के भौतिक पक्ष की वास्तविकता को अस्वीकार करने से मानव के आध्यात्मिक पक्ष का भी निषेध हो जाता है। भौतिक जीवन जीने की प्रक्रिया में ही आध्यात्मिकता की अनुभूति होती है। 'शरीरी अस्तित्व आधार है, उसे हटाने पर आध्यात्मिक अस्तित्व भी आधारहीन हो जाएगा। अतः टैगोर के अनुसार मानव के भौतिक पक्ष का निषेध आत्म व्याघातक है। मानवस्वरुप के द्वितीय पक्ष असीम पक्ष है। मानव के असीम पक्ष के कारण ही उसमें आकांक्षा जागती है। टैगोर के अनुसार मनुष्य की वास्तविकता उसके असीम पक्ष में है। आत्म को अनुभूत करना ही उसका परम लक्ष्य है। इसी असीम स्वरूप के चलते ही मनुष्य प्रकृति की ओर आकर्षित होता है। मनुष्य अपने भौतिक स्तर में प्रकृति के प्रति वह अभिन्नता का भाव नहीं उत्पन्न कर पाता जैसा वह आध्यात्मिकता के स्तर पर कर पाता है। मनुष्य, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रभाव में विह्वल हो सकता है, परन्तु इन सभी भावनाओं में आत्मा तथा प्रकृति के द्वैत में जीते हुए भी उसे यह प्रतीत होता है कि प्रकृति तथा उसमें कोई विरोध नहीं है बल्कि आपस में इनका विचित्र लगाव है। इस प्रकार मनुष्य में एक साथ दो प्रकृतियाँ कार्यरत हैं। एक ओर तो वह प्राकृतिक शक्तियों का सामना करता है दूसरी ओर वह प्रकृति से ऐक्य की अनुभूति भी रखता है।

व्यक्तित्व विकासः

टैगोर कहते हैं कि,मनुष्य केवल वह नहीं है जो वह ऊपर से दिखाई देता है, बल्कि उसकी वास्तविकता इस ऊपर से दिखाई देने वाले उसके असीम रूप से कहींअधिक है। टैगोर के अनुसार, मानव का असीमता का पक्ष अनिवार्यतः सृजनात्मक एवं रचनात्मक है। 'सृजनात्मक' से टैगोर का तात्पर्य मात्र यही नहीं है कि उसके द्वारा कुछ नवीन का निर्माण सम्भव है। सृजनात्मक के अन्तर्गत नए विचारों का उत्पन्न होना भी है। स्वयं में निहित असीमता के कारण ही मनुष्य में सतत् विकसित होने व उच्चतर स्तरों को प्राप्त करने की शक्ति है। विकास एक

यन्त्र वादी प्रक्रिया नहीं है, विकास पुनरावृत्ति का भी नाम नही हैबल्कि यह बीते हुए क्षणों का साथ लेता हुआ उनमें सदा कुछ नवीन सृजनों को जोड़ता हुआ प्रतीति की प्रक्रिया है। मनुष्य की यह विशेषता उसके असीम स्वरूप की पहचान है। यदि मनुष्य मात्र एक शरीरधारी जीव होता है तो इस विकास का अर्थ होता शरीर का बढ़ जाना, शारीरिक शक्तियों का अधिक प्रबल हो जाना परन्तु मानव व्यक्तित्व का विकास केवल उस रूप में नहीं होता। रविंद्र नाथ टैगोर शिक्षाविद भी थे। उनके अनुसार शिक्षा के माध्यम से भी व्यक्तित्व विकास किया जा सकता है। शिक्षा का स्वरूप सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक होना चाहिए, शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा होना चाहिए, शिक्षा रोजगार परक और मानव में नैतिक विकास का उत्थान करने वाली हो। शिक्षा के माध्यम से एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण हो जो सभ्य, ललितकला प्रेमी, आर्थिक स्वावलम्बी, नैतिक, आध्यात्मिक, भयमुक्त, सहानुभूति, त्याग और समाजसेवा से परिपूर्ण हो ।

रवीन्द्र संगीत–

रवीन्द्र संगीत भाव प्रधान एवं स्वतंत्र है। जिसे न शास्त्रीय संगीत कहा जा सकता है और न लोक–संगीत। बल्कि गंगा–जमुना के बीच मिलनेवाली तीसरी सरस्वती–धारा का नाम उसे दिया जा सकता है। इसका अति प्रिय एवं सरल स्वरूप के कारण बड़े और छोटे बच्चे भी इसे सरलता से गाते हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है भाव का अभिव्यक्तिकरण। रवीन्द्रनाथ ने शास्त्रीय रागों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया। भारतीय संगीत के आराधना–परक संगीत से वे प्रभावित थे, परंतु शास्त्रीय संगीत के जटिल तानों के दबाव में शब्द एवं भाव का लुप्त हो जाने को वे घोर विरोध करते थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रीय संगीत और लोक–संगीत के बीच की ऐसी धारा प्रवाहित की जिसे सम्पूर्ण लोक ने सराहा। रवीन्द्र संगीत का मूलाधार रुपद पद्धति है। इसमें टप्पा का समावेश भी किया गया है, लेकिन तानें सरल ग्रहण की गई है। संगत के लिए तबला, तानपूरा, पखावज, और ऑर्गन टाइप के हारमोनियम का योग किया गया। इसमें मुख्यतः आठ प्रकार के सरल ताल का प्रयोग किया गया एवं इसके अधिकांश रचनाएँ यमन, तोड़ी, भैरवी, आशावरी, पूर्वी, मल्हार और केदार आदि रागों के आधार पर किया गया। रवीन्द्र–संगीत में रागों का चलन बड़े धैर्य और गम्भीरता से होता है और इसके गायकी में, स्थिरता अथवा ऐसा ठहराव होता है, जो मानव के संवेदना को समयरूप में अभिव्यक्त करता है। रवीन्द्र संगीत के रचनाओं को अवसरों के अनुकूल तैयार किया गया जैसे प्रार्थना, विरह, हर्ष, सृष्टि, आत्मबोध, वैराग्य, अनुशासन, प्रेम तथा विभिन्न ऋतु। इनके आधार पर रविंद्र संगीत मुख्यतः 6 भागों में विभाजित है–(1) पूजा (2) स्वदेश (3) प्रेम (4) प्रकृति (5) नृत्य नाटक (6) विविध गीत।[1] रवीन्द्र–संगीत का प्रभाव फिल्म–संगीत पर भी पड़ा और वह अधिक लोकप्रिय हुआ।

रविंद्र संगीत में कवि गुरु ने अपने दार्शनिक पक्ष को अति सुंदरता के साथ अभिव्यक्त किया है। जिसमे ईश्वर के सच्चिदानंद रूप का वर्णन पाया जाता है जैसे–

"आनंद धारा बही छे भुवने दिन रजनी कत्तो अमृत रशो उथली जाए आनंत गगने "

तो कहीं कवि गुरु की रचनाओं में ब्रह्म के विश्वरूप का वर्णन पाया जाता है जैसे–

"महा विश्व महाकाले महाकालो माझे "

साथ ही कवि गुरु की कई रचनाएँ देश भक्ति के रूप में प्रकट होती है, जो भारतीयों के मन में प्रेरणा, उत्साह और देश प्रेम जगा देती है, जैसे–

"ज्योदी तोर डाक शुने केउ ना आशे तबे एकला चलो रे"[4]

निष्कर्ष :

टैगोर ने मनुष्य को ऊँचा उठाकर ईश्वरत्व से विभूषित किया है तथा ईश्वर को मानव के हृदय में बैठाकर उसके मानवीय रूपों को उभारने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य अहं के बन्धनों से मुक्त कर वास्तविक आदर्श ज्ञान प्रदान करना है।कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'गीतांजलि' में कहते हैं, कि–

I Knew Thou takes pleasure in my singing-
I Know that only as a Singer
I come before They presence[5]

अर्थात् मैं जानता हूँ, कि तुम मेरे गीतों में आनंद लेते हो। उस समय मैं केवल गायक बनकर तुम्हारे समक्ष होता हूँ तेरे अप्राप्य चरणों को मैं अपने गीतों के अनंत प्रशस्त पंखों की कोर से छू भर पाता हूँ। अतः कवि गुरु के अनुसार ईश्वर प्राप्ति का सर्वोच्च माध्यम संगीत है और इसे उन्होंने अति सुंदरता एवं सरलता के साथ रविंद्र संगीत में प्रस्फुटित किया, जो लोक के आनन्द की मार्मिक अनुभूति बनकर रह गया।कविवर टैगोर की आवाज में एक सिद्ध गायक के कंठ–जैसी मधुरिमा निहित थी।इसीलिए वे छन्द की गत्यात्मक तरंग मे कवि और गायक का हृदय लेकर एक सम्राट् की भाँति विचरण किया करते थे। भारतीय संस्कृति, वैदिक गुणों का समावेश रविंद्र संगीत, रविंद्रनाथ टैगोर की अप्रतिम देन है एवं यह मधुर, कर्णप्रिय, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्यों के उच्च शिखर पर आसीन रवीन्द्र–संगीत आज सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. आर. गुप्ता, (2019) दर्शनशास्त्र, रमेश पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, आईएसबीएन– 978 9387 918 085,पृष्ठ संख्या –9०
2. शर्मा, पं.श्रीराम, (2014), सामवेद संहिता , प्रकाशक– युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि , मथुरा, पृष्ठ संख्या दृ 5
3. वसंत, 2007 (26वां संस्करण), संगीत विशारद, प्रकाशक संगीत करालय, हाथरस–204 101 (यूपी), संगीत विद्यालय, हाथरस द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या– 690
4. रवींद्रनाथ ठाकुर, (1996), गीत बितान, विश्व भारती ग्रंथ, प्रकाशक– श्री ज ग बिंद्रा भौमिक विश्व भारती,नबी भाग कोलकाता ,मुद्रक–एस. अंटूल एंड कंपनी प्राइवेट लिमिटेड कोलकाता, पृष्ठ संख्या–140, 137,244
5. डॉ अश्विनी कुमार सिंह, (2011), भारतीय संगीत का दर्शन और सांस्कृतिक परीक्षा, समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली, मुजफ्फरपुर, भारतीय संगीत का दर्शनिक और सांस्कृतिक परीक्षा, आईएसबीएन– 978–81–87855–91–0, पृष्ठ संख्या. 23

"दिव्य जीवन" की स्थापना में "पूर्ण अद्वैत योग" की भूमिका : श्री अरविन्द के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. भगवन्त सिंह,
आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन एवं योग अध्ययनशाला,
पं.रविशंकर शुक्ल वि.वि. रायपुर (छ.ग.)
योगेश्वर कुमार साहू,
शोधार्थी, दर्शन एवं योग,
पं.रविशंकर शुक्ल वि.वि. रायपुर (छ.ग.)

जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपनी बौद्धिक क्षमता का प्रयोग कर प्रकृति एवं उसके विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास करता रहता है। अपने इस प्रयास एवं वर्तमान स्थिति से वह कभी संतुष्ट नहीं होता। यही असंतुष्टता की भावना उन्हें विकास की ओर अग्रसर करता है। विकास के अलग–अलग क्षेत्र होते हैं जैसे– भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक आदि।

विकासवाद के संबंध में श्री अरविन्द ने भी अपना दार्शनिक सिद्धांत दिया है जिसमें वह कहते हैं कि विकासवाद का चरम लक्ष्य पृथ्वी पर "दिव्य जीवन" की स्थापना है। जब तक इसका अवतरण नहीं होगा तब तक विकास प्रक्रिया इसी तरह अनवरत चलती रहेगी। पृथ्वी पर "दिव्य जीवन" की स्थापना होना ही है, भले ही देर से सही। "दिव्य जीवन" का आशय है प्रेम, सौहार्द्र और सहानुभूतिपूर्ण जीवन जो प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान होंगे। जहां कार्य अज्ञानतावश नहीं बल्कि पूर्ण ज्ञान के आलोक में होगा।

सामान्यतः सभी का जीवन विभिन्न प्रकार के कष्टों एवं अवरोधों से घिरा होता है। दुःख, चिंता, व्याधि एवं मानसिक उद्वेग इन पीड़ाओं को और अधिक बढ़ा देती है। ऐसे में मनुष्य व्यथित और कुंठित हो जाता है, किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में तथा दुष्परिणाम की चिंता किये बिना ही न करने योग्य कर्मों को भी कर लेता है। अज्ञानतावश किये हुए कर्म के परिणाम से वह घोर निराशा तथा दुख के सागर में डूब जाता है। असंख्य मानव चेतना के जीवनलीला की परिणति इसी प्रकार ही होती है।

"दिव्य जीवन" उपरोक्त सभी प्रकार की समस्याओं को दूर कर आनंद का मार्ग प्रशस्त करता है। श्री अरविन्द कहते है कि मनुष्य सामान्य जीवन से "दिव्य जीवन" प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयासरत रहता है। "दिव्य जीवन" में रूपांतरण की प्रक्रिया बहुत ही धीमी गति से होती है। इसे प्राप्त करने के लिए हो सकता है अनेक जन्म भी लगे किन्तु "पूर्ण अद्वैत योग" द्वारा विकास प्रक्रिया को तीव्र कर सहज ही "दिव्य जीवन" प्राप्त किया जा सकता है।

विकासवाद :–

श्री अरविन्द के अनुसार चेतना का निम्नतर स्तर से उच्च स्तर में परिणत होना विकास

है किन्तु यह तभी संभव है जब उच्चतर का निम्नतर में अवतरण होगा। विकासवादी सिद्धांत के अनुसार उच्चतर रूपों का मानस, प्राण तत्व, जड़ तत्व, आदि में अवतरण होने से ही इन तत्वों का विकास हो पाता है।

श्री अरविन्द का कथन है कि कोई तत्व उच्चतर रूपों मे तब तक विकसित नहीं हो सकता जब तक वह उच्चतर रूप उसमें न उतर आये। यदि यह उच्चतर रूप सूक्ष्म ढंग से उन निम्नतर तत्वों में विद्यमान न रहे तो उनमें इन रूपो का विकास हो ही नहीं सकता। इसलिए श्री अरविन्द विकास प्रक्रिया को अवतरण की विपरीत प्रक्रिया मानते है। यहां विपरीत का अर्थ नकारात्मक नहीं है बल्कि विकास तथा अवतरण एक ही मार्ग में दोनों ओर से अग्रसर होने वाली प्रक्रिया है।

चेतना का आरोहहण

सर्वप्रथम सत् अतिमानस में अवतरित होता है तत्पश्चात् अतिमानस से मानस, मानस से जीव तत्व अंततः जीव तत्व में होता है। इस तरह जड़ तत्व में 'अतिमानस' व्याप्त रहता है। अवरोह के बाद शुद्ध सत् का आरोहण होता है। जड़ का जीव तत्व में विकास, जीव का मानस तत्व में, मानस का अतिमानस में क्रमशः होता है। यही विकास की प्रक्रिया है। यह विकास अंतर्व्याप्त 'ब्रह्म' का उर्ध्वगमन या पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना है। इससे एक रोचक तथ्य प्रकाश में आता है जो यह है कि, इस पूरी प्रक्रिया में जो अन्त में स्थापित होता है, वह इस प्रक्रिया के प्रारंभिक बिन्दु पर ही अवतरति है। उच्चतर गोलार्द्ध का चरम बिन्दु 'शुद्ध सत्' जो कि अवतरित है निम्नतर गोलार्द्ध के प्रथम बिन्दु 'जड़ तत्व' में। श्री अरविन्द कहते हैं कि:–

"Spirit is a final evolutionary emergence because it is the original involutionary element and factor. Involution is an inverse action of the involution is the first to appear in the evolution. What was original and primal in the involution is the last and supreme emergence."

(Shri Aurobindo, The Life Divine pp. 759-60)

इस प्रकार श्री अरविन्द अतिमानस में रूपांतरित मानव को ज्ञान–पुरूष कहते हैं। इस स्थिति में मनुष्य अज्ञान के क्षेत्र से परे ज्ञान, पूर्ण एकत्व की चेतना है, का जीवन जीता है। उसका अस्तित्व, चिंतन एवं कार्य व्यवहार इस ज्ञान और चेतना पर आधारित होती है।

दिव्य जीवन:–

श्री अरविन्द के अनुसार "दिव्य जीवन" ऐसा जीवन होगा जहां सभी मनुष्य ज्ञान पुरूष होंगे। "दिव्य जीवन" का आशय है– धरती पर पूर्णता का जीवन, ईश्वरत्त्व रूप का जीवन। यह जीवन सीमित चेतना का जीवन नहीं होगा। इस जीवन में चेतना–शरीर तथा मानस के घेरे में आबद्ध नहीं रहेगी बल्कि यह पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना होगी।

"दिव्य जीवन" की ओर अग्रसर उस मनुष्य की अभिव्यक्तियां, उसके कार्य, केवल उसके अपने एकत्व को ही व्यक्त नहीं करते बल्कि जगत अथवा प्रकृति के साथ भी एकत्व को व्यक्त करते हैं। अब जगत भी उससे भिन्न उसे प्रतीत नहीं होता। अतः उसके लिए जगत की विसंगतियां भी उसके नियंत्रण में रहती है। श्री अरविन्द के शब्दों में:–

"A complete self knowledge in all things and at all moments is the gift of Supramental gnosis with a complete self mastery, not merely in the sense of control of Nature, but in the sense of a power of

perfect self-expression in Nature."

(Shri Aurobindo, The Life Divine p. 864)

"दिव्य जीवन" के संबंध में श्री अरविन्द एक सूत्र देते हुए कहते हैं कि "To be and to be fully is Natures aim in us. (हममें प्रकृति लक्ष्य यही है कि पूर्णता में अस्तित्ववान रहें)" (Shri Aurobindo, The Life Divine p. 907)

"दिव्य जीवन" के विषय में यह स्मरण रखना अतिआवश्यक है कि यह मूलतः आंतरिकता का जीवन है। यह आंतरिक जीवन किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। "दिव्य जीवन" में मनुष्य आंतरिकता का बंदी नहीं हो जाता अपितु उसके लिए आंतरिकता तथा बाह्यता का भेद समाप्त हो जाता है। उसकी हर चेष्टा मे समष्टि की चेतना रहती है तथा उस चेतना में उन्हें अन्य की क्रियाएं भी अपनी क्रिया महसूस होती है।

सामान्य जीवन मे हम अन्य के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं दया का व्यवहार करते है जिसमें 'मैं' और 'अन्य' का भाव बना रहता है। यहां 'मैं' और 'अन्य' का अंतर समाप्त नहीं होता। 'मै' यह काम करता हूं या मैं 'अन्य' की सहायता करता हूँ इस तरह, किन्तु "दिव्य जीवन" में ऐसी भावना नहीं होती क्योंकि वहां करूणा, सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके कार्य तो 'सबके तात्विक एकत्व' की चेतना से प्रेरित होती है। जब 'मैं' और 'अन्य' का अन्तर ही नही रहा तो कौन किसके प्रति सहानुभूति करेगा? आंतरिकता उनका सहज स्वभाव हो जाता है और उनके हर कार्य में यही पूर्ण ज्ञान अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "दिव्य जीवन" धरती पर पूर्णता के जीवन का अवतरण है, जहां सभी प्रकार की पृथकता समाप्त हो जाती है तथा पूर्ण सामंजस्य एवं संगठित एकत्व का जीवन रूप ले लेता है। जगत परात्म जगत में परिणत हो जाता है। जीवन ज्ञानात्मक चेतना एवं पूर्ण आनंद का जीवन बन जाता है। इसी जीवन में आत्म की अंतिम परिणति है। श्री अरविन्द के शब्दों में:–

"A life of gnostic beings carrying the evolution to a higher supramental status might fully characterized as a Divine Life, for it would be a life in the Divine, a life of the beginnings of a spiritual Divine light and power and joy manifested in material Nature, that might be described, since it surpasses the mental human level, as a life of spiritual and supramental Super manhood."

(Shri Aurobindo, The Life Divine p. 945)

"दिव्य जीवन" तथा साधारण मानसिक स्तर के अज्ञानमूलक जीवन की तुलना करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि "दिव्य जीवन" में सामान्य मानवीय चेतना एवं जीवन का नियम उलट जाता है। हम अपने सामान्य मानवीय जीवन में इस विश्वास एवं धारणा में जीते हैं कि प्रसन्नता, सुख–दुःख, सफलता–विफलता, चिन्ता–क्लेश आदि सभी हमारे जीवन एवं अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। जीवन का अर्थ ही है इन सबके मध्य एवं इनके साथ जीना। यदि जीवन की कल्पना इनकी उपेक्षा करते हुए किया जाए तो उस संरचना को रिक्त तथा अवास्तविक कहा जाएगा किन्तु "दिव्य जीवन" में इस प्रकार की धारणा पूर्णतया समाप्त हो जाएगी। यहां चेतना एवं आनंद असीम हो जाएंगे। जीवन का प्रचलित चित्र अयथार्थ हो जाएगा क्योंकि जीवन का 'वास्तविक सत्' प्रकाशित हो गया है। सफलता–विफलता, सुख–दुःख ऐसे सभी भेद अर्थहीन

हो जाएंगे क्योंकि अस्तित्व ही आनंदरूप हो जाएगा। श्री अरविन्द के अनुसार ऐसा ही "दिव्य जीवन" हमारा चरम भाग्य है।

"...this fullness of life must be the goal of development towards which we are tending and which will manifest at an early or later stage of our destiny."

(Shri Aurobindo,The Life Divine p.947)

पूर्ण अद्वैत योग :–

योग का शाब्दिक अर्थ है 'मिलन' अथवा 'एकलन'। सभी तरह के योग का लक्ष्य 'ईश्वर मिलन' या 'एकत्व प्राप्ति' करना है। प्रायः सभी यौगिक सिद्धांत यह बताते हैं कि सभी अशुभ रूपों के मूल में जीव का अनन्त से अलगाव हो गया है। अतः इन सबके अनुसार योग का लक्ष्य इस अलगाव से उपर उठना, ससीम तथा असीम के मौलिक एकत्व को पा लेना है। श्री अरविन्द के अनुसार "दिव्य जीवन" की स्थापना ही विकास प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है तथा इसके अवतरण की प्रक्रिया को "पूर्ण अद्वैत योग" के द्वारा तीव्र किया जा सकता है। इसके 'पूर्ण अद्वैत योग' का स्वरूप कुछ इस प्रकार है:–

1. यह हठयोग अनुशासनों यथा–आसन, प्राणायाम, मंत्रजाप आदि पर ज्यादा बल नही देते। इनका योग आंतरिक योग है। सर्वसाधारण के लिये सुगमता पूर्वक पालनीय हो, ऐसे अनुशासन की अनुशंसा करते है।
2. महर्षि पतंजलि के योग का लक्ष्य विवेकज्ञान प्राप्त कर 'आत्म' तथा 'अनात्म' का स्पष्ट ज्ञान करना है। जबकि श्री अरविन्द कहते हैं कि योग का लक्ष्य 'आत्म' तथा 'अनात्म' का भेद ज्ञान करना नहीं है अपितु 'अनात्म' में भी 'आत्मरूप' आध्यात्मिकता की पहचान करना है।
3. प्रायः योग के सभी प्रतिपादक यह मानते हैं कि योग का लक्ष्य भौतिक एवं शारीरिक स्तर का निषेध तथा उससे उपर उठना है, किन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि योग का लक्ष्य भौतिक एवं शारीरिक निषेध नहीं बल्कि उनको भी अतिमानसिक प्रकाश से रूपांतरित कर देना है।
4. योगियों का मत रहा है कि योग के लक्ष्य की प्राप्ति समाधि अथवा पूर्ण आह्लादपूर्ण तन्मयता की अवस्था में ही हो सकती है। इस अवस्था में जागृतावस्था की चेतना पूर्णतया धूमिल हो जाती है संसार से संपर्क टूट जाता है। जबकि श्री अरविन्द कहते है कि पूर्ण एकत्व की प्राप्ति शरीर में रहते हुए, जागृतावस्था तथा जगत से बिना संपर्क तोड़े संभव है।
5. प्रायः सभी योगदर्शनों में योग का लक्ष्य व्यक्ति का मोक्ष है किन्तु अरविन्द के अनुसार योग का लक्ष्य 'सर्व मुक्ति' तथा धरती पर "दिव्य जीवन" की स्थापना है।

श्री अरविन्द के अनुसार योग के कुछ मूल एवं विशिष्ट लक्ष्य निम्नलिखित है :–

1. योग, विकास प्रक्रिया के आध्यात्मिक क्षेत्र में छलांग लगाने के लिए तत्पर व्यक्ति के मार्ग को सहज बना देता है।

2. विकास प्रक्रिया का लक्ष्य "दिव्य जीवन" की स्थापना है। इस लक्ष्य की अतिशीघ्र पूर्ति में योग एक साधक तत्व है।
3. श्री अरविन्द स्वीकारते है कि संपूर्ण जीवन प्रक्रिया ही योग है क्योंकि जीवन का हर कार्य मूल एकत्व की ओर प्रेरित है। हर गतिविधि में असीम की ही अभिव्यक्ति है। जीवन प्रक्रिया चल ही नहीं सकती यदि उसमें उच्चतर रूपों का अवतरण न हुआ हो। सामान्य जीवन मे हम यह कार्य अचेतन रूप में करते है। योग का लक्ष्य है कि इस एकत्व की ओर उन्मुखता, चेतन जीवन का अंग बन जाए। हमें अपने कर्मों में ये चेतना रहे कि उनके माध्यम से असीम ही व्यक्त हो रहा है।
4. हमारा जीवन सामान्यतः बहिर्मुखी होता है इसलिए विकास की प्रक्रिया धीमी गति से होती है। चेतना को अंतर्मुखी करने में योग एक प्रभावशाली माध्यम है। इस संबंध में श्री अरविन्द कहते हैं कि:–

"Yoga implies not only the realization of God, but an entire concentration of inner and outer life till it is fit to manifest a Divine consciousness and become part of a Divine work."

(Shri Aurobindo, The riddle of the World, p.2.)

योग पारलौकिक, सार्वभौम या वैयक्तिक स्तर में हो सकता है। योग का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न ग्रन्थों में इन्हीं विधाओं में से किसी एक का चयन किया है। श्री अरविन्द का कहना है कि उनका योग ऐसा है कि तीनों प्रक्रियाएं जूडी हूई है। जो कि निम्नानुसार है:–
1. आत्मिकता 2. आध्यात्मिकता 3. अतिमानसिकता

जब अतिमानसिकता की स्थिति आती है तो साधक, उच्चतर चेतना के अवतरण को ग्रहण कर अपनी चेतना को ईश्वर चेतना से जोड़ देता है। उसका दृष्टिकोण ही परावर्तित हो जाता है और सभी द्वैतभाव, सभी विभिन्नतायें– विषमतायें लुप्त हो जाती है तथा पूर्ण अद्वैत एकत्व की चेतना स्पष्ट हो जाती है। अब मानसिकता के स्तर के सभी झंझावत उत्पन्न करने वाले अंश – क्षोभ अशांति विषमता उत्पन्न करने वाले तत्व पूर्णतया शांत हो जाते है। इस योग से क्रमशः चार स्थितियों– अचंचलता, स्थिरता, शान्ति तथा नीरवता की प्राप्ति हो जाती है। इन चारों में गुणात्मक भेद नहीं है, ये उस क्रम को व्यक्त करते हैं जिस क्रम में आत्म मानस के द्वारा उत्पन्न विषमताओं से धीरे–धीरे मुक्त हो जाता है।

"Yoga means union with the Divine a union either transcendental (above the Universe) or Cosmic (Universal) or individual, or as in our yoga all three together."

(Shri Aurobindo, Lights on Yoga p.947)

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:–

1. Aurobindo, Shri. The life Divine. Pondichery, 1955
2. Aurobindo, Shri. The Riddle of the World. Calcutta : Arya Publishing House, 1946
3. Aurobindo, Shri. Lights on Yoga. Calcutta : Arya Publishing House, 1946
4. लल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1991
5. पाण्डेय, प्रो. रेवतीरमण, समग्र–योग, वाराणसी : कला प्रकाशन, 2003

धर्म अर्थात् सर्वमुक्ति–राधा कृष्णनन् के अनुसार

डॉ. रंजना शर्मा
विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
दुर्गा महाविद्यालय
रायपुर (छ.ग.)

मुक्ति अर्थात् सभी दुखों से पूर्ण निवृत्ति सभी दुखों का पूर्ण अंत। यही जीवन का लक्ष्य है, यही हर मनुष्य अपने जीवन मे चाहता है। हमारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म, इस दिशा मे प्रवृत होते है कि कैसे दुखों को कम से कम किया जा सके, कैसे उन्हे समाप्त किया जा सके। विभिन्न नियमों को भी हम इसलिए अपनाने व सृजित करते हैं जिससे कष्ट रहित जीवन जी सकें। जीवन को आनन्दमय बनाना हमारा लक्ष्य होता है और हम अपना सारा प्रयास, सारा प्रयत्न इसी दिशा में करते है। यह सारा प्रयत्न दो स्तरों पर होता है। 1. स्वयं के स्तर पर स्वयं के लिए, मुक्ति के लिए 2. सामाजिक स्तर पर सबके लिए, "सर्वमुक्ति" के लिए।

स्वयं के स्तर पर हम स्वयं के लिए नियम बनाते है, आचरण–व्यवहार में उसे अपनाते हैं। अपने लिए कर्त्तव्यों का निर्धारण करते है, उसे जीवन मे अपनाते है, उसके अनुसार जीवन जीते है और यहीं हम कर्त्तव्य के रूप में धर्म का पालन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दुख–कष्ट से निवृत्ति चाहता है, आनन्द चाहता है और इसी को लक्ष्य बनाकर नियमों का सृजन करता है, कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है और अनुशासन पूर्वक उसका पालन करते हुए जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है किंतु मनुष्य के कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं नहीं हो जाती कि उसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया, अपना जीवन दुखरहित कर लिया। पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति सबका जीवन दुखरहित होने पर ही है। जब मनुष्य अपने जीवन मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो मुक्ति की उस अवस्था में, उस स्तर पर वह "स्व" से ऊपर उठकर, "सर्व" से जुड़ जाता है जहां सबका दुख उसका अपना दुख बन जाता है। उस दुख व कष्ट को दूर करने की तत्परता व सक्रियता उसमे और ज्यादा हो जाती है। सबमे वह अपने को अनुभूत करता है, सबमे वह स्वयं को विद्यमान पाता है और सबका कल्याण ही उसका अपना कल्याण बन जाता है। सबके दुखों को दूर करना ही उसका अपना लक्ष्य हो जाता है। सभी महान व्यक्तियों ने जिन्होने मोक्ष प्राप्त किया उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के बाद सबके मोक्ष, सबके कल्याण के लिए कार्य किया। महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, शंकराचार्य, रामानुज आदि सभी ने मोक्ष प्राप्ति पश्चात् सबके कल्याण, सबके मोक्ष, सबके दुखों को दूर करने के लिए कार्य किया।

यह निश्चित है कि पहले स्वयं के लिए प्रयास करना होगा पहले स्वयं मोक्ष, मुक्ति प्राप्त करना होगा तत्पश्चात् सबके लिए मोक्ष, मुक्ति का प्रयास किया जा सकता है। पहले स्वयं ज्ञान प्राप्त करना हैं तभी दूसरों को ज्ञान प्रदान करा सकेंगे, पहले स्वयं अंधकार दूर करना है, तब दूसरों का अंधकार दूर कर पायेंगे। पहले स्वयं का जीवन दुखरहित करना है। तब दूसरों का

जीवन दुख रहित कर पाएंगे। इसलिए पहले स्वयं मोक्ष, मुक्ति प्राप्त करना है फिर सबके मोक्ष "सर्व मुक्ति" के लिए क्रियाशील होना है, उनके मोक्ष, मुक्ति में सहायक होना है। इसलिए राधाकृष्णनन् धर्म के साथ "सर्वमुक्ति" की बात कहते है। स्वयं की "मुक्ति" के लिए धर्म आवश्यक है और "सर्वमुक्ति" भी हमारा धर्म है, हमारा अंतिम लक्ष्य है।

राधाकृष्णनन् मनुष्य के दो पक्षों को मानते है। 1. ससीम पक्ष 2. असीम पक्ष ससीम पक्ष मनुष्य का भौतिक, जैविक पक्ष है जो उसका शरीर है, असीम पक्ष मनुष्य का आध्यात्मिक पक्ष है जो अशरीर, आत्मतत्व है और यही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। राधाकृष्णनन् दोनों के महत्व को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि ससीम, भौतिक पक्ष का निषेध या उन्मूलन नहीं करना है बल्कि उससे ऊपर उठना है और असीम पक्ष पूर्णता आध्यात्मिकता को जानना है। ससीम पक्ष अपूर्ण व असीम पक्ष पूर्ण है। ससीम पक्ष की अनुभूति निम्नस्तर की अनुभूति है व असीम पक्ष की अनुभूति उच्च स्तर की अनुभूति है। इस असीम पूर्ण, उच्च स्तर, तक पहुचने व उसकी अनुभूति के लिए धर्म आवश्यक है। धर्म से ही इस अनुभूति को जाना जा सकता है। धर्म से ही अपने वास्तविक आत्म स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है।

राधाकृष्णनन् के अनुसार सभी धर्मों के सभी महान व्यक्तियों ने परमतत्व को अपने अंदर अनुभूत किया और सभी ने अपने अपने ढंग से यह प्रयास किया कि मनुष्य अपनी सांसारिकता व उसके भावों से ऊपर उठकर अपने वास्तविक, आध्यात्मिक, असीम स्वरूप को जाने जो सर्वोच्च ईश्वरत्व का भाव है। इस अनुभूति को जागृत करना ही धर्म है। धर्म ईश्वर की स्पष्ट अनुभूति का प्रयत्न है। इस प्रयत्न को करने के लिए प्रारंभ में ही एक विश्वास जगाना होता है, एक आस्था उत्पन्न करना होता है जिसे "धार्मिक अनुभूति में आस्था" कहते हैं। यह धार्मिक अनुभूति ही मनुष्य को अपने जीवन में पूर्ण आध्यात्मिक जीवन आत्मसात् करने मे सहायक सिद्ध होता है। इस धार्मिक अनुभूति में एक तृप्ति होती, एक संतुष्टि होती है। इसके द्वारा अध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है। धार्मिक अनुभूति द्वारा ही मनुष्य अपने ससीम पक्ष से असीम पक्ष की ओर गमन करता है। इस अवस्था में मनुष्य अपने समस्त सांसारिक कष्टों से ऊपर उठ जाता है, सांसरिकता के प्रति विरक्ति का भाव आ जाता है तथा लोभ, मोह से ऊपर उठकर तटस्थता व उदासीनता का भाव प्राप्त कर लेता है। यह तटस्थता का भाव मनुष्य को पूर्ण सत् की ओर ले जाता है इसलिए राधाकृष्णनन धार्मिक अनुभूति को आत्मा का सत् के प्रति पूर्ण उन्मुखता मानते हैं। यही मुक्ति की अवस्था है।

मुक्ति की यह अवस्था निष्क्रियता की अवस्था नहीं है। यह पूर्ण सक्रियता की अवस्था है जिसमे भावात्मक, ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक सभी पक्ष एक साथ क्रियाशील हो जाते हैं। यह परम शांति की अवस्था है। मनुष्य की अशांति का कारण उसका अहं भाव हैं व सांसारिक वस्तुओ के प्रति उसकी आसक्ति है। धार्मिक अनुभूति में हम इन दोनों भावों से मुक्त हो जाते हैं, जिससे समस्त दुख–क्लेश समाप्त हो जाते हैं और परम शांति व परम आनंद की प्राप्ति हो जाती है। अहंकार और आसक्ति दोनों पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं जिससे चिर आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। यह उन्मुक्त होने की चेतना की अवस्था है। यह चेतना पूर्णतया वास्तविक और सत्

की चेतना है। राधाकृष्णनन् इसे पूर्ण अवबोध, पूर्ण अर्थपूर्णता मानते हैं। भाषा की सीमितता के कारण इसके पूर्ण स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा द्वारा संभव नहीं है। राधाकृष्णनन् के अनुसार धर्म कोई सिद्धांत या निर्देश नहीं है, यह तो सत् की अंतर्दृष्टि है। मनुष्य के अंतर मे "कुछ" है जो मनुष्य के हर रूप से उच्चतर है। यह "कुछ" सत् रूप है जो मनुष्य की आत्मा में स्थित है तथा यही मनुष्य के सीमित व असीमित रूप के मध्य सेतु रूप है। इसकी समझ ही धर्म के सार–रूप की समझ है। मनुष्य को अपना स्वभाव इस रूप मे रखना चाहिये कि उसके जीवन में "ईश्वरत्व" व्यक्त हो सके, आत्मा में निहित सत् रूप "कुछ" की अभिव्यक्ति हो सके। धर्म का अर्थ है परम आध्यात्मिक मूल्यों तथा उन्हे प्राप्त करने के ढंगो में आस्था।

भारतीय दर्शन मे मुक्ति को मानव जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। राधाकृष्णनन् के अनुसार धार्मिक अनुभूति के द्वारा ही मुक्ति मार्ग पर अग्रसर होना संभव है। कड़े आत्म–संघर्ष, आत्म–संयम द्वारा ही इस अनुभूति को प्राप्त किया जा सकता है। अपने अंदर के अहंभाव को समाप्त कर ही इस अनुभूति को प्राप्त किया जा सकता है। अपने संकल्प के द्वारा अंहभाव को पूर्ण रूप से समाप्त किया जा सकता है। इस अहं भाव को दो स्तरों पर समाप्त किया जा सकता है। 1. यह तैयारी का स्तर है जिसमें मानसिक नैतिक, भावात्मक वृत्तियों में अनुशासन का पालन कर परिवर्तन लाया जाता है। इस स्तर पर पूजा, प्रार्थना, भक्ति को भी स्वीकार किया जा सकता है। 2. यह एकाग्रता, ध्यान, प्रेम का स्तर है आत्म–ज्ञान, पूर्ण आन्तरिक शुद्धता का स्तर है जिसकी प्राप्ति आत्मनियंत्रण व आत्मोत्सर्ग द्वारा ही संभव है। राधाकृष्णनन् मुक्ति मार्ग के भी दो स्तर मानते है। 1. आत्म नियंत्रण व आत्मोत्सर्ग 2. पूर्ण आंतरिक शुद्धता

राधाकृष्णनन् मोह वासना, अंहकार से बाहर निकलने को "विवेकी विकास" कहते हैं। इसके लिए मनुष्य को अपने स्वभाव को अनुशासित करना होगा। मन, इंद्रिय तथा भावना पर नियंत्रण करना होगा। नैतिक अनुशासन तथा वैचारिक एकाग्रता को अपने शारीरिक व मानसिक सुचिता के लिए अपनाना होगा। मन व शरीर को नियंत्रित करके ही पूर्णता की प्राप्ति की जा सकती है। मुक्ति के लिए कठोर नैतिक अनुशासन का पालन करना होगा जिसमें कर्त्तव्य बोध व कर्त्तव्य पालन दोनों निहित हैं। राधाकृष्णनन् के अनुसार कर्त्तव्य एक ऐसा बोध है जिससे मनुष्य को अपने "स्व" से ऊपर उठकर "जगत" मे, "सर्व" में विकसित होने का अवसर मिलता है। नैतिक अनुशासन में अहंकार के स्थान पर विनम्रता, प्रतिरोध के स्थान पर क्षमाशीलता, संकीर्णता के स्थान पर सार्वभौमिकता को अपनाया जाता है, दया, करूणा, प्रेम को अपनाना जाता है। जिससे "सार्वभौम प्रेम" उत्पन्न होता है जो स्वार्थरहित व त्याग से युक्त होता है। पड़ोसी से प्रेम करना मात्र नैतिक उपदेश नहीं है बल्कि "स्व" से ऊपर उठने की प्रेरणा व आग्रह है और उसका मार्ग भी है। "स्व" प्रेम से ऊपर उठकर ही पड़ोसी से प्रेम किया जा सकता है। इसके लिए तटस्थता का भाव लाना पड़ता है। तटस्थता का अर्थ है अपने लिए कुछ न चाहना तथा स्वेच्छा से अपना सब कुछ खुशी खुशी दान देने की तत्परता। स्वार्थमूलक संकीर्णता का त्याग करके ही शांति की अनुभूति हो सकती है। "स्व" से तटस्थ होने पर ही "सर्व" अर्थात् "व्यापकता" की ओर बढ़ा जा सकता है।

राधाकृष्णनन् के अनुसार प्रत्येक मुक्त आत्मा का अपना आध्यात्मिक उत्तरदायित्व होना चाहिये। अपना जीवन सत्–चित् आनंद के अनन्त मूल्य के अनुसार जीते हुए केवल वैयक्तिक मुक्ति ही नहीं वरन् सार्वभौमिक मुक्ति ''सर्व मुक्ति'' ही उसका लक्ष्य होना चाहिये। अंतिम लक्ष्य ''सर्वमुक्ति'' ही होना चाहिए कभी भी केवल वैयक्तिक मोक्ष नहीं होना चाहिए धर्म का लक्ष्य भी मानवीय जीवन का विकास करते हुये मनुष्य को सर्वमुक्ति की दिव्यता से युक्त करना होना चाहिए। यही धर्म का अंतिम लक्ष्य है। जब तक सभी मुक्त न हो जाये तब तक एक व्यक्ति का भी जगत रूपी बंधन से मुक्त हो पाना तार्किक रूप से असंभव है। जब सभी आत्माएं परम तत्व से एकाकार हो जायेगीं तभी यह जगत अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। सर्वोच्च मानव प्रारब्ध वैयक्तिक मुक्ति नहीं वरन् सर्व मुक्ति है। प्रत्येक मुक्त आत्मा को अन्य आत्माओं की मुक्ति के लिए अनवरत् प्रयास करना चाहिये। धर्म हमें हमारे असीम आध्यात्मिक पक्ष से जोड़कर, अन्तर्दृष्टि प्रदान कर, परम तत्व से जोड़कर वैयक्तिक मुक्ति प्रदान करता है जो मनुष्य को उसके जीवन के अंतिम लक्ष्य ''सर्वमुक्ति'' से युक्त कर देता है। सबका परम तत्व से जुड़ना, सबका कल्याण, सबका दुखरहित जीवन, सबका आनन्दमय जीवन, यही प्रत्येक मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

संदर्भित पुस्तकें :–

1. An Idealist View of Life - S. Radhakrishnan, George Allen and Unwin Ltd.
2. समकालीन भारतीय दर्शन, बसंत कुमार लाल, मोतीलाल बनारसीदास
3 समकालीन भारतीय दर्शन, संपादक डॉ. श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ।
4. आधुनिक एवं समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन, संपादक डॉ. नंदिनी सिंह, नीरज बुक सेंटर, नई दिल्ली।

गांधी–दर्शन

डॉ० तृप्ति तिवारी
अतिथि प्रवक्ता (गृह विज्ञान)
जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय,
बलिया (उ०प्र०)

"आने वाली पीढ़ियाँ शायद मुश्किल से ही यह विश्वास करेगी, कि गांधी जैसा हाड़–माँस का पुतला कभी इस धरती पर हुआ होगा। गांधी इंसानों में एक चमत्कार था।

–आइंस्टीन

विश्व में अनेक महापुरुष हुए जिन्होंने संसार के प्रत्येक क्षेत्र के लोगों को अपने–अपने विचारों से सर्वाधिक प्रभावित किया है तथा उनकी शिक्षाओं की अमिट छाप अब भी शिक्षित जनमानस पर हैं। गांधी जी उनमें से एक हैं। गांधी जी एक व्यक्ति ही नही बल्कि एक विचारधारा का पर्याय हैं साथ ही वह एक संस्था और एक समाज की भी संज्ञा बन गये हैं और आधुनिक युग के ही नहीं सम्पूर्ण मानव इतिहास के असाधारण रूप से महान् पुरुष थे। राजनीतिक नेता के रूप में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी, किंतु वे केवल राजनीतिक नेता ही नही थे वे उससे बहुत ऊपर थे। इनके व्यक्तितव के विभिन्न पहलू थे। गांधी जी उच्च कोटि के समाज सुधारक, सत्यशोधक, आध्यात्मिक साधक, अर्थशास्त्री, शिक्षाशास्त्री और लेखक विचारक थे। इन्होंने अपने समय के वैज्ञानिकों, विचारकों, लेखकों, चित्रकारों और संगीतकारों की रचना शीलता को बहुत गहराई से प्रभावित किया था। इनके लिए समूचा जीवन एक इकाई था, राज्य, समाज, अर्थ, परिवार, शिक्षा ये सब उस इकाई के विभिन्न अंग थे। गांधी जी का दर्शन समग्र जीवन का दर्शन है। उसका लक्ष्य 'सर्वोदय है'–व्यक्ति का भी 'सर्वोदय' और समाज का भी 'सर्वोदय'। व्यक्ति के सर्वोदय का अर्थ है व्यक्ति के जीवन के सभी पहलूओं का उत्थान, समाज के 'सर्वोदय' का अर्थ है–समाज के सभी अंगों का उत्थान। गांधी जी का सर्वोदय सभी को समान रूप से लेकर चलने वाला है, गांधी जी का दर्शन, व्यवहार और सिद्धांत का अनूठा समन्वयक है। गांधी जी ने अपने जीवन में ऐसी कोई बात नहीं कही जिस पर उन्होंने आचरण न किया हो। उनके विचार उनके विभिन्न प्रयोगों और अनुभवों की उपज थे। गांधीजी का सारा जीवन कर्मण्य था, उनका व्यक्तिगत साधना में विश्वास था लेकिन वे इस साधना को तब तक निष्फल समझते थे जब तक उसका प्रयोग किसी भी भलाई के लिए न हो। गांधी जी ने एक राष्ट्रनायक के रूप में भारत की आजादी के आंदोलन का नेतृत्व ही नहीं किया, बल्कि ये मानवीय मूल्यों की रक्षा का संदेश देने वाले विश्व के महान् चिंतक भी माने जाते हैं।

गांधी जी धर्म, सत्य, ईश्वर, अहिंसा और मानव–प्रेम के पुजारी थे। उनका कहना था कि "ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता और उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति शाश्वत अपरिवर्तनशील नियम में होती है और यह नियम ही ईश्वर है।

महात्मा गांधी के जीवन में दो मूल्यों के प्रति सबसे अधिक आग्रह और निष्ठा के दर्शन होते हैं। वे दो मूल्य हैं सत्य और अहिंसा। कहने के लिए ये दो हैं लेकिन वास्तव में उनके लिए ये एक ही मूल्य के दो पहलू थे, जो व्यक्ति सत्य पर टिका है वह अनिवार्यतः अहिंसक होगा, यह उनका मूल विश्वास था। वे अहिंसा को वीरों का अस्त्र मानते थे। गांधी जी ने समय पर सत्याग्रह अस्त्रागार में नए–नए अस्त्र दिए, क्योंकि वे मानते थे कि सत्याग्रह की आत्मा तो वही रहती है केवल अस्त्र बदल जाता है, जिस अस्त्र का नया नामकरण हो जाता है और समय एवं वातावरण विशेष में वह अधिक कारगर हो जाता है जैसे एक वृक्ष की कई शाखाएँ हैं, जड़ वही है, केवल शाखाएँ अलग–अलग हैं, किन्तु अलग–अलग होते हुए भी एक साथ जुड़ी हैं, उनको जोड़ने का माध्यम होती है अहिंसा। गांधी जी द्वारा प्रयुक्त अहिंसा के अस्त्रों में असहयोग आंदोलन नामक अस्त्र प्रमुख है। गांधी जी सभी सामाजिक बुराईयों और कुरीतियों को अहिंसा के द्वारा दूर करना चाहते थे। अहिंसा गांधी जी के संघर्ष की वह गत्यात्मक और क्रियाशील प्रविधि थी–जो नैतिक मूल्यों, प्रेम और मानवोचित गुणों की ऊर्जा पर आश्रित थी। आज भी विश्व के सभी देश गांधी जी के अहिंसात्मक संघर्ष के कायल हैं। गांधी जी बार–बार इस शाश्वत सत्य को दुहराते हैं कि अहिंसा, हिंसा से श्रेष्ठ है, क्षमा, दण्ड से अधिक मूल्यवान है। क्षमा वीर पुरुष का आभूषण है। राष्ट्रीय कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' अपने काव्य कुरूक्षेत्र में एक स्थान पर कहते हैं कि–

"क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन विषरहित, विनीत, सरल हो।।

अहिंसा सिर्फ साधु संतों के लिए नहीं, बल्कि सभी लोगों के लिए हैं अहिंसा उसी प्रकार मानव जाति का नियम है, जिस प्रकार हिंसा राक्षसों का नियम है। वे व्यक्ति अधिक तेजस्वी और मेधावी थे, जिन्होंने हिंसा की आग से अहिंसा को खोज निकाला। वे वेलिगटन से भी बड़े योद्धा थे। शास्त्रों के प्रयोग की जानकारी रहते हुए भी उन लोगों ने थके हुए संसार को सिखाया कि मोक्ष की प्राप्ति हिंसा से नहीं बल्कि अहिंसा से होती है। दलाई लामा ने गांधी जी के बारे में लिखा है कि–

"अहिंसा को राजनीति में ही नहीं बल्कि रोजमर्रा की जिंदगी में भी प्रभावी तरीके से लागू किया जा सकता है। अपने उदाहरण से इसे साबित करना गांधी जी की महान उपलब्धि थी।"

अहिंसा विश्व शांति का उपाय है। अहिंसा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति संसार के सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा रखता है। अहिंसा का पुजारी शांतिदूत कहलाता है। गांधी जी की मान्यता थी कि मानव को चिर शांति प्राप्त करने के लिए तानाशाही और शोषण तथा भय से मुक्त होकर अहिंसा का अजेय अस्त्र अपनाना चाहिए। अहिंसा केवल एक दर्शन ही नहीं बल्कि कार्य करने की एक पद्धति है, हृदय परिवर्तन का साधन है।

आज गांधी जी और उनका सत्य एवं अहिंसा का दर्शन विश्व का दर्शन माना जा रहा है। गांधी जी सच्चे अर्थों में मानवता की प्रतिमूर्ति थे। ऐसे महापुरूष के विचार और दर्शन को विश्वव्यापी महत्व मिलना स्वाभाविक भी है।

गांधी जी विश्व इतिहास में अहिंसा के सबसे बड़े शिक्षक और प्रचारक हुए हैं। प्राचीन संत–महात्माओं, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी और ईसा मसीह तक ने अहिंसा के सिद्धांत को केवल व्यक्तिगत जीवन में ही लागू किया था। सामाजिक या राजनीतिक प्रश्नों से ये लोग प्रायः अलग रहे थे। इनकी साधना अधिकांश में व्यक्तिगत साधना थी। अहिंसा द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की कठिन से कठिन समस्या का हल खोजा जा सकता है इसकी ओर पूर्वकालीन संत महात्माओं ने ध्यान नहीं दिया था। गांधीजी ने इतिहास में पहली बार अहिंसा को समग्र जीवन दर्शन के रूप में स्वीकार किया और उनके आधार पर समाज और राजनीति की सभी समस्याओं से निपटने की कोशिश की। गांधी जी के दर्शन का महत्व उनके विशिष्ट और सौम्य व्यक्तित्व के कारण भी हैं।

संदर्भ ग्रंथ–सूची

1. आचार्य नन्दकिशोर : गांधी को मेजबानी मुरिएल लेस्टर, राजकमल प्रकाशन।
2. अग्रवाल, सुनील कुमार (2012) : गांधी और साम्प्रदायिक एकता, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
3. जोशी दिनकर : महात्मा बनाम गांधी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
4. कुमार, डॉ0 रवीन्द्र : गांधीवादी दर्शन : नया विश्व, नए पड़ाव, कल्पाज पब्लिकेशंस, दिल्ली।
5. लाल भँवर (2014) : गांधी जी ने कहा था, साहित्यागार प्रकाशक, जयपुर।
6. मिश्रा, डॉ.एम.के.,दाधीच डॉ.कमल(2016):गांधी दर्शन,अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
7. नेमा, डॉ0 जी0पी0 सिंह प्रताप : गांधी का दर्शन, रिसर्च पब्लिकेशंस, जयपुर।
8. प्रभाकर विष्णु : गांधी, समय, समाज और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. सक्सेना, रमेश (2009) : गांधी : एक अध्ययन, विश्व भारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
10. सिंह महेश प्रसाद : गांधी के सपनों का भारत, ज्ञान गंगा प्रकाशक, दिल्ली।
11. सिंह रामजी (2010) : गांधी और गांधी विचार का सौरमण्डल अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
12. सिंह रामजी (2016) : गांधी और मानवता का भविष्य कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स।
13. सिंह रामजी (2017) : गांधी दृष्टि, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
14. वर्मा,प्रो.सवलिया बिहारी(2011):ग्रामीण गांधीय विचार, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
15. यादव सिंह, डॉ0 वीरेन्द्र (2018) : महात्मा गांधी, विचार और मूल्यांकन इम्पायर बुक्स इन्टरनेशनल, दरियागंज, नई दिल्ली।
16. वाजपेयी, डॉ0 ए0डी0एन0 शुक्ल, प्रो.ज.प्र. : गांधी का आर्थिक चिन्तन, नॉलेज बुक डिपो प्रकाशन, जयपुर।
17. https://www.hindi.mkgandhi.org.
18. https://sstmaster.com mahatma gandhi.
19. www.jagran.com
20. https//:navbharattimes.indiatimes.com.

अरविंद दर्शन मे विज्ञान मय पुरुष की अवधारणा

डॉ.बबीता सिंह
शा.अटल बिहारी बाजपेयी महाविद्यालय,
इन्दौर (म.प्र.)

"मनुष्य जगत की प्रकृति को, उसके स्त्रोत एवं मंजिल को जानने के लिए उत्सुक है। मानवीय मूल्यों में हमारा जो विश्वास है वह जगत संबंधी हमारे विचारो से एकीकरण चाहता है।"[1] इसलिए अरविंद विश्व को भगवती चेतना की क्रीड़ा का विलक्षण क्षेत्र मानते है और विश्व की प्रत्येक घटना मे भगवती चेतना का दिव्य संदेश छुपा है, उसे अनावृत करना और उसके संदेश को समझना ही इन घटनाओ का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन को समझने मे, इसके अनुरूप अपने को ढलने में, उस दिव्य से आंतरिक रूप से संयुक्त हो जाने मे तथा उसके संकल्प (अतिप्राज्ञ) के आगे अपने व्यष्टि को समर्पित कर देने मे ही जीवन की सार्थकता एवं उसकी परीपूर्णता है।

अरविंद के अनुसार इस परिपूर्णता का अर्थ यह नही है की मनुष्य अपने व्यष्टि का विलय करे बल्कि इसका अर्थ अपने आपको, अपनी चेतना को उत्तरोतर पूर्ण बनाना है क्योंकि मानवीय चेतना अति प्राज्ञ की दिशा में बढ़ने के लिए पूर्व नियत है। इसलिए अति प्राज्ञ चेतना में स्थायी रूप से स्थित होना और पार्थिव अमरत्व की संभावना का यथार्थ होना– मनुष्य के पूर्ण रूपांतरण को साकार करने वाली यथार्थताए हैं। जिसके परिणाम स्वरूप एक नए मानव का अवतरण होगा और पृथ्वी पर उसके जन्म को सार्थक बनायेगा।

अति प्रज्ञ मे स्थायी रूप से अवस्थित होना मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति व मूल्य है जिसे अरविंद 'विज्ञान मय पुरुष' की संज्ञा से विभूषित करते है। विज्ञान मय पुरुष के संदर्भ मे अरविंद कहते है की "विज्ञान मय पुरुष व्यैक्तिक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के विशेष रूपों द्वारा अपना अभिव्यक्ति करता हुआ एक सार्वभौमिक था असीम पुरुष है जो पूर्णतया आत्मनियंत्रित है। उसके समस्त कार्य स्वभावतया ज्ञान से परिचालित होंगे। वहा कोई अज्ञान, भूल, असत्य, अथवा पाप नहीं होगा।"[2]

पुनः विज्ञान मय पुरुष दैवी सत्ता के लिए रहेगा और उसकी परा प्रकृति की अभिव्यक्ति का एक साधन होगा। उसमे आत्मा का संकल्प प्रत्यक्ष रूप शरीर का नियंत्रण करेगा क्योंकि अति चेतन अथवा अचेतन, चेतन अथवा अतिचेतन में रूपांतरित हो जाएगा। अनंत आनंद सार्वभोम तत्वो मे प्रकट होगा और वह मानव जीवन के उन सभी विभिन्न मार्गो को पवित्र समझेगा जो उसकी सत्ता के शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौन्दर्य मूलक, नैतिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास के साथ संबंध है और साथ ही वह उन्हे एक दिव्यतर जीवन मे विकसित होने के लिए साधन समझेगा। दिव्यतर जीवन का धुँधला आभास होने पर वह सुसंगत सिद्धांतों की एक ऐसी प्रणाली चाहता है जिसकी सहायता से वह उस नव अर्जित ज्ञान को अपने

आपको समझा सकेद्य यह प्रणाली योग की प्रणाली है जिसे अरविंद के दर्शन मे समग्र योग या पूर्ण योग या अध्यात्म योग (अति मानसिकीय योग) कहा गया है।

क्योंकि योग हमारी चेतना को परिपक्व कर ईश चेतना से सराबोर होने का सामर्थ्य प्रदान करता है। इसलिए योग ही परम श्रेय है क्योंकि "जानना ही नहीं बल्कि होना ही अभिव्यक्ति का लक्ष्य है"[7] इस योग (समग्र योग) में आरोह एवं अवरोह की दो प्रक्रियाएं है– साथ ही इसमे एक अंतरंग 'उर्ध्वगामी महत्वाकांक्षा' सक्रिय रहती है जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व की मांग को व्यंजित करती है। इसमे व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष समर्पित कर देता है– इस शिशुवत विश्वास के साथ की माँ! महाशक्ति करेगी। उसके हितों को उससे कहीं अधिक जानती है और उसके हित मे जो भी होगा। इस सम्पूर्ण के कारण और उसके निहित विश्वास के कारण, व्यक्ति में उन सभी को सहन करने की, जो उसके रूपान्तरण के लिए अनिवार्य है, शक्ति व साहस होना चाहिए तभी इस योग की सार्थकता है।

इस प्रकार यह पूर्ण योग आत्मा और परमात्मा के भेद के भावना को तो मिटाना चाहता है किन्तु वह केवल अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए ही प्रयास नहीं करता बल्कि विश्वात्मा भगवान के अंदर समस्त मानव समाज को पुर्णत्व प्रदान करना चाहता है। इसलिए अरविंद की दृष्टि मे पूर्णता का अर्थ यह है की आत्मा को पहचाना जाये, परिपूर्ण बनाया जाए, आत्मा का विस्तार किया जाए और इसके लिए अपने आपको भगवान के सम्मुख सदा सुख और नमन शील रखोद्य तुम यह समझो की भगवती शक्ति ही तुमसे काम करा रही है। तुम उसका एक यंत्र हो और उसकी इच्छानुसार कार्य करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। इसलिए अहंकार, अभिमान, द्वेष, वासना, तथा कर्मफल की कामना का त्याग करो। यह विश्वास करके की भगवान समस्त भूतो (पदार्थो) में आत्मा के रूप में व्याप्त है और ज्ञान पूर्वक सबसे प्रेम करो, जिससे भगवती शक्ति तुम्हें, तुम्हारी वर्तमान अवस्था से उठाकर आत्मशक्ति युक्त स्थिति (अतिमानस स्तर) पर पहुँचा देगी, जहाँ पहुँच कर ही तुम आत्मा और जड़तत्व को विश्वात्मा सत्ता के अंदर एक साथ मिल सकते हो।

किन्तु यह योग अपनी स्वार्थ युक्त मुक्ति के लिए नहीं बल्कि मानवता के भीतर भगवान की अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करता है। यह जीवन के अंदर आदर्श और वास्तविकता को एव बना देना चाहता है अर्थात यह जीवन को भगवान में दिव्य बनाता है और पृथ्वी को स्वर्ग (दिव्य धाम) में रूपांतरित करता है। इस प्रकार अरविंद एक पूर्णतः मुक्त व्यक्ति चित्र प्रस्तुत करते है जो अपने वर्तमान स्वरूप को आमूल रूप से परिवर्तित कर लेता है और यही पूर्णतः मुक्त व्यक्ति विज्ञान मय पुरुष है।

इस प्रकार अरविंद का विज्ञान मय पुरुष व्यक्तित्व, समान्यतया और सार रूप को उसके सामंजस्य में परिपूर्ण करता हुआ एक पूर्ण व्यक्ति होगा। उसमे पूर्ण आत्म ज्ञान और पूर्ण अधिकार होगा। सभी कुछ 'आत्म से, आत्म में, आत्म को' पाना होगा। वर्तमान अप्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान संबोधित ज्ञान ले लेगा कि–

"यों कोई जो चाहे मन पर, सत्य तो होता है हमारे अपने ही भीतर,
बाहरी चिजो से जन्म नहीं लेता है वो, एक अतरंग केंद्र होता है हम सब मे,

जहां सत्या अपनी पूर्णता मे
विराजता है, जानने का अर्थ यही है की उस बंदी प्रकाश को,
बाहर निकालने का मार्ग खोल दिया जाए,
ये नहीं कि बाहर कि कोई रोशनी ही भीतर आए।"[4]

पुनः 'उसकी विश्व जनीन सहानुभूति उसकी सत्ता का अंग होगी। उसके तथा अन्य के शुभ मै कोई संघर्ष नहीं होगा। उसकी अनुभूतियाँ और कर्म स्वभावत्य ही सार्वभौम होंगे। उसका समस्त प्रयोजन सत् का आनंद होगा। सभी पूर्ण मे दिखाई देंगे। उसका ज्ञान अतिमानस का सत प्रत्यय (Real Idea) होगा। 'यह विकास समस्त विश्व चेतना और विश्व क्रिया का रूपांतर कर देगा।'[5]

इस प्रकार अरविंद विज्ञान मय पुरुष के माध्यम से एक दिव्यीकृत मानव जाति कि संभावना प्रस्तुत करते है और यह मानते है कि "जगत के अंदर मनुष्य के लिए ऐसा दिव्य जीवन संभव है जो विश्व और पृथ्वी क्रम विकास के लिए एक जीता–जागता अर्थ और बोधगम्य अभिप्राय प्रकट करता हो, एक ही साथ भौतिक विज्ञान का औचित्य सिद्ध करता हो और मानव अंतरात्मा को भगवान मे रूपांतरित करके सभी उच्च धर्मों के महान आदर्श स्वप्न को चरितार्थ करता हो"[6] क्योंकि अंतरात्मा अपनी तात्विक और प्राकृतिक दोनों प्रकार की सत्ता मे एक ऐसी मूलभूत सम स्थिति को प्राप्त करती है जहां से वह प्रकृति के पदार्थों, स्पर्शों और कार्य–व्यापारों को समभाव से देख सके और उनका सामना कर सके और यह स्थिति मनुष्य पूर्ण समता में विकसित होकर ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए गीता समता और योग को एक ही मानती है' समत्वम योग उच्यते' समता ब्रह्म के साथ एकता का, ब्रह्म स्वरूप होने का तथा अनंत में सताकी अचलायमान आध्यात्मिक स्थिति के विकास का चिन्ह है क्योंकि 'जीवात्मा विश्वात्मा की ही एक कला है। अहं भाव के चारो ओर निर्मित नाम–रूप से नहीं बल्कि स्वयं उसके अंदर जो ज्योति है वह वही है जो अन्य जीवों में भी चमती है और जो उसे ठीक से देख पता है वह सूर्य, चन्द्र और अग्नि के पार उस ब्रह्म की एकता पर आधारित सर्व व्यापी एकता को देख पाता है।'

स्पष्ट है की दिव्य शक्ति और मानुषिक चेतना का भेद हमारी अपनी बुद्धि की रचना है। वह स्थूल है, वह सूक्ष्म है, वही चेतन है। स्थूल, मन एवं प्राण इन तीनों मे विभक्त होकर शक्ति जीव का विकास करती है और सूक्ष्म रूप मे रहकर उसे संचालित करती है। इसलिए "हम केवल मिट्टी की रचनाए न होकर आत्मा, मन, इच्छा है, हम सब इस और हर एक जगत के समस्त रहस्यो को जान सकते है और प्रकृति के केवल शिष्य ही नहीं बल्कि विशेषज्ञ और स्वामी भी हो सकते है"[7] इसलिए "धरती पर दिव्य जीवन के और मर्त्य जीवन मे अमरता के स्वीकरण का तब तक कोई आधार नही हो सकता जब तक की हम न केवल शाश्वत आत्मा को इस शारीरिक भवन के निवासी के रुप मे स्वीकार कर ले बल्कि भौतिक द्रव्य को भी, जिससे यह बना है एक उपयुक्त और उत्कृष्ट द्रव्य न मान ले, जिसमे से भगवान हमेशा अपने परिणाम बुनते रहते है और अपने भवनो की अंतहीन श्रृंखला को बार–बार बनाने मे लगे रहते है"[8]

स्पष्ट है की अरविंद भौतिक जगत को आध्यात्मिक तत्व ही व्यंजना मानते है। उसके अनुसार हम केवल आध्यात्मिक तत्व को ही सत् के रूप मे स्वीकार न करे बल्कि भौतिक तत्व

को भी उसकी अभिव्यक्ति हेतु समुचित माध्यम के रूप मे स्वीकार करे और यही नही परम सत के रूप मे स्वीकरता इस आध्यात्मिक तत्व तथा माध्यम के रूप मे समर्पित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी उपनिषदों की भाँति समर्थ न करे। तभी बुद्ध का यह विजय घोष गुंजाय मान हो सकेगा कि–"देख लिया अब तुझे, हे घर बनाने वाले। अब फिर तू मेरे लिए घर नहीं बनाएगा। सारी कड़िया टूट चुकी है और शाह तीर के टुकड़े–टुकड़े हो गए है। मेरा चित शाश्वत मे स्थिर है, कामनाएँ सब बुझ गयी है।"[9]

इस प्रकार अरविंद अद्वैत की 'नीरवशांति' की अनुभूति को साधना का एक सोपान मानते है जहाँ से दिव्य दृष्टि प्राप्त करके संसार मे रहते है हुए जीव को गति प्रदान करना ही अध्यात्म का मुख्य लक्ष्य है। जिसके लिए बाह्य जगत का निषेध आवश्यक नहीं है बल्कि जगत मे रहकर सत्य, प्रेम, सेवा के निर्मल भावो से चेतना को विस्तार देकर, व्यष्टि– समष्टि के भेद का अतिक्रमण करके अंतस्थ सत्य सत्ता की प्रच्छन्न चेतना को अनाव्रत करके और धीरे–धीरे उसे अभिव्यक्त और पूर्ण बनाकर मनुष्य सबसे पहले भगवान का संस्पर्श और फिर उनके साथ एकत्व प्राप्त करता है। इस प्रकार अरविंद एक पूर्ण मुक्त अर्थात विज्ञान मय पुरुष के रूप मे 'विदेह मुक्ति' की समावना के स्थान पर 'जीवन मुक्ति' का आदर्श प्रस्तुत करते है।

निष्कर्षतः अरविंद विज्ञान मय पुरुष के रूप मे एक पूर्णतः मुक्त व्यक्ति (मानव) चित्र प्रस्तुत करते है जो अपने वर्तमान स्वरूप को आमूल रूप से परिवर्तित कर आगामी मानव के आविर्भाव के लिए समुचित आधार प्रदान करता है। इस प्रकार एक नवीन युग के ही नहीं बल्कि दैवी पुरुष के अवतार के युग के पैगंबर है जिन्होने मानव का भविष्य इतने स्वर्णिम रंगो से और यथार्थवाद आशा वाद के इतने उत्तम समजस्य को साथ चित्रित किया है।

अन्ततोगत्वा, यह संसार और जीवन तपो भूमि है जहाँ व्यष्टि अपने अंतस मे दिव्य भाव जागकर भगवती चेतना के दूत के रूप मे परिवर्तित होकर पूरी मानव जाति का उत्थान करता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. राधा कृष्णन,सत्य की खोज, पृ. 381
2. रामनाथ शर्मा, श्री अरविंद का सर्वांग दर्शन, पृ.168, अनु प्रकाशन बाजार, मेरठ, कैंट, संस्करण (द्वितीय) 1972
3. अरविंद, लाईफ डिवाइन, अंतिम वाक्य
4. भगवदगीता का प्रेम, अनुवादक डॉ जगदीश नौटियाल, पृ.9, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली
5. अरविंद, लाइफ डिवाइन पृ.840
6. वहीपृ. 28
7. वहीपृ. 861
8. वहीपृ. 8
9. धम्मपद, 154

चन्देल कालीन मूर्ति शिल्प में मनोरंजन के तत्व

नम्रता यादव
शोध छात्रा
प्रा.भा.इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म०प्र०)

खजुराहो शिल्प में अनेक फलक हैं, जिनसे तत्कालीन मनोरंजन पर प्रकाश पड़ता है। इनमें पक्षी–पालन, कन्दुक क्रीड़ा, पत्रलेखन, चित्रकला आदि जैसे अनेक साधन विद्यमान हैं। स्त्री और पुरुषों के मनोरंजन के साधन अलग–अलग थे। पहले महिलाओं के मनोरंजन के साधनों पर प्रकाश डाला जायेगा।

पक्षी पालन

संस्कृत साहित्य में पक्षियों का इतना अधिक वर्णन किया गया है कि अन्य किसी साहित्य में इतनी चर्चा शायद ही हो। केलिगृह और अन्तःपुर के प्रासाद–प्रांगण से लेकर युद्ध क्षेत्र तथा वानप्रस्थों के आश्रम तक कोई न कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य विद्यमान रहता था। वह विनोद का साथी, रहस्यालाप का दूत, शुभाशुभ का दृष्टा, वियोग का सहारा, संयोग का योजक अथवा सन्देश वाहक होता था। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जहाँ वह मनुष्य का साथ न देता हो। महाभारत में एक पक्षी ने एक मनुष्य से कहा था कि मनुष्य और पक्षियों में दो ही तरह का सम्बन्ध है–(1) भक्षण का सम्बन्ध और (2) क्रीड़ा का सम्बन्ध अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियों से अपनी उदरपूर्ति करता है अथवा उनसे अपना मनोविनोद करता है और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनों में नहीं है।

भक्षार्थं क्रीड़ानार्थं वा नरा वांच्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबंधादृते क्षमः।। महाभारत, शान्तिपर्व, 139–60

कादम्बरी' से ज्ञात होता है कि अन्तःपुर से बाहर निकलने पर राजकुल के प्रथम प्रकोष्ठ में भी बहुत से पक्षी थे। इसमें कुक्कुट (मुर्गा) कुरक कपिंजल, लावक और वार्तिक नामक पक्षी थे, जिनके द्वन्द युद्ध से नागरकों का मनोविनोद हुआ करता था। इसी प्रकोष्ठ में चकोर, कादम्ब (एक हंस), हारीत और कोकिल की आवाज भी सुनाई दे जाती थी और शुक सारिकाओं के मनोरंजक कथन भी कर्णगोचर हो जाते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र' में नागरकों को भोजन के बाद शुक–सारिका का आलाप तथा लाव पक्षी कुक्कुट और मेषों के युद्ध देखने की व्यवस्था थी। भोजन के बाद प्रत्येक प्रतिष्ठित नागरिक इन क्रीड़ाओं का अपने मित्रों के साथ आनन्द लिया जाता था।

शुक–सारिकाएँ केवल विलासी नागरिकों के वर्हिद्वार पर ही नहीं मिलती थी, वे बड़े–बड़े पंडितों के घरों की भी शोभा बढ़ाती थीं। शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के घर का पता बताते समय स्थानीय परिचारिका ने कहा था जहाँ शुक–सारिकाएँ 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाण का शास्त्रार्थ कर रही हो, वही मण्डन मिश्र का द्वार है "स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना गिरो

गिरन्ति।'' बाणभट्ट ने अपने पूर्व–पुरुष कुबेरभट्ट का परिचय देते हुए अत्यन्त गर्व से कहा था कि उनके घरों के शुकों और सारिकाओं ने समस्त वांगमय का अभ्यास कर लिया था और यजुर्वेद तथा सामवेद का पाठ करते समय पद–पद पर ये पक्षी विद्यार्थियों की अशुद्धियां पकड़ा करते थे–

जगुगृहेष्म्यस्तसमस्तवांगमयैः संसारिकैःपंजरवर्तिभि शुकैः
निगृहयमाणा बटवः पदे–पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिता।। कादम्बरी, पृ०12

उपर्युक्त वर्णन का यथातथ्य विवरण अथवा चित्रण चन्देल कला में संभव नहीं है, तो भी, खजुराहो शिल्प में अनेक पक्षियों का रूपांकन देखने को मिलता है। चन्देलकाल में पक्षिपालन और पशुपालन कर महिलाएँ अपने आमोद–प्रमोद का समय व्यतीत करती थी।[3] अनेक दृश्यों में महिलाओं को पक्षियों को पालते हुए, उसकी रक्षा करते हुए अथवा उसे अपनी हथेली में लिए हुए रूपायित किया गया है, जो यह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन महिलाओं को इन छोटे जीवों से कितना स्नेह था। खजुराहो शिल्प[4] में एक महिला सहज रूप से खड़ी है। उसका दाया हाथ जंघा पर रखा है। वह अपनी बायी हाथ की हथेली में एक पक्षी लिए है, जिसे वह स्नेहपूर्वक देख रही है। विश्वनाथ मंदिर में प्रदर्शित[5] एक महिला कुछ दायीं ओर झुकी है और वह अपने बायें हाथ में चुनरी पकड़े हैं। उसके बायें हाथ की कलाई के पीछे एक तोता बैठा है। तोता के पंख खुले नहीं है। जिससे वह उड़ने में असमर्थ है।[6] देवी जगदम्बी मंदिर[7] के अन्दर अंकित एक महिला की हथेली के दूसरी ओर एक पक्षी बैठा है, जो संभवतः सारिका है। महिला पक्षी की वायु अथवा प्रकाश से रक्षा के लिए उसके ऊपर छतरी की तरह का एक आवरण किये हैं। एक महिला के बायें हाथ में एक पक्षी है। वह स्नेहमयी दृष्टि से पक्षी की ओर देख रही है। उसके दायें हाथ में कोई वस्तु है जिसे वह पक्षी को खिलाना चाहती है।[8] एक महिला[9] अपने दायें हाथ में डण्ठल सहित आम्रलुम्ब लिए है, जब कि उसकी बायीं कलाई पर एक तोता बैठा है। एक अन्य महिला अपने बायें हाथ में किसी पक्षी की खण्डित प्रतिमा लिए है। वह अपने हाथ के अंगूठे और एक अंगुली की सहायता से पक्षी के सिर पर कोई वस्तु रखने का प्रयत्न कर रही है।[10] एक महिला लक्ष्मण मंदिर[11] के खूटरा मंदिर के एक फलक पर आश्चर्यजनक रूप से उल्लू अपने बायें हाथ में लिए हैं। शुक और उल्लू के अतिरिक्त एक अन्य पालतू जीव की श्रेणी में बन्दर का नाम भी आता है। एक महिला बायीं ओर की अपनी गोद में बालक को लिए है और उसे बायें हाथ से सहारा दे रही है। उसके दायें हाथ में आम्रलम्ब है। उसके दायें पैर के पास नीचे एक कपि बैठा है। वह महिला की[12] चुनरी पकड़े ऐसा प्रतीत हो रहा मानों महिला से आम मांग रहा हो।[13] इसी प्रकार एक महिला विश्वनाथ मंदिर[14] के एक फलक पर अपने दायें हाथ में आम का एक बड़ा गुच्छा लिए है। उसकी बायीं कलाई पर एक शुक बैठा है। महिला के दायीं ओर उसका दाया पैर पकड़े एक वानर है, जो ललचाई दृष्टि से आम की ओर देख रहा है।

कन्दुक क्रीड़ा

घर के बाहर अथवा मैदानी खेलों में कन्दुक क्रीड़ा[15] अत्यन्त लोकप्रिय खेल था। क्योंकि खजुराहो शिल्पों में महिलाओं को भी कन्दुक क्रीड़ा करते हुए अंकित किया गया है,[16] अतः ऐसा

प्रतीत होता है कि केवल महिलाएँ ही यह खेल खेलती थीं। तो भी, इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह खेल केवल महिलाओं तक ही सीमित था, यह पुरुषों द्वारा भी खेला जाता होगा। पुरुषों द्वारा खेले जाने वाले इस खेल का अंकन न होने इसमें कलाकार का पक्षपात प्रमाणित होता है, किन्तु इसका सबसे बड़ा कारण यह भी हो सकता है कि महिलाओं द्वारा कन्दुक क्रीड़ा में कलाकार को अधिक सौन्दर्य बोध दिखा। अतः उसने ऐसा किया। वास्तव में खजुराहो कलाकार का यह प्रिय विषय था।[17] ऐसे दृश्यों में एक महिला की एक टांग दूसरी टांग पर है। उसकी बायी टांग कुछ पीछे की ओर है। जैसा की क्रिकेट में होता है, महिला अपने सिर के ऊपर तक दायें हाथ में गेंद लेकर फेंकने का प्रयत्न कर रही है। उसका बायां हाथ दायीं ओर मुड़ा है जिससे वह अपने दुपट्टे को नीचे गिरने से बचा रही है। इस दृश्य को देखकर यही प्रतीत होता है पहली महिला दूसरी महिला की ओर गेंद फेंक रही है। सामान्य रूप से यह खेल एक–दूसरे की ओर गेंद फेंक कर उसे पकड़ने से सम्बन्धित है। यह भी संभव है कि दूसरे ओर की खिलाड़ी के हाथ में बल्ला हो, जिससे वह गेंद को क्रिकेट की तरह दूसरी ओर फेंकने का प्रयत्न करें।

चित्रकला

चित्रकला[18] महिलाओं का सर्वाधिक प्रिय शौक था। खजुराहो कला में अनेक ऐसे चित्र है, जिनमें महिलाओं को चित्र बनाने में व्यस्त अंकित किया गया है। चित्रकला को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–(1) भित्ति चित्र और (2) फलक पर चित्र बनाना। यहाँ पर दर्शकों की ओर पीठकर एक महिला भित्ति चित्र बना रही है।[19] नृत्य मुद्रा में खड़ी महिला अपना दायें हाथ ऊँचा कर चित्र बना रही हैं। एक अन्य[20] दृश्य में महिला की पीठ दर्शकों की ओर है और वह अपने सिर से ऊंची दीवार की ओर देख रही है। वह दीवार पर चित्र बनाने में व्यस्त है। दीवार पर उसकी बनाई पत्ते विहीन शाखाएं दिख रही है, जिसे वह रंगने का प्रयत्न कर रही है। पार्श्वनाथ मंदिर[21] के एक फलक पर महिला अपने बायें हाथ में रंग का पात्र लेकर अपने सिंर से ऊंची दीवार पर चित्र बना रही है।

संगीत

इस देश में संगीत का प्रचार अत्यन्त प्राचीन से है। वैदिक काल में सप्त स्वरों का विभाजन हो चुका था, किन्तु नाम ठीक वही नहीं थे, जिनका प्रचलन आजकल है। रामायण और महाभारत में अनेक वाद्ययन्त्रों के नाम आते हैं और सप्त सुरों में आई श्रुतियों का उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में इसकी शास्त्रीय विवेचन मिलती है। संगीत रत्नाकार के अनुसार संगीत की परिभाषा इस प्रकार है–

गीतंवाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते। संगीत रत्नाकर, अ०1, श्लोक 21

अर्थात् संगीत एक अन्विति है, जिसमें, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश है संगीत शब्द में व्यक्तिगत तथा समूहगत दोनों विधियो की अभिव्यंजना स्पष्ट है। इसीकारण व्यक्ति गीत, वादन एवं नर्तन के समूह गान, समूह वादन तथा समूह नर्तन का समावेश इसके अन्तर्गत है। इसी परिभाषा के अनुसार हम चन्देल कला के अन्तर्गत संगीत का अध्ययन करेंगे। वंशी वादन की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से रही है। और इसके शिल्प निर्माता के रूप में

भगवान श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान प्राचीन भारतीय वांगमय में पाया जाता है। खजुराहो कला में महिलाओं द्वारा वाद्ययन्त्रों का वादन अनेक बार अंकित किया गया है। दसवीं–ग्यारहवी शती ई0 में उनको यह स्वतन्त्रता थी कि वे अपनी इच्छानुसार संगीत की किसी विधा का चयन कर ले।[22] विश्वनाथ मंदिर[23] के एक फलक पर वंशी लिए एक महिला विचारमग्न मुद्रा में खड़ी है। उसके दायें और बायें हाथ की अंगुलियों के बीच में बांसुरी है। वह सुखद मुद्रा मे सामने देख रही है और उसका शरीर कुछ दायीं ओर झुका है। एक अन्य महिला[24] टांग पर टांग रखे खड़ी है। उसका मुख दर्शकों की ओर है। वादन के लिए तत्पर दोनों हाथों से पकड़े वंशी उसके ओठों से चिपकी है ताकि शीघ्र ही उससे सुर निकल सके। लक्ष्मण मंदिर[25] में वह दर्शकों की ओर पीठ कर खड़ी है। वह दोनों हाथों से वंशी पकड़ कर उसका वादन कर रही है। एक अन्य महिला को विश्वनाथ मंदिर[26] के एक फलक पर बांसुरी वादन करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

बांसुरी के अतिरिक्त महिलाओं को वीणा [27] और एकतारा का वादन करते हुए भी प्रदर्शित किया गया है महिलाओं के अतिरिक्त पुरुष भी वंशी वादन करते थे। पार्श्वनाथ मंदिर[28] में एक युगल बैठा हुआ है। पुरुष बांसुरी बजा रहा है और महिला तन्मय होकर उसे सुन रही है। इसी प्रकार चित्रगुप्त मंदिर[29] के एक दृश्य में पुरुष बांसुरी बजा रहा है और महिला बांसुरी के स्वरों को सुनकर थाप दे रही है।

नृत्य

नृत्य सर्वत्र उल्लास का सूचक है। परन्तु इस अनियन्त्रित उन्माद को कला की सीमाओं में बांधकर उसे विज्ञान का स्तर प्रदान किया गया है। भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य का विशद विवेचन है। ऋग्वेद[30] में नृत्य का अनेक बार उल्लेख हुआ है। समन[31] नाम के तत्कालीन मेले में तो नवयुवक और नवयुवतियां दोनों मिलकर नाचते थे। गन्धर्वों और अप्सराओं की पेशे के रूप में नृत्य–गीत का व्यवसाय करने वाली एक विशिष्ट जाति बन गई थी। गुप्तकाल तक भारतीय नृत्य अत्यन्त विकसित हो चुका था। मालविकाग्निमित्रम् के पहले और दूसरे अंकों में गीत और नृत्य के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन हुआ है। मंदिरो में प्राचीनकाल से ही नर्त्तकियों को नियुक्त किया जाता था। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल मंदिर की नर्त्तकियों का उल्लेख किया है। चन्देल शासनकाल में भी मंदिरों में नर्तकियों की नियुक्ति की परम्परा रही है। मदनवर्माकालीन कालंजर स्तम्भलेख[32] से ज्ञात होता है कि कालंजर मंदिर में नीलकण्ठ मंदिर में स्थायी रूप से महानाचनी पद्मावती की नियुक्ति हुई थी। खजुराहो के मंदिरों के महामण्डपों में कक्षासन पर बैठने की व्यवस्था के साथ नृत्य के लिए बकायदा एक प्लेटफार्म बना है।

खजुराहो कला में महिलाओं को सुन्दर नृत्य मुद्राओं में अंकित किया गया है। कुछ नृत्य की मुद्राएं इतनी गूढ़ और कठिन है कि दर्शक को आश्चर्य में डाल देती है। एक महिला[33] दर्शकों की ओर पीठ किये खड़ी है। उसने अत्यन्त चतुरता के साथ अपने शरीर का ऊपरी इस प्रकार मोड़ लिया है कि उसके कमर के ऊपर का भाग दर्शकों की ओर हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके शरीर का ऊपरी भाग काटकर पीछे की ओर के पृष्ठभाग पर जोड़ दिया गया है। इसीप्रकार एक अन्य दृश्य में एक महिला की पीठ दर्शकों की ओर है, किन्तु उसका चेहरा उनकी

ओर है।[34] एक अन्य स्त्री त्रिभंग[35] मुद्रा में खड़ी है। उसकी अंगुलियां पीछे की ओर गुंथी है। एक तीसरी स्त्री अपने दायें हाथ से मुड़ा हुआ दाया पैर पकड़े है जब कि उसका सिर ऊपर उठा हुआ है और उसकी बायें हाथ की कुहनी भी ऊपर उठी है।[36]

नाटक

शिक्षित और सभ्य समाज की रुचि साहित्यिक नाटकों में थी। प्रतीकात्मक संस्कृत नाटक प्रबोधचन्द्रोदय चन्देल शासनकाल में लिखा गया था और लक्ष्मीकर्ण कलचुरि की पराजय के उपलक्ष में चन्देल शासक कीर्तिवर्मा के समक्ष अभिनीत हुआ था।[37] चन्देल शासक चन्देल शासक नाट्यकला के महान प्रेमी थे और वे नाटकों के मंचन का आनन्द अपने मित्रों और दरबारियों के साथ उठाते थे।[38] केवल कीर्तिवर्मा ही नहीं दो अन्य चन्देल शासक भी नाटय कला के महान प्रेमी और आश्रयदाता थे। चन्देल परमर्दिदेव (1165–1203 ई0) और त्रैलोक्यवर्मा चन्देल (1203–1245 ई0) के शासन कालों में महामात्य वत्सराज महान साहित्यकार था। उसने रूपकषटकम् शीर्षक छह रूपक लिखे हैं। कर्पूरचरित भाण की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है, आज नीलकण्ठ यात्रामहोत्सव में आगत विद्वान नागरिकों ने कालंजरपति महाराज परमर्दिदेव के मंत्री कवि वत्सराज द्वारा विरचित कर्पूरचरित नामक भाण अभिनीत करने का मुझे आदेश दिया गया है।[39] किरातार्जुनीय व्यायोग से ज्ञात होता है कि वीररस की भावना से युक्त कालंजर नरेश त्रैलोक्यवर्मादेव ने कवि वत्सराज द्वारा विरचित किरातार्जुनीय व्यायोग के अभिनय का आदेश दिया था।[40] इस प्रकार परमर्दिदेव और त्रैलोक्यवर्मादेव भी कीर्तिवर्मा चन्देल के समान नाट्यकला के प्रेमी थे। अतः यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्देल काल में रंगशालाओं की पर्याप्त व्यवस्था थी। कन्दरिया महादेव, विश्वनाथ, और लक्ष्मण मंदिरों के महामण्डप संभवतः रंगशालाओं के लिए उपयुक्त स्थान थे, जहाँ संगीत, नृत्य और नाटकों का आयोजन किया जाता रहा होगा। अजयगढ़ दुर्ग के दक्षिणी छोर पर स्थित चार मंदिरों को आज भी स्थानीय लोग रंगमहल कहते हैं।

खजुराहो कला के अनेक फलकों में नायिकाओं और सुर–सुन्दरियों का अंकन है, जो अपनी आन्तरिक अनुभूतियों और संवेगों को अत्यन्त आकर्षक मुद्राओं में व्यक्त कर रही है, जिनमें नाट्यकला के प्रति दुर्लभ लगाव प्रदर्शित होता है। उनकी मुस्कान, हाथों की मुद्राएं, शरीर को लचकता, होठों का कम्पन और अर्थपूर्ण चितवन सभी मूक पाषाणों को अतिशय अर्थव्यजंकता के साथ वाणी प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ कन्दरिया महादेव मंदिर[41] की एक नायिका ऐसी प्रतीत होती है जैसे उसने संद्यः स्नान किया हो वह पूरे वस्त्र भी नहीं पहने हैं। इसी समय वह किसी अजनबी की पदचाप सुनती है। अतः उसके मुखमण्डल में कुछ हिचकिचाहट के साथ आकुलता का भाव व्यक्त हो रहा है। उसका बायां हाथ आगे की ओर अपने वक्षस्थल को ढकने के लिए उठ जाता है, जब कि दायें हाथ की मुट्ठी से साड़ी हो पकड़कर शरीर छिपाने का प्रयत्न कर रही है। यह शिल्प अनेक प्रकार के शिल्पों में से एक श्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें असाधारण अल्पकालीन नाटकीयता प्रदर्शित करने में सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदर्शित है। विश्वनाथ और दूलादेव मंदिरों में अनेक हास्यास्पद दृश्य है, जिनमें एक

महिला द्वारा एक मसखरे की दाढ़ी खींची जा रही है।[12] संभवतः नृत्य नाटिकाओं का भी आयोजन होता था जिसमें भाग लेने वाले मुखौटों का प्रयोग करते थे। कन्दरिया महादेव मंदिर[13] की एक चित्रवल्लरी में एक नृत्य मण्डली का एक पुरुष किसी जानवर के सिर का मुखौटा पहने है। इसी से मिलता–जुलता एक दृश्य लक्ष्मण मंदिर में भी उपलब्ध है।[14]

उपसंहार

खजुराहो शिल्प में अनेक ऐसे फलक हैं जिनमें तत्कालीन मनोरंजन का रूपांकन किया गया है। इनमें पक्षीपालन, कुन्दुक क्रीड़ा, पत्र लेखन, चित्रकला आदि जैसे अनेक साधन विद्यमान हैं। खजुराहो शिल्प में अनेक पक्षियों को उत्कीर्ण किया गया है। चन्देल काल में पक्षीपालन और पशुपालन कर महिलाएँ अपने आमोद–प्रमोद का समय व्यतीत करती थीं। अनेक दृश्यों में महिलाओं को पक्षी पालते हुए, उसकी रक्षा करते हुए अथवा उसे अपने हाथ में लिए हुए रूपायित किया गया है। विश्वनाथ मन्दिर में प्रदर्शित एक महिला कुछ दायीं ओर झुकी है। उसकी बायीं कलाई के पीछे एक तोता बैठा है। पक्षीपालन के अतिरिक्त मनोरंजन का दूसरा साधन कन्दुक क्रीड़ा था। महिलाओं के अतिरिक्त कन्दुक क्रीड़ा का अंकन कलाकार का भी प्रिय विषय था। चित्रकला महिलाओं का सर्वाधिक प्रिय शौक था। खजुराहो कला में अनेक ऐसे चित्र हैं जिनमें महिलाओं को चित्रांकन करते हुए दिखाया गया है।

संगीत में स्त्री–पुरुष दोनों रुचि रखते थे। इसके अन्तर्गत गायन, वादन और नृत्य तीन विधाएँ सम्मिलित थी। खजुराहो में महिलाओं द्वारा वाद्य यन्त्रों का वादन करते हुए अनेक बार दर्शाया गया है। वंशी वादन की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। अनेक दृश्यों को यहाँ पर वंशी वादन करते हुए अंकित किया गया है। बासुरी के अतिरिक्त वीणा और एकतारा का वादन भी लोकप्रिय था। वादन के अतिरिक्त संगीत मण्डलियों का अंकन कई बार किया गया है। इन मण्डलियों गायन, वादन के साथ नृत्य भी सम्मिलित था। शिक्षित और सभ्य समाज नाटक प्रिय था, इसीलिए लक्ष्मीकर्ण कल्चुरि के पराजय के बाद कीर्तिवर्मा चन्देल के राजदरबार में कृष्ण मिश्र द्वारा रचित प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का मंचन किया गया था। परमर्दि और त्रैलोक्य वर्मा के शासनकाल में महामात्य वत्सराज द्वारा रचित रूपकषट्कम का अभिनय किया गया था।

सन्दर्भ :

1. कादम्बरी, पूर्व भाग
2. कामसूत्र (चौखम्भा), पृ० 116.
   भोजनानतरं शुकसारिकाप्रलापनव्यापाराः। लावककुक्कुटमेषयुद्धानिताताश्च कलाक्रीडाः।
3. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० 43–44
4. संग्रहालय
5. आन्तरिक प्रदक्षिणा
6. विश्वनाथ मंदिर, आन्तरिक प्रदक्षिणा
7. अन्दरूनी भाग में
8. विश्वनाथ मंदिर, अर्द्धमण्डप,
9. कन्दरिया बाहर बायीं ओर

10. वामन मंदिर बाहर
11. लक्ष्मण मंदिर के पृष्ठभाग के दायीं ओर का एक खूंटरा मंदिर
12. विश्वनाथ मंदिर अन्तः प्रदक्षिणा का पृष्ठभाग
13. विश्वनाथ, अन्तः प्रदक्षिणा
14. विश्वनाथ, अन्तः प्रदक्षिणा
15. कुट्टनीमत, श्लो 362, पृ० 71
16. लक्ष्मण, महामण्डप, ब्रेकट चित्र
17. वही,
18. एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० 367
19. विश्वनाथ, बाहर पिछली भित्ति पर
20. वामन, मण्डप की रथिका
21. विश्वनाथ बहिर्भाग दायीं ओर
22. एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 367.
23. विश्वनाथ, बायीं ओर बाहर
24. आदिनाथ, दायीं ओर बाहर
25. लक्ष्मण मन्दिर दायीं ओर बाहर
26. विश्वनाथ, अन्तः प्रदक्षिणा
27. विश्वनाथ, प्रदक्षिणा दायीं ओर अन्दर
28. पार्श्वनाथ मंदिर पृष्ठभाग पर दायीं ओर बाहर
29. बायीं ओर बाहर
30. अधिपेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम।। 9.1.4
31. वही, 6.75.4; 10.55.5 आदि। समनों में सदा नृत्य होते थे।
32. कॉर्पस, खण्ड 7, पृ० 390–391
33. लक्ष्मण मंदिर बायीं ओर सामने।
34. विश्वनाथ अन्तः प्रदक्षिणा
35. लक्ष्मण मंदिर दायीं ओर बाहर
36. विश्वनाथ मण्डप के भीतर
37. प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० 06
38. वही, पृ० 6–7.
39. रूपकषटकम्, पृ० 23.
40. वहीं, पृ० 01.
41. हिन्दू मेडिवल स्कल्पचर, फलक 27, बाहर
42. विश्वनाथ प्रदक्षिणा पथ, पीछे; दूलादेव, बाहर बांयी ओर पीछे
43. कन्दरिया चित्र वल्लरी, बाहर
44. लक्ष्मण चित्रवल्लरी, बाहर पृष्ठभाग पर

सर्वोदय की अवधारणा एवं न्यासिकता का सिद्धान्त

डॉ. ज्योति गोयल
सहायक प्राध्यापक –दर्शनशास्त्र
शासकीय माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
उज्जैन (म.प्र.)

"सर्वोदय एक साध्य है, एक मंजिल है जिस पर पहुँचना है।" महात्मा गाँधी'

महात्मा आधुनिक भारत के लोकनायक एवं युग–निर्माता थे। गाँधी जी भारत को समग्र रूप से उन्नत होते देखना चाहते थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो उसके सामने केवल एक साधन या सोपान मात्र थी। भारत में श्रेष्ठ एवं सुखी समाज की स्थापना के लिए उन्होंने सर्वोदय समाज का विचार प्रस्तुत किया। सादगी, अहिंसा, श्रम की पवित्रता, मानवीय मूल्य तथा ट्रस्टीशिप (न्यासिता) का सिद्धान्त उनके जीवन–दर्शन एवं उनकी कल्पना की आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख अंग है। गाँधी जी भौतिक शक्ति से ज्यादा आत्मबल की प्रधानता में विश्वास करते थे। इसके लिए उन्होंने सत्य और अहिंसा सम्बंधी प्रयोग करके मनुष्य का आचरण बदलने का प्रयास किया। गाँधी के दर्शन के दो प्रमुख सिद्धान्त है– सर्वोदय और न्यासिता यहाँ हम उनकी चर्चा करेंगे।

सर्वोदय सिद्धान्त :–

सर्वोदय सिद्धांत गाँधी दर्शन की स्वाभाविक परिणति है। समाज गाँधी जी के कल्पनाओं का समाज है, जिसके केन्द्र में भारतीय ग्राम व्यवस्था थी। उनके इस विचार को साकार स्वरूप अंग्रेज लेखक रस्किन की एक पुस्तक 'Unto This Last' से मिला। सर्वोदय इसी पुस्तक का गांधी जी द्वारा किया गया गुजराती अनुवाद है। अन्टू द लास्ट का अर्थ है– इस अंतवाले को भी।

विनोबा जी ने कहा है–सर्वोदय का अर्थ है– सर्वसेवा के माध्यम से समस्त प्राणियों की उन्नति करना। सर्वोदय के व्यवहारिक स्वरूप को हम बहुत हद तक विनोबा जी के भूदान आन्दोलन में देख सकते हैं।[2] सामाजिक न्याय की समस्या को दूर करने के लिए उपयोगितावादी अधिकतम संख्या का अधिक सुख का सूत्र देते हैं, मार्क्सवादी प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दाम का सूत्र देते हैं। यानि की मार्क्सवादी मानव के आर्थिक पक्ष को ही महत्व देते हैं। किन्तु न्याय का एक आदर्श जो सामाजिक न्याय भी है, और जिसमें किसी एक पक्ष विशेष को ही महत्व नहीं दिया जा सकता; वह है– उन हितों को उपलब्ध कराना जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अधिक से अधिक विकास हो सके। इस आदर्श से प्रेरित न्याय का सिद्धान्त गाँधी जी का दिया हुआ सर्वोदय का सिद्धान्त है। जिसका अर्थ है सब का उदय (विकास, हित)। इसे दूसरे शब्दों में जाति, धर्म, रूप, रंग, लिंग आदि से ऊपर उठकर पूरे मानव समाज का जाएगा। सामूहिक रूप से उत्थान और विकास कहा जैनेन्द्र कुमार ने ठीक ही लिखा है– गाँधी जी ने रस्किन की आशा को सर्वोदय में बदल कर अधिक व्यापक बना दिया तब वह संज्ञा प्रवृत्ति सूचक

मात्र न रह कर अधिक भाववाचक एवं सांकेतिक हो गई।[3] गाँधी जी यह मानते थे कि सर्वोदय एक है, एक मंजिल है जिस तक पहुँचना अभी शेष है। मंजिल तक पहुँचने के लिए रास्ता कठिन हो सकता है। रास्ते में कई बाधाएँ आ सकती है। किन्तु ये बाधाएँ हमें मंजिल तक जाने से नहीं रोक सकती है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि गाँधी जी जिसे साध्य मानते थे, उसे ही साधन भी मानते थे। इसलिए उनका सर्वोदय दर्शन साध्य और साधन दोनों है। आज एक का भला हो, कल कुछ का भला हो, परसों बहुमत का भला हो और बाद में सबका भला हो इस विचार को गाँधी जी ने कभी स्वीकार नहीं किया। वे प्रारम्भ से ही सबका ध्यान रखते हुए आगे बढ़ने में विश्वास करते थे। यहाँ कुछ का तो प्रश्न उठता, वे तो बहुमत की भलाई के लिए ही सही पर किसी की भी हानि नहीं सहन कर सकते थे। इसी सन्दर्भ में श्री मन्नारायण जी ने लिखा है– गाँधी जी अन्त में सर्वोदय अर्थात् बिना किसी भेदभाव के सभी के विकास की कामना करते हैं। वे अधिक से अधिक का भला के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार कर सकते थे, क्योंकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बहुसंख्यक जनता के हित के लिए अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा की जाती है। गाँधी जी इस सिद्धान्त को एक निर्जीव सिद्धान्त मानते थे जिसने मानवता का काफी अहित किया है।[4]

सर्वोदय की अवधारणा अद्वैत के आदर्श पर आधारित है तथा ये समन्वय की नीति का अनुसरण करती है। अर्थात् गाँधी जी मानते थे कि व्यक्ति और समाज के साथ न्याय तभी हो सकता है जब दोनों को अभिन्न मानकर समान रूप से विकास किया जाए। इसका जीवंत उदाहरण उनके द्वारा स्थापित एक आश्रम की कहानी से मिलता है– 25 मई सन् 1915 को अहमदाबाद के निकट कोचरब नामक स्थान पर गाँधी जी ने अपना पहला सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया। इस आश्रम में किसी का प्रवेश वर्जित नहीं था। किसी भी जाति, धर्म या सम्प्रदाय का व्यक्ति उसमें प्रवेश पा सकता था। इस आश्रम के कार्य भी किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं थे। यहाँ मानवता का प्रचार होता था।[5] और मानवता के किसी भी पुजारी को इस मंदिर में आने की खुली छूट थी। गाँधी जी के सर्वोदय समाज के आदर्श का मूल तत्व भी समान मानवीय अधिकार ही है। व्यक्ति और समाज आपस में जुड़े हुए हैं। व्यक्ति का हित समाज से है और समाज का हित अनेक व्यक्तियों के एक साथ आने से ही सजता है। सर्वोदय समाज में सब का उदय और उत्थान समान रूप से आवश्यक माना गया है। गाँधी जी समाज से गैर बराबरी मिटाने और आर्थिक क्षमता स्थापित किए जाने के पक्ष में थे। वे वर्गविहीन समाज के आदर्श को भी स्वीकार करते थे। गाँधी जी समाज में शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि समाज के हर व्यवसाय मे लोगों को बराबर सम्मान और वेतन मिले। लेकिन गाँधी जी के अनुसार यह लक्ष्य हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा के पाया जाना चाहिए। साम्यवादियों की तरह वे यह नहीं मानते थे कि इसके लिए उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर दिया जाए। बल्कि इसकी जगह ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अपनाया जाए जो समाज में आर्थिक समानता लाने का एक बेहतर विकल्प है। इस सिद्धान्त को गाँधी जी ने एक साधन के रूप में अपनाया था, जो प्रेम और अहिंसा का ही एक रूप है। यह

एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें पूँजीपति अपने धन की जरूरतों की पूर्ति करने के बाद शेष धन को कल्याण के लिए खर्च करें तथा वे अतिरिक्त धन के ट्रस्टी एवं संरक्षक बने न कि स्वामी ट्रस्टीशिप की प्रेरणा गाँधी जी को ईश्वास्योपनिषद से मिली थी. इस उपनिषद् के पहले ही श्लोक में कहा गया है कि– ईश्वर इस सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है। जड़–चेतन, राई से लेकर पहाड़ तक सब उसी का विस्तार है। सभी ईश्वरस्वरूप है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस सृष्टि का भोग निष्काम भाव से, परमात्मा का अंश समझते हुए करें। पृथ्वी और मौजूद धन–सम्पदा किसी की नहीं है। इसलिए इसका उपयोग निरासक्ति भाव से करना चाहिए।" गाँधी जी, उनका मानना था कि समस्त संपत्ति ईश्वर की है, अतः पूजीवादियों और जमींदारों को चाहिए कि वे श्संरक्षता के सिद्धान्त को अपनाएं। जमींदार स्वयं को भूमि का संरक्षक मात्र मानते हुए जमीन जोतने बोने का अधिकार किसानों को खुशी से सौंप दें। पूँजीपति अपने कारखाने में कार्य करने वाले मजदूरों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करें। उन्हें ये मानना चाहिए कि उनके पास जो पूँजी और धन–संपदा है, वह समाज की धरोहर हैं। महात्मा गाँधी ने न्यासिता के सिद्धान्त के बारे में एक प्रारूप बनाया था। यह उनके जीवन काल में नहीं हो सका था। बाद में प्यारेलाल जी ने इस प्रारूप के फार्मूले को प्रकाशित करवाया। महात्मा गाँधी का न्यासिता का प्रारूप इस प्रकार है– समतावादी व्यवस्था न्यासिता समाज की वर्तमान पूँजीपति व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था यह पूँजीवाद का समर्थन नहीं करती है बल्कि उस व्यवस्था को सुधारने का अवसर देती है यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानवीय प्रकृति में सुधार हो सकता है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकारों को केवल समाज द्वारा अपने कल्याण दी गई व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा अनुमति के अतिरिक्त स्वीकार नही करती है। न्यासिता की व्यवस्था पूँजी के स्वामित्व एवं उपयोग पर आधारित पूँजी के स्वामित्व एवं उपयोग में बाधक नहीं करती है। व्यक्ति स्वार्थसिद्धि हेतु सम्पत्ति के उपयोग के लिए स्वतन्त्र नहीं नियमों को पृथक इस प्रकार राज्य द्वारा संचालित न्यासिता व्यवस्था में व्यक्ति स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा सामाजिक हित की अवमानना करके सम्पत्ति रखने अथवा उसका उपयोग करने में स्वतन्त्र नहीं होगा। अधिकतम आय की सीमा का निर्धारण जिस प्रकार से न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारित करने का प्रस्ताव किया जाता है, उसी प्रकार से समाज में व्यक्ति की अधिकतम आय की सीमा भी निश्चित की जायेगी। ऐसी न्यूनतम एवं अधिकतम आय का अन्तर विवेक संगत, समतापरक एवं समय–समय पर परिवर्तनशील होगा, ताकि अन्तर को कम से कम करने की प्रवृत्ति बनी रहे।

उत्पादन सामाजिक आवश्यकतानुसार –गाँधीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन की प्रकृति सामाजिक आवश्यकता के द्वारा निर्धारित की जायेगी, न कि व्यक्तिगत इच्छा या लोभ के द्वारा महात्मा गाँधी द्वारा' निर्मित न्यासिता का यह प्रारूप उन्होंने अपने एक मित्र को सहमति के लिए भेजा था, जो उस समय के पूँजीपतियों में विशेष चर्चा का विषय रहा था। गाँधी जी समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता को मिटाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि एक ऐसी प्रणाली स्थापित होने से पूँजीपतियों और श्रमिकों में कोई भेद नहीं रहेगा। गाँधी जी के इस सिद्धान्त का निचोड़ इस वाक्य में निहित है कि एक संरक्षक अथवा धातेदार का जनता के

अतिरिक्त कोई उत्तराधिकारी नहीं होता।[8] गाँधी जी यह जानते थे कि इस सिद्धान्त पर तब तक चलना सम्भव नहीं होगा जब तक लोग अपने विचारों में परिवर्तन नहीं कर लेते। अतः अपने आदर्श को व्यावहारिक धरातल 'मेरा आदर्श सम्पत्ति का समान वितरण है, किन्तु जब तक मैं यह देखता हूँ कि यह पर उतारते हुए उन्होंने यह भी कह दिया था कि सम्भव नहीं है तब भी यथासंभव समान विभाजन के लिए प्रयत्नशील हूँ।[9]

भारत की वर्तमान लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्था में गाँधी जी के इन दोनों प्रमुख सिद्धान्तों की झलक दिखाई देती है। जहाँ सरकार अपनी अनेक योजनाओं के द्वारा न्यासिता का कार्य कर रही है, वही सरकार एवं जनता मिलकर समाज के उत्थान में कार्य कर रहे है। सर्वोदय के विचार का मूल मन्तव्य भी यही है कि कम या अधिक शारीरिक क्षमता के लोगों को समाज का संरक्षण समान रूप से प्राप्त हो और सभी समान पारिश्रमिक के हकदार माने जाए। विज्ञान और लोकतन्त्र के इस युग में सर्व की क्रान्ति का ही मूल्य है और वही सारे विकास का मापदण्ड है। आदर्श के रूप में कहा जाए या जीवन के परम मूल्य के रूप में सर्वोदय का सिद्धान्त न्यायसंगत ही नही बल्कि बुद्धिसंगत भी है। इस दिशा में लगातार बढ़ने का प्रयास जारी है। शायद यही महात्मा गाँधी का भी अभिप्राय था।

सन्दर्भ :–

1. गाँधी जी का दर्शन, डॉ. जी.पी. नेमा एवं प्रताप सिंह, रिसर्च पब्लिकेशन, पृ. 105
2. महावीर कॉम्पिटिशन टाइम्स, प्रो. किशोर पटेल, पृ. 151
3. सर्वोदय अर्थशास्त्र अंक ले. जैनेन्द्र कुमार, पृ. 58.
4. सर्वोदय अर्थशास्त्र अंक ले, जैनेन्द्र कुमार, पृ. 357
5. राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी धरम बारिया, लक्ष्मी प्रकाशन, पृ. 58
6. भारतीय दर्शन– भाग 2 डॉ राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, पृ. 191
7. गाँधी जी का दर्शन, डॉ. जी.पी. नेगा एवं प्रताप सिंह, पृ. 102, 103
8. गाँधी जी का दर्शन, डॉ. जी.पी. नेमा एवं प्रताप सिंह, पृ. 102, 103
9. सामाजिक–राजनीतिक दर्शन के नये आयाम डॉ. हृदय नारायण मिश्र, पृ. 223

Existence and Life: Finding some theories in History of Humanity

Dr. Sindhu Poudyal
Assistant Professor
Department of Philosophy
Tripura University

Both existence and life are crucial to the human being. It is believed that it is the only human being who can introspect because of several developed faculties of his existence and accordingly he continually assigns meaning to these different dimensions of life which can be theoretically summarized as a human existence in general. This paper aims to explore the fundamental ontological understanding of life and existence as a whole. In doing so I shall be focusing more on what motivates us as humans to construct meaning and define life and existence in a certain way. This is an attempt to connect the philosophy of science and the existential human issues related to life and inhabitance on earth as a whole. The methodology of the paper is analytical, historical, and descriptive. Through this paper, I shall try to establish the essential need to reestablish the necessity of a critical philosophical approach to mitigate the problems of everydayness in the world (more especially human but with the cosmos). Can we have a holistic approach to the notions of existence and life altogether? Keywords: Ontology, Sociality, Life, History, Mystery Paper The very first question - why do we call something is 'existence' or has 'life'? What if all that we see, think, imagine or feel just turns out to be some kind of well-planned affair? That could also be possible right! For instance, biology offers an intended definition of life by offering certain modalities that apply to any organisms on this planet (or even elsewhere) along with the behavior pattern - traceable through history and offered some definitions for convenience. Which appears to me at this stage is like an agreement for acceptance and approval that anything we wish to define or judge as possessing 'life 'in general must be attested and verified through those glasses. Hence, often these definitions will be nothing more than descriptions or rely on 2 more controversial theoretical commitments.1 And for that matter, every discipline approached life based on their convenience2 whatever is the aim of philosophy every discipline in a way tried to set larger boundaries where anything can be fitted in larger ways as the existence and segregating itself with life which we wish to load certain meaning to it. In the subsequent section, I shall explore at least five such approaches where philosophy directly or indirectly has its hold on life and existence at large. They are - 1. A scientific approach to existence and life or what science has to say? 2. What is existence and life in classical and modern philosophers? Are postmodernists turning away their faces from the classical analysis? 3. What is life and existence for a poet? How does s/he see existence in and through his poetry? 4. What is life and existence to a commoner? 5. How do religion, spirituality, and mystics see it? One can right away start with Descartes' Cogito ergo sum' or 'existence precedes essence' in Sartre. But that is not the intention. The intention as stated earlier is to find out the dimensions in which our entire faculty of reason, imagination, belief, and understanding role when it comes to having an understanding related to subjective (phenomenal or mystically transcendental) or objective ways governed

and processed. Hence let us at last start with what sciences speak about existence and life. The first attempt is to look for a satisfactory analysis of how science in general looks at the concept called existence and life. Science has not explained so far the origin of life in full detail, partially because science tries to set the standard of justification on truth and verifiability and for which the connection of matter which is evident and life (living/consciousness) which dwells in that matter is untraceable beyond certain giveness for which it seems confined within 1. Life (Stanford Encyclopedia of Philosophy), accessed February, 2022. 2. This can also be seen based on the foundation and aim on which that disciplined is trying to explore the meaning of life and existence in general. 3 its limits. However, parallel research is building significant futuristic theories, on how biology or chemistry can give rise to living cells in general and life in particular. Physics as one of the foundational sciences and close associates with first philosophy- tries to define the boundary of its analysis to existence as - the state of things as they exist or appear in spatiotemporal dimension which is opposed to the view that existence has a mind in it or springs from something supernatural or any idealistic/spiritual element and the very fact or state of living or having objective reality can be traced as existence. Hence for any science to prove the analogy need to have sufficient conditions proved for which in the case of science following three conditions - it has to be in a specific form/in the state of things - i.e. to say it needs to be objectively available to a state, has to be a factual/phenomenal truth, and must be traceable through certain methods.3 What is interesting to see in sciences like physics is trying to have a reduced understanding of life and existence both by eliminating something which is nonobjective from the objective property. For example, the inanimate objects might have energy but because something is missing to call it a living substance. They perhaps would mean life which is missing from an inanimate object but because what is the standard for justifying something having the life and no life is not yet clear that domain remains an unproved dimension. So, the condition which is called living - what does that even mean to an other? (which is a social self) are some of the spiraling questions sciences try to avoid answering. Existence hence can be defined in terms of physical reality that 'is'. Now interestingly, philosophical analysis on existence also starts from that point when Parmenides said- the ultimate essence of physicality is 'being' and by that he meant that reality which is defined in terms of existence, which does not require any further proof because it is just there and any further investigation can be undertaken from there. This was fifth century BC Classical Western philosophy and it was interesting to note that that time was not quite metaphysical or discerning existence from any hypothetical conditions of non-existence. But the question remains, what natural sciences would come up (especially physics), with a more comprehensive and universal notion, or is it more of metaphysical speculation on which sciences are heading? 3 . These methods could be many depending on the need and approach towards the reality. 4 Hence the moral of the story is - So long as we have sciences start with an analogy about existence, does the term "existence" can have any unspecific yet a takeaway to go with yet unambiguous definition of existence? The answer to this question lies in the accuracy and shifting of poles for sciences but if not then that would be a big no if we consider it in totality. For instance, quantum theory, our theories of space, time and symmetry, and thermal physics - and they are strange, even some equivocal conceptual/theoretical

implications concerning that which is not given yet. Hence, a broad analysis of foundational theories in all-natural and (not evidently natural) sciences to have a consensus. For example, the drifting of natural science from philosophy and philosophy taking a religious turn to analyze the cause and course of the world equally seem vague. Science taking extremely compartmentalized and strictly rational and evidential one might also destroy the meaning into existence. So in a way science also needs to spread its wings which it does though at the initial stage of inquiry. The fact that great masses of people become conscious specifically in the twenty-first century given conditions where there is the flood of information, technology overpowering human intelligence, there is going to be a question of existence and life even in the post humanist world. Hence, the multidisciplinary approach which often scientists are taking is under serious threat now. The reason being the same, what is new in it? But, existence and its intertwined meaning with life cannot be comprehended fully through science. That leads to the investigation of all forces in the existing social situation with hermeneutical touch for the lost meanings in the refining process with the largest possible role in the final state of unification while defining (or at least in analyzing). But thereby another issue might pop in - i.e. to refinding the fundamental ontology of all these dimensions in the process of unification. If considered in a holistic approach then science might lose its unique charm and then thereby the tensions increase and the two competing processes are so closely linked with each other that every intensification of the unifying process, for instance, employment of the new method in the investigation. Apart from sciences or to put it more precisely, sciences carry a very little sense of what life is in existence or there is at all life in existence. But it helps in convincing and making data available to serve ready at hand. 5 The second analysis is to analyze what was the basis of the claim that there is existence (being - something) rather than nothing? And because it also has not specifically explored the dimensions of very definition for which postmodernists dethrone the castle built during the modern period based on reason and logic. This is an age-old problem like the philosophy of humanism. Analytically if we see then it is only with this being called human for whom both existence and life are meaningfully clubbed together. It has both existence and life and it is the only being that tries to explore itself in a multidimensional sphere. This life and existence in philosophy as a discipline resulted in analyzing it in different branches - Epistemology, Metaphysics, Ethics, and Aesthetics. To understand simply the existence and life specifically related to the human being. In the modern period, this approach was dominated by reason with Descartes 'cogito ergo sum', which brought a revolution in thinking and theorizing life and existence. Existence was explored theoretically in terms of theories and methods whereas the notion of life took a back seat or got prominence in well-defined meaning and theory or was governed by actions in terms of morality. With empiricists, this idea of life alongside existence was explored and it culminates in the political affair in John Locke ever since then life in terms of existence got gradual attention in philosophy again. However modernist reduction of life into a well-defined truth through reason was contested and explored further by Kant, Hegel, and Marx. But postmodernists unlike analytical philosophers in contemporary times tried to turn the table upside down by infesting meaning into existence. For them, life, as we live in sociality, is meaningful and this whole approach of analyzing it as true has reduced the subject

into some kind of object and for them it is violence. With bringing forth all the existential and phenomenal experiences into the frontline, post-modernists seem very uncomfortable with reasons of hypocrisy. They aimed to know life and existence as it is been given rather than how it should be which has been the tendency according to the post-modernists, the whole of western philosophy was approaching from the very beginning. The third approach to this analysis is how in human imagination and work of art existence and life are meaningful. Human imagination is focused purely on the mind and a world that is in the world and beyond. How a poet sees life may not be the same as we in science or philosophy are interested in exploring. It is not merely mundane, or just to live but it is neither the fact that a poet is trying to bring forth some kind of rational truth through his/her analysis. 6 Rather his approach towards existence per se - seems full of life where even a stone that is not conscious or even devoid of life gets a prominent place in the poets' mind. It is as if it suddenly gets a supermundane meaning. The fourth approach to life and existence is to look for a more common and mundane understanding; I would call it an everyday understanding of life. However, this everydayness certainly has life because it is lived through and more conveniently felt in each case. Existence becomes inevitable but seems burdened by the event called life. Whatever is the given meaning, for a person to live an unbiased and live it through the nakedness is impossible because we have a life in mundaneness that struggles to live a life with others and constantly under the gaze and supervision of morality. Well to call it an analysis would also not suffice for the definition because while living through it when one attempts to define then it again falls into the trap of incomplete analysis. So the story remains incomplete there as well. However, it cannot be thrown away as meaningless as layman's analysis is filled with the expression referring to having a stand even when one is not officially qualified enough to theorize an actual situation out there. But then that's how the given world with actual people and situations is influential in creating a discourse full of meaning and rigor. The fifth and the last approach with which this paper is contending is to see how religion and spirituality try to explore the dimension/s of existence and life further or even for that matter, how a mystic finds meaning in life and existence? Well, it is believed that even if it is transcendental/metaphysical/suprarational/supernatural/ otherworldly it is a mystic who affirms the fact of the belief that 'something is'. Now it is a fact because it is true for the mystic and it is 'is' existence because it is there in the subjective transexperiential direct experience of the experiencer. What are the possible dimensions a mystic would explore within the sphere of existence and life will be clear in the wide definition of the mysticism in general which states - 'mystical experience,' is: A (purportedly) super sense-perceptual or sub-sense-perceptual experience granting acquaintance of realities or states of affairs that are of a kind not accessible by way of sense perception, somatosensory modalities, or standard introspection.4 However, in the narrow sense, more common among philosophers, 'mystical experience' refers to a sub-class 4 . Mysticism (Stanford Encyclopedia of Philosophy) (Accessed on 19/2/2022). 7 of mystical experience in the wide sense. Specifically, it refers to A (purportedly) super senseperceptual or sub-sense-perceptual unitive experience granting acquaintance of realities or states of affairs that are of a kind not accessible by way of sense-perception, somatosensory modalities, or standard introspection.5 Now both these narrow and wide meanings concerning the analy-

sis of a mystic to life is to find meaning in givenness and constituting an overlapping structure of faith and acceptance that there is a higher purpose and meaning to what is seen, though, experienced, or felt. Well, inexplicable in words mystics prefer to stay silent or expressionless or at times seen exploding with over-expressive emotions to prove the case i.e. life and existence as a whole. Conclusion: To conclude I can state that, from the above analysis one direction in which I can infer and contest it alongside all other approaches the metaphysical, or spiritual or mystical dimension still holds a unifying and holistic approach when it comes to defining existence and attaching the meanings of life to the given and non-given meaning of existence. Knowledge, it is shown in these books, no longer consists in manipulation of man and nature as opposite forces, nor the reduction of data to mere statistical order, but as a means of liberating mankind from the destructive power of fear, pointing the way toward the goal of the rehabilitation of the human will and the rebirth of faith and confidence in the human person. The works published also endeavor to reveal that the cry for patterns, systems, and authorities is growing less insistent as the desire grows stronger in both East and West for the recovery of dignity, integrity, and selfrealization which are the inalienable rights of the man who may now guide change employing conscious purpose in the light of rational experience. 5 . Ibid 8

Reference:

1. Baggini, Julian. What's It All About? Philosophy & the Meaning of Life. United Kingdom: Granta Books, 2013.
2. Berlin, Isaiah. Four Essays on Liberty. United Kingdom: Oxford University Press, 1990.
3. Cottingham, John. On the Meaning of Life. United Kingdom: Taylor & Francis, 2003.
4. Jeffrey, Adam. On the Nature of Physics: An Introduction to Physics and Philosophy at the Finest. N.p.: Amazon Digital Services LLC - KDP Print US, 2021.
5. Life (Stanford Encyclopedia of Philosophy)
6. Markosian, Ned. "What Are Physical Objects?" Philosophy and Phenomenological Research 61, no. 2 (2000): 375-95. https://doi.org/10.2307/2653656.
7. Mlodinow, Leonard. Hawking, Stephen. The Grand Design. United Kingdom: Bantam Books, 2011.
8. Mysticism (Stanford Encyclopedia of Philosophy)
9. Wallace, David. Philosophy of Physics: A Very Short Introduction. United Kingdom: OUP Oxford, 2021.

Re-learning and Re-imagining Gandhi in Contemporary World.

Gyanendra Tiwari
Department of Philosophy
(Unirersity Of Delhi)

Introduction:

As contemporary society gives complex problems. We have to negotiate with these problems in daily life. Gandhi's life and philosophy is an inspiration and suggests a powerful opportunity to solve these problems. It is the need of the hour to re-imagine and re-learn multi-dimensional thoughts and philosophies of Gandhi to negotiate the challenges of contemporary society. In the background of the materialistic culture, the contemporary world dominates all life. Gandhi's philosophy of 'simple living and a strong belief in the supremacy of truth and non-violence' guide us in many ways as we more often seem to get diverted from the road of values and ethics in the contemporary world.

Mahatma Gandhi accepted five pillars for his philosophy of non-violence i.e. acceptance, respect, appreciation, understanding and compassion. These are the basic or simple habits of our existence in the contemporary world. If we follow these, we could make a different world. By adopting these habits or values, we can not only be joyful to ourselves but also make others happy. Gandhi's belief in the power of non-violence can be reflected by this quote of his, "Nonviolence is the first and last article of my faith and my creed" (sutradhar; 2018-28).

For the contemporary world, following the ideals of truth is very challenging. Gandhi's prescriptions on the power of truth gives us the direction in life. On the soul of truth, according to Gandhi a fault does not become truth by reason of multiplied proliferation, nor does truth become fault because nobody sees it. Truth stands, even if there is no community support. It is self-sustained. This is a suitable reminder for all of us to set by truth by all means.

One of the greatest learning we can have from Gandhi is his thought of goodness of all being. He always believed that that humanity is proceeding towards well-being. He was a firm believer of humanity. According to him. One must not lose faith in humanity. As the contemporary world faces the challenges of nature and climate change, it is time to return to Gandhi's Cosmo-centric approach to human being. Gandhi believed that human beings are interconnected with each other and cannot live in isolation.

Satyagraha: An Instrument of Social change:

The crisis the world is experiencing is not essentially a political or economic one, but a moral and spiritual one. The growing gap between human ambitions and social environments has often led to violent revolutions. The complacent optimism of the last century has given way to a deep rooted despair, and people everywhere are gripped by fear and insecurity. In his anxiety to escape from utter futility and meaningless existence, man is tempted to put his faith in the most absurd doctrine, to submit his will to the most brutal dictator. Gandhian Satyagraha ass instrument of social change ensures justice and freedom without inviting chaos.

Satyagraha is a force that may be used by individuals as well communities. It may be used at home as well abroad. The major unresolved problem of world politics, Gandhi maintains, is war. The actual process of war is unrighteousness because it contradicts ahimsa and the higher law or dharma. "The children of violence will commit suicide and perish unless they turn away from violence."

For many reasons, Gandhi is and advocate of interstate fellowship and goodwill. The more important of these are his belief in dharmic law which imposes a moral obligation on States as well as individuals. He gives assent to the idea fof "one world", provided it incorporates his "truth" and his "non-violence."

In addition, he recommends satyagraha as a substitute for military action. As to its inter-state employment, he claims that "Satyagraha is a law of universal application. Beginning with the family its use can be etended to every other circle. Here, Gandhi's notions implicitly deny those ancient Hindu ideas emphasising stratagems, guile and the balance of powers especially those associated with kautilya and kamandaka.

Gandhi's idea of Non-violence:

Ahimsa constitutes the core value of Indian civilization. It has played a vital role in the evolution of Indian culture. It directs community behavior towards a peaceful settlement; accommodation: and Vasudhaiv Kutumbakam (the whole world is a family). In Indian philosophy, it considers Ahimsa as dharma (Duty). Gandhi describes ahimsa as complete aloofness from himsa (violence). He measured all violence, big or small, and committed knowinly and unknowingly as adharina (impure action).

In Buddhist philosophy, there is more emphasis on self-control and Ahimsa. Gautama Buddha directed to his followers to follow non-violence (Ahimsa) by controlling the mind, body, and speech.

In the Sikhs philosophy, all Sikh Gurus and Guru Nanak Devji in particular, laid importance on pure and moral performance and self - control to usher in a non-violent social order. Furthermore, Guru Nank Devji made harmony the basis of non-violence.

Gandhi's philosophy was strongly against violence or suppression since it went against the integrity of an individual life. Every individual has an equal right from his birth to death. It should be respected by others. Gandhi said that violence can never be justified on any ground. Justice is a core principle of Gandhi's life, to achieve it; cannot force his views on others.

The use of violence is always against human beings. He considered that violence is always against human beings. He considered that violence is always utter helplessness, and isolation. Gandhi's method of non-violence is not only restricted merely to violence, not hurting people's body and mind but also it goes beyond certain essential values of love, compassion, and forgiveness.

For practicing non-violence method one needs proper training of moral courage, strong will, and patience, all these, in turn, lead to a transformation of the mind. For transformation of mind an inner conscience is needed. It gives a surplus to the truth. Each one of us has a virtual truth.

Gandhi's concept of non-violence in India was not only for making constitutional government demands but also beyond at something greater. The first step of concept of non-violence was to achieve mass support. The main object of this movement was to involve

everyone whether from a higher class, lower class or peasant group. The main aim of the concept of non-violence was not only against foreign rulers but to completely remove the influence of the foreign rulers from the mind-set of people.

Gandhi's idea of Truth (Satya):

Truth (Satya) is one of the main contributions of Gandhi's philosophy contemporary world. The principle of truth (Satya) was the most powerful instrument used by Gandhi. The term Satyagraha is a combination of two Sanskrit words. The first word is 'Satya' that means truth. The second word is 'Agraha' that means holding on to truth (Sutradhar; 2018:28). The word Satyagraha means insisting on the truth. The concept of Satyagraha was introduced by Gandhi, which means devotion to truth. It means Universal force.

Love is the base of concept of Truth. It is against the use of any form of violence. Satyagraha is bases on truth and against any form of violence or injury. Gandhi's concept of Satyagraha is based on the Vedantic ideal of self-realization. He tried discovering the truth. He says that 'Truth is God' (Ibid. Sutradhar).

Satyagraha should follow the basic principles i.e. truth, non-violence, non-Stealing, non-possession, chastity, fearlessness, body labour, freedom from untouchability, and equal respect for all religious. Every Satyagrahi should follow all these rules. Individual must have faith in God, in truth and non- violence.

There are some qualities of satyagrahi i.e. sincere and honest, open-minded, disciplined teacher, learn to put on restraints upon his own self, fir behaviour, Simplicity, and humility. These are regarded as the key factor of a satyagrahi. Love, non-violence, and truth are essential for satyagrahi. Truth is not a weapon of the helpless, and coward. Satyagraha is a war without any violence, and fighting.

Conclusion:

Gandhian concept of Truth and Non-violence are very important in the contemporary world. These two concepts are the same sides of a coin. Gandhi was a great lover of truth and non-violence concepts. We can use these two concepts of truth and non-violence as fighting weapons against political and social evils which are prevailed in the twenty-first century.

I Would put my case to rest with the beautiful quotation of Mahatma Gandhi for the conservation of nature and our mother Earth-Earth provides enough to satisfy every man's needs, but not every man's greed.

Gandhian thoughts are fairly applicable to the present society as well and therefore can be said that Gandhism is indeed relevant even today.

References:

1. Patil Mahesh (2019), 'Gandhian Concept of Truth and Non-violence' in edited 'Contemporary of Gandhian Thoughts: Reality & Distorion' Dr. Ramesh Kadam & Dr. Dattaji Mhetre, mudra Publication, Nanded, page No. 278-281.
2. Ramchiary Arpana, (2013), 'Gandhian Concept of Truth and Non-violence' IOSR Journal Of humanities and Social Science (IOSR-JHSS) Volume 18, pp 67-69, Dec
3. Gandhi M.K. (1931), Young India.
4. Gandhi, M.K (19390), 'Harijan', Ahmadabad.
5. https://gandhi.gov.in/aboutus.html
6. Basanta kumar Lal, (1973), 'Contemporary Indian Philosophy', Shri Jainendra press.

Concepts of psycho-social wellness in Yoga sutras of Patanjali

[1]Thikhe Ashwini Sham, [2]Dr. Akhilesh Singh, [3]Dr. Sham Ganpat Tikhe
Ph.D. Scholar (Yoga), Department of Yoga, School of Humanities and social Science
SAM Global University, kolua, Gram Adampur Chawni, Raisen Rd, Bhopal, M.P.462022
[2]Dean, Research and Development, SAM Global University
[3]Assistant professor, Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Sanchi, M.P. 464661

Psycho-social illnesses are multi-factorial disorders which are associated with many other psycho-neurological problems. Wellness is the state or condition of being in good physical and mental health whereas illness is a disease or period of sickness affecting the body or mind. Psycho-social wellness is a super ordinate construct that includes emotional or psychological well-being, as well as social and collective well-being. The term "quality of life" is similar to psycho-social and collective well-being. The term "quality of life" is similar to psycho-social wellness in that is involves emotional, social and physical components. Yoga practices are known to play significant role in the development of psycho-social wellness as well as in the treatment and prevention of illnesses. The Yoga Sutra provides a practical philosophy and an applied science of life with all the necessary concomitant processes, tools and techniques for the management of psycho-social illnesses. Yoga therapy concepts available in Yoga Sutras offers very sound guidelines for a harmonious material life and also a solid launching pad for higher, spiritual, transcendental guidelines for a harmonious material life and also a solid launching pad for higher, spiritual, transcendental life. Psycho-social aspects of wellness available in Yoga Sutra are associated with synchronizing the mind and body with the Self. The sage Patanjali explained various therapeutic aspects in his Yoga Sutra. Patanjali explains about the distractions of the mind and the development of disease (Vyadhi), their symptoms and methods to overcome them. The Yoga practitioner may develop these therapeutic aspects for curative, preventive and promotive ways in relation to wellness.

Concept of psycho-social illness in Yoga Sutra

1. Antaraya

Yoga Sutra deals with the nine Antarayas (psycho-social illness): (1) Vyadhi (disease), (2) Styana (dullness), (3) Samsaya (doubt), (4) Pramada (carelessness), (5) Alasya (laziness), (6) Arirati (a highly stubborn attachment or liking), (7) Bhrantidarsana (false perception), (8) Alabdhabhumikatva (failing to attain stages of practice), and (9) Anavastitatva (inability to maintain).

2. Viksepasahabhuva

Yoga sutra deals with the viksepasahabhuva, the accompanying symptoms of psycho-social distraction: Duhkha (sorrow), Daurmanasya (mental distress), Angamejayatva (tremor of the symptoms of a distracted condition of the mind and they do not appear when the mind is calm and peaceful.

3. Klesa

The Patanjali Yoga Sutra (PYS) provides clear ideas about the root cause of all psycho-social illnesses in the form of Klesa (PYS II/3): Avidya-clinging to life. These are

the five pains, the fivefold tie that binds us down. Avidya (ignorance) is the mother of all the rest and is the only cause of all our misery.

4 Klistavrattiya

There are five classes of modifications (Vrtti), (some) painful (Klista) and (others) not painful (Aklista) (PYS I/5). These are: Pramana (right knowledge), Viparyaya (indiscrimination), Vikalpa (verbal delusion), Nidra (sleep) and smrti (memory) (PYS I/6). These Vrtti are also the part of psycho-social illness as it is recommended to be controlled by Abhyasa (practice and Vairagya (non attachment) (PYS I/12) for psycho-social wellness (Tada drastuh svarupe avasthanam- the drasta or seer or Purusa rests in his own unmodified state (PYS I/3).

* Concept of psycho-social wellness in Yoga Sutra

Patanjali, in his Yoga Sutra explain following psycho-social aspects of wellness:

1- Eka-tattva-abhyasah (the practice upon a single subject) (PYS I/33)

2- Maitri karuna mudito-peksananm-sukha-dukha punya-apunya-visayanam bhavanatah citta-prasadanam (the mind become peaceful by practicing friendship over happy, kindness over unhappy, gladness over good and indifference over evil) (PYS I/33)

3- Pracchardana vidharanadhyam va pranasya (or by throwing out and restraining the breath) (PYS I/34)

4- Visayavati va pravrttih utpanna manasah sthiti nibandhani (or by fixing the mind on on a single modification generated by the sensory objects) (PYS I/35)

5- Visoka va jyotismati (or by the meditation on the effulgent one which is beyond all sorrow) (PYS I/37

6- Vitaraga visayam va cittam (or by meditation on the heart that has given up all attachment to sense objects) (PYS I/37

7- Svapna nidra jnana alambanam va (or by meditating on the knowledge that comes in sleep) (PYS I/38

8- Yathabhimata dhyanat va (or by meditation or anything that appeals to one as good (PYS I/39)

9- Abhyasa (tatra sthitau yatno-bhyasah): continuous struggle to keep the Vrttis perfectly restrained is practice (PYS I/13)

10- Vairagya (drsta-anusravika-visaya-vitrsnasya vasikara-samjna vairagyam): that effort, which comes to those who have given up their thirst after objects either seen or heard, nad which wills to control the objects, is non-attachment (PYS I/15)

11- Pranavajapa (taj-japah tad-artha-bhavanam): the repetition of Pranava and meditating on its meaning is the way to attain samadhi (PYS I/28

12- Kriyayoga (Tapah, Svadhyaya and Isvarapranidhana) (PYS II/1

13- Vivekakhyati: vivekakhyatih aviplava hanopayah (the means of destruction on ignorance is unbroken practice of discrimination) (PYS II/26

14- Astamga Yoga: Yoga Sutra offers eight-limbed model, Astamga Yoga: Yama (Ahimsa, Satya, Asteya, Brahmacarya, Aparrigraha), Niyama (Sauca, Santosa, Tapah, Svadhyaya, Isvarapranidhana), Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana and Samadhi (PYS II/29

15- Samyama: Trayam ekatra samyamah (When Dharana, Dhyana and Samadhi practiced in regard to one object is Samyama) (PYS III/4)

16- Kaivalya: Purusa-artha-sunyanam gunanam-pratiprasavah kaivalyam svarupa pratistha va citisaktiriti (the ultimate goal of yoga, the isolation of purasa from Prakrti. In other words, it is absolute consciousness established in its own self.) PYS IV/13)

Patanjali refers to his Yoga as "Kriya Yoga": the "Yoga of action with awareness". It clearly explains how to apply patanjali's profound philosophical and psycho-social teachings in everyday life, in any situation with unique methods of practice (Abhyasa) and non attachment (Vairagya). Until now, many practitioners have treated it as a philosophical reference, and hve largely ignored its implications for Yoga's psycho-social aspects of wellness. They have also ignored the fact that it is also an esoteric work and that only initiates, with sufficient prior experience, can grasp its deeper meaning. Thus, the present study of psycho-social aspects of illness and wellness in Yoga Sutra may be useful to understand the preventive, promotive and curative aspects of Yoga.

* Concept of Heya, Heyahetu, Hana and Hanopaya

Patanjali coins four terms of psycho-social illness and wellness i.e. Heya, Heyahetu, Hana and Hanopaya.

Heya(PYs II/16 is the pain to be removed which has not yet appeared but is bound to appear in the future.

Heyahetu (PYS II/17) is the concept of misidentification between 'seer' and 'seen' principle. Here, comes the role of Samkhya. He also considers that our life span, family in which to be born enjoyment in the world depend upon Klesa as it is the root cause for the store house of our Karma (PYS II/12, 13).

Hana (PYS II/25) contains an optimistic approach confirming that removal of such pain (psycho-social illness) is possible.

Through Hanopaya (a psycho-social wellness strategy) (PYS II/26), Patanjali presents a certain method and if followed, one can attain freedom from pain for ever.

An understanding of the concept of trance in Patanjali's Yoga Sutras was reported by Chowdhary and Gopinath through a thematic analysis of the book Four Chapters on Freedom by Swami Satyananda Saraswati.1 Many Yoga therapists have limited training in Research Literacy skills, which negatively impacts inter-professional communication and collaboration, as well as further advancement of Yoga therpy research and practice. In this connection, it was proposed inclusion of Research Literacy skills and Evidence- Informed Practice based on Yoga Sutra in the training of Yoga therapists.2 A theoretical-hermeneutic study was conducted, in which concepts contained in the Yoga Sutras of Patanjali were interpreted from the standpoint of mental health. It was revealed that the values found in the texts can enrich the existing practices of yoga for Primary Health Care (PHC) users (Who suffer from afflictions inherent to life) by providing ideas and guidelines that promote a sense of liberation from suffering. Such values and ethical principles can be incorporated into the discussions in PHC and psychosocial care, such as the reduction of iatrogenic disorders and unnecessary medication (quaternary prevention). It can also contribute to the relativization of biomedical power, stimulation of empathy and participation of users in care, with their

subjective repositioning, multiplyin autonomous ways of managing suffering and building networks of psychosocial support. The conclusion drawn was that the values of the Yoga Sutras may be present in various domains of PHC, which might provide a broader understanding of what 'the practice of yoga' means.3 A descriptive review focusing on trends of treatments required for postoperative coronary artery bypass graft surgery (CABG) patients to improve the quality of life (QOL) was reported by Eraballi and Pradhan.4 In this study, the sources of literary research to understand the concepts of coronary artery disease according to Indian scriptures were Ayurveda texts, Bhagavad Gita, Patanjali Yoga Sutra. As per new research techniques, surgery, physiotherapy rehabilitation and Yoga are serving CABG patient's medical and psychological health better.5 In Study by Eraballi and Pradhan it is revealed that in circumstances where the person is able to move in daily activities (just after discharge), rehabilitation serves as a better option for physical, mental and social health. Travel and reaction to climatic change serve environmental health. Last strategy, health. Last strategy, belief, cultural and traditional methods with scientific background serves as the spiritual health. These step-wise treatments are required for CABG patients to get the overall health or QOL. However, surgery and physiotherapy rehabilitation are advanced as per modern era which serves physical, mental, and social health also, but environmental health and spiritual health have yet to be addressed. As an ancient system of medicine, Yoga combines physical, mental, social, environmental and spiritual practices and it should be added as treatment along with surgery and physiotherapy rehabilitation. Integrating concepts of Yoga, Ayurveda, modern rehabilitation, surgery and patient cooperation with lifestyle change are the key to QOL improvements after CABG. Therefore, integrating concepts of surgery, physiotherapy rehabilitation, Yoga, Ayurveda and knowledge of ancient texts can improve the QOL of CABG patients.6 meditation technique discussed in Yoga Sutra increases the membrane potential of neurons and other body cells and reduce the activity of amygdala and cortical areas.7

* Relevance of psycho-social wellness in the present life

Yoga has become immensely popular as aids to improve physical and mental health. There is now strong evidence to suggest that Yoga is beneficial in several lifestyle psycho-social illnesses such as depression, anxiety, psychosis, phobia etc. Many health practitioners are completely knowledgeable about these concepts and do apply these aspects in their own life. But very few health practitioners use these strategies for personal transformation. With this background, it is highly recommended to understand the concept of psycho-social aspects of illness in present life and further to know that these illnesses can be very well managed with the wellness strategies in Yoga Sutra.

*** Conclusion**

This study shows the importance of understanding the psycho-social aspects of illness in the present life and their effective management through the wellness aspects of Yoga Sutra.

References

1- Chowdhary s, Gopinath JK. Clinical hypnosis and Patanjali yoga sutras. Indian J Psychiatry 2013 jan;55(Suppl 2):S 157-64

2- Moonaz S, Jeter P, Schmalzl L. The importance of research literacy for yoga therapists. Int J Yoga Therap 2017 Nov; 27 (1):131-133

3- Pereira LF, Tesser CD. [From yoga to psychosocial care in primary Health Care: a hermeneutic study on the ethical values and principles of the Yoga Sutras of Patanjali]. Cien Saude Colet 2021 Feb;26(2):711-720

4- Eraballi A, Pradhan B. Quality of life improvement with rehabilitation according to constitution of the World Health Organization for coronary artery bypass graft surgery patients: A descriptive review. Ayu 2017 Jul-Dec;38(3-4):102-107.

5- Nagarathna Raghuram, Venkateshwara Rao Parachuri, M V Swarnagowri, Suresh Babu, Ritu Chaku, Ravi Kulkarni, Bhagavan Bhuyan, Hemant Bhargav, Hongasandra Ramarao Nagendra. Yoga based cardiac rehabilitation after coronary artery bypass surgery: one- year results on LVEF, lipid profile and psychological states--a randomize controlled study. Indian Heart J Sep-Oct 2014;66(5):490-502

6- Eraballi A, Pradhan B. Quality of life improvement with rehabilitation according to constitution of the World Health Organization for coronary artery bypass graft surgery patients: A descriptive review. Ayu 2017 Jul-Dec;38(3-4):102-107

7- Jerath R, Barnes VA, Crawford MW. Mind-body response and neurophysiological changes during stress and meditation: central role of homeostasis. J Biol Regul Homeost Agents 2014 Oct-Dec;28(4):545-54.

AUROBINDO'S DEFENSE OF INDIAN PHILOSOPHY AND CULTURE: A RESPONSE TO THE WEST

Manisha Rao
Research Scholar
Department of Philosophy and Religion,
Banaras Hindu University.
Email:manisharao280695@gmail.com

The West has created a bogus image of the Philosophy and Culture in the East by accusing it of being impractical and life-repulsive. This criticism can largely be attributed to the distorted reading of Sankara and his theory of Mayavada. Such a stereotyping of the Indianculture has alsoinfluenced the Neo-Vedantins, including Aurobindo and he counters it by refuting Sankar's theory of Mayavada. This paper is not an attempt to defend the theory of Mayavada as propounded by Sankara, but is rather an attempt to put forth Aurobindo's defense of Indian Philosophy and its culture against the western accusation. He notes, "What was this ancient spirit and characteristic soul of India? European writers, struck by the general metaphysical bent of the Indian mind, by its strong religious instincts and religious idealism, by its other-worldliness, are inclined to write as if this were all the Indian spirit. An abstract, metaphysical, religious mind overpowered by the sense of the infinite, not apt for life, dreamy, unpractical, turning away from life and action as Maya, this, they said, is India; and for a time Indians in this as in other matters submissively echoed their new Western teachers and masters.".1He,however, does not seem to buy this misguided opinion of the West and argues that a mere look at the history of India will reveal "her inexhaustible power of life and joy of life, her almost unimaginably prolific creativeness."2 He argues that no parallel can be found in the history of the world whose intellectual labour produced a body of research in all possible arena of human interest. It was not merely restricted to the philosophical or theological discourse but poetry,medicine, astronomy and everything that the human mind has conceived until now. Her history, therefore speaks volumes about its richness of life and the details it plunged into in order to refine it. Such a civilization can therefore be anything but life-repelling.He however does not debunk the existence of the idealistic and pessimistic trends in Indian milieubut counters these theoryby deploying lilaas an instrument that affirms the metaphysical reality of the phenomenal world. He reinterprets the traditional Advaita Vedanta and propounds a version that affirms the world while accounting for the 'multiplicity' and 'becoming' in existence. This is explained by a joyful creation of the Brahman itself, rather than an illusionary product.His approach to reality is integral, which encompasses Being and Becoming, Matter and Spirit ,Static and Dynamic and One and Many. For him, to consider Brahman as Being, Static and the Only reality(negating world) devoid of any becoming, dynamism, multiplicity is nothing but delimiting the very Brahman. He accounts for the empirical reality of the World whilst maintaining the individuality of the Brahman. Instead of effacing the phenomenal world, he explains it through the concept of lila. All creation is a manifestation of the Brahman. It is a process of joyful creative activity.

'Lila' as an instrument of metaphysical justification of World-existence:

By deploying lila as an instrument for justifying the existence of this world, h stresses on the Ananda aspect of the Sacchidananda (Truth, Consciousness-Force and Bliss He emphasizes on the inseparability of the triune of Existence, Consciousness-Force & Bliss, but insists that each aspect of the triune needs to develop distinctly so that its fulle potentiality is realized through expression. But eventually the three aspects must b assimilated to prevent ourselves from partial generalizations.Lila, he asserts is a pure 'pla just for the sake of creating Himself in Himself, and not motivated by anything els Brahmanis, he says, "Himself the play, Himself the player, Himself the playground"3 H uses it as significant explanation of the World. He provides an integral vision to explain th individuality of the Brahman, by reconciling the phenomenal world with Brahman. The co-existence is not a contradiction, rather there is no question of co-existence because the is no duality but one is just a manifestation of the other. It cannot be reduced to a mer efficient cause of the universe but constitutes its very being. He sharply reacts to the 'One o Many' speculations of his predecessors and argues that it can exist both as One and multipl parts. The consciousness of Brahman can actively manifest itself in the 'Supermind'. Whil manifesting itself , it limits its perspectives so as to enjoy its self-discovery. Such a explanation does not seek riddance from the reality of the world, rather it instantiates it Divinity. It plunges into limited perspectives while simultaneously keeping its omniscienc intact in order to enjoy self-overcoming in an infinite variety. "Brahman is in all things, al things are in Brahman, all things are Brahman" is the triple formula of the comprehensiv Supermind, a single truth of self-manifestation in three aspects which it holds together an inseparably in its self-view as the fundamental knowledge from which it proceeds to th play of the cosmos."4 Through the instrument of lila, he asserts the reality of the world i the self- discovery and dynamism of Brahman.

Deconstruction of European vision and an alternate India:

Aurobindo sensed that ridiculing the Eastern philosophy and Culture served a underlying purpose of legitimizing the British rule. He viewed the Vedic period as th golden age and dissolved the faux image created by the British by providing us an alternat image of India and its glorious past. He insisted that the true genesis of the Indian Spirit lie in affirming life, and not turning away from it as the West claimed. He affirms that Spiritualit is inherent in Indian mind but it does not stand synonymous with her entire mentality Nothing develops in the void, her past is reflective of the thriving vitality. India has contribute abundantly in a plethora of activities ranging from arts, sciences, law and administration etcetera. He says, "Everywhere, as on her soil, so in her works there is the teeming of a superabundant energy of life."5 He further adds, " it embraced all life, politics and society all the arts from painting to dancing, all the sixty-four accomplishments, everything the known that could be useful to life or interesting to the mind, even, for instance, to suc practical side minutiae as the breeding and training of horses and elephants, each of whic had its Shastra and its art, its apparatus of technical terms, its copious literature."6 A natio such as this, can therefore not be accused of turning away from life. In fact, history is a witness that it tries to understand life in every detail.He argues that Spirituality does no thrive in impoverishment but rather in splendid vitality and intellectuality. The Europea imagination of India and its spirituality finds its source in the Buddhistic and Illusionisti

rebuttal of life. But this is only one of its philosophical perspective, whose exaggerated influence was explored to its farthest potential in these philosophies. But even this spiritual extremism could not prevent her from enjoying a rich and sensuous experience. That too, was explored in its finest details.

Conclusion:

Thus, both the philosophy and the culture in India is grounded in Spirituality, but it is not a hollow spirituality that thrives in the negation of life and promotion of ascetic ideals. He acknowledges the pessimistic trend in Sankar's Mayavada and offers its rebuttal by offering his lilavada that affirms the metaphysical existence of the world.He insists that India is a land of multiple philosophical perspectives.But the variety of perspectives did not result in disorder. The Indian Spirit, he argues, strikes a balance between extreme views through what he calls a 'synthetical tendency', i.e it arrives at a harmonious fusion of the knowledge by exploring the farthest possibilities of extreme views.He observes that Spirituality is the significant note supporting the Indian philosophical discourse but such a tendency does not mean seeking the abstract up there, it is also directed downward and outward, engaging with the variety of thoughts and accepting the richness of life. India has always been a Spiritual nation but it has not prevented her from enjoying the riches of life. The vast amount of literature on all the aspects of human life speak for the unparalleled acumen of the Indian Spirit to enjoy the life in its finest details. Such a civilization, with so much richness of life can never be based on a hollow Spirituality that turns one away from life.

Bibliography:

1 Aurobindo, S. (1997). The Renaissance in India and Other Essays on Indian Culture. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

2 Aurobindo, S. (2005). The Life Divine. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

3 Lal, B.K. (1978). Contemporary Indian Philosophy. Delhi: Motilal Banarsidass Publication.

Reference

1. Sri Aurobindo, The Renaissance in India and Other Essays on Indian Culture, 5-6.
2. Ibid., 7.
3. Aurobindo, The Life Divine, 111.
4. Ibid., 149.
5. Sri Aurobindo, The Renaissance in India and Other Essays on Indian Culture, 9.
6. Ibid.,9.

FOUNDATION OF SAKHYA DOCTRINE: A THEORETICALRE-VISITING

Dr. Gautam Kalotra
Room no. 6, Department of Philosophy
Arts Faculty, University of Delhi (North campus)
Delhi-110007
E-mail:gkalotra63@gmail.com

I. Sakhya Doctrine: An Introduction

Sakhya is, above all, the practical philosophy transmitted by Kapila. Sakhya gives a clear idea of the Purusha-spirit and of Prakriti-manifestation represented by Great Nature. The latter is manifested essentially in a mechanical manner, like all the cosmic Laws which govern us. Nothing exists, in any realm that by deduction does not proceed from a higher Law. There comes a time when one must submit to such a deductive process. This process is pure Sakhya; it is the inexorable descent into Prakriti, under pressure from above of the great Will. From that moment onwards everything functions in a mechanical way: the higher intelligence (buddhi) the soul, the ego, all the centres of the human being, each one with its natural intelligence. The mechanistic functions starts when connections start between the different levels of the being; its inner organs of perception (indryas) or senses, its constituent elements (bhutas) and densities. The S??khya doctrine recognizes the three independent sources and criteria (pram??a-s) of valid knowledge: perception, inference, and testimony. Sakhya discovers, the self comes to have knowledge through the vehicles of the sense-organs, manas, and mahat. Sensations and impressions arise as a result of contacts between the sense-organs and objects. The manas analyzes the sensations and impressions into various forms and passes them on to the mahat. The mahat thus becomes transformed into the form of the particular object. But being a physical entity, the mahat lacks consciousness and so cannot itself generate knowledge. Because of its predominantly s?ttvika nature, however, the mahat reflects the consciousness of the self, the Puru?a. In this manner, the unconscious yet eminently s?ttvikamahat becomes conscious of the form into which it has been modified. Thus, ariseperception as a cognitive act. An analogy may illustrate this point further. A mirror in a dark room, although situated in front of an object, cannot reveal the object to us, but needs the light of a lamp for reflecting and revealing the object. Similarly, the mahat, an unconscious, physical entity, needs the light of consciousness of the Puru?a in order to produce cognition and therewith knowledge. It is clear, then, that without the purusa as pure consciousness there can be no knowledge.

II. Sakhya-Yoga Confluence

Several studies exist on the histories of Sakhya and Yoga, some of which are portions of works that set out to cover Indian philosophy in its entirety, and others of which attend more singularly to either Sakhya or Yoga, or to both of these together. The fundamental metaphysical distinction that S??khya and Yoga share is the self or conscious subject and the experienced. Roughly speaking, we could call these two factors the subjective and objective principles, or simply the subject and object, although it must be remembered

that they become subject and object only in relation to one another. Considered independently of that relation, they are merely potentially subject and object. In the S??khyakarika the two principles are generally referred to as Puru?a and prak?ti (orpradhana), whereas the Yogas?tra more often uses the terms drasta ('seer') and dr?ya ('seen' or 'seeable'), but the basic distinction remains the same. Both dar?anas regard the second of these principles as having three constituents or properties, or more literally 'strands' (gu?as), and as having a manifest and an unmanifest aspect . The precise nature of the relationship between these two aspects is not made very explicit in either text, although in many instances the analogy of flowing or surging is used to represent how the manifest aspect of prakrti arises from the unmanifest one . It is, for both systems, the 'conjunction' (sa?yoga) of the two co-fundamental principles - potential subject and potential object - that initiates the transformation of the latter principle into its manifest forms; and again for both systems, it is the dawning of the subject's knowledge of its non-identity with those manifest forms that initiates their dissolution back into their unmanifest ground. The subject's awakening to its self-sufficiency and purity is the envisaged eschatos of both dar?anas, and they both refer to this fully awakened state as kaivalya, literally 'aloneness' or 'solitude'. Furthermore, they concur that it is the very purpose (artha) of prak?ti manifestation, and hence of the whole of life and experience, to bring about the conditions in which this awakening can occur. Thus we can see that the metaphysical commonalities between S??khya and Yoga are abundant. Now let me point out some differences. There are, for a start, differences of terminology, and in certain instances it is difficult to tell whether these harbor more significant conceptual discrepancies. In the cases so far mentioned - that is, Yoga's preference for drasta and dr?ya where S??khya tends to use Puru?a and prak?ti/pradh?na - there is no indication of any conceptual disagreement. In other cases, however, it is less easy to tell. For example, the Yoga term citta (usually translated as 'mind') could be a precise synonym of the S??khya term buddhi ('awareness-of', 'discernment') or, alternatively, it might be intended in Yoga to stand for the three mental factors - namely buddhi plus aha?kara and manas - that are brought together by S??khya under the term 'the inner instrument' (antahkara?a). A third possibility is that Yoga is simply less rigorous than is S??khya with respect to its specification of psychological capacities, and that citta is sometimes equivalent to buddhi and at other times more like antahkara?a. The main reason why it is difficult to be certain in cases such as the one just outlined is that nowhere within the Yogas?tra are we given a comprehensive list of metaphysical categories, and hence, there is nothing with which to directly compare the far more systematic exposition of categories that proceeds from S??khyakarika. The nearest thing we get to a list such as this within the Yogas?tra is a fourfold categorization of the 'levels of the strands' (gu?a-parv??i) , and this is by no means explicit in its wording. The four levels, or divisions, in question are:

1. The specific or particular (vi?esa),
2. The non-specific or non-particular (avi?esa),
3. The mere mark or indicator (li?gam?tra) and
4. The unmarked or unmanifest (ali?ga).

The task of mapping S??khyaunma ni fest prak?ti p'us twenty-three manifest categories onto this fourfold schema is feasible although not straightforward. The last two of the four

Yoga divisions are relatively easy to account for: the fourth, ali?ga, is undoubtedly unmanifestprak?ti, which - in addition to just plain prak?ti or pradh?na - S??khya calls avyakta (the unmanifest, SK 2, 10) and m?laprak?ti (fundamental productivity or procreation, SK 3); and the third, li?gam?tra, must surely be the equivalent of S??khya' smahat ('the great'), which it also calls buddhi. The first and second divisions are a little more problematic, however. The terms vi?esa and avi?esa do occur in the S??khyakarika, as characterizations of the five elements (bh?tas) and five modes of sensory content (tanm?tras) respectively (SK 38); and hence there is some chance that they are being used similarly in the Yogas?tra. However, even if we were able to situate these elements and modes of sense-content within Yoga's fourfold model, this would still leave a further twelve S??khya categories unaccounted for. (S??khyakarika denoted as SK)

III. Dualistic Realism in S??khya Metaphysics

S??khya is dualistic realism. It is dualistic because of its doctrine of two ultimate realities: Prak?ti, or matter, and Puru?a, or self (spirit). S??khya is realism in that it holds that both matter and spirit are equally real. With regard to the self, S??khya is pluralistic because of its teaching that Puru?a is not one but many. S??khya basically ac knowledges two aspects of reality: prak?ti, (the unconscious principle) and Puru?a, (the consciousness). Each body contains a self, but the self is different from the body, senses, mind, and intellect. It is a conscious spirit, at once both the subject of knowledge and the object of knowledge. It is pure consciousness, self-illumined, unchanging, uncaused, all-pervading and eternal reality. Whatever is produced or is subject to change, death, and decay belongs to prak?ti or its evolutes, not to the self. Puru?a is identified as male and prak?tias female. All manifestations in the universe are the outcome of these two realities .

S??khya held that there was no difference between cause and effect, except that the former was only the earlier stage which when transformed through certain changes became the effect .There is no permanent reality which undergoes the change, but one change is determined by another and this determination is nothing more than "that happening, this happened" On the relation of parts to whole, Buddhism does not believe in the existence of wholes . According to it, it is the parts which illusorily appear as the whole, the individual atoms rise into being and die the next moment and thus there is no such thing as whole.

S??khya distinguishes between two kinds of perception, which may be described as pure sensation and perception. In pure sensation one is aware of the presence of something, although there is no knowledge of what that something is. That is, in pure sensation there is neither categorization nor analysis nor synthesis of the sense. Pure sensation is thus wholly devoid of any conceptual components. To put it differently, in sensation there can only be cognition but no recognition, for recognition means to identify that which is being sensed as such and such; such identification necessarily involves categorization, analysis, synthesis, and interpretation of that which in sensation is given as merely present. Thus, a baby's experience of the world is, to use William James phrase, a booming and buzzing confusion. The baby has no concepts by which to label the various sense-data and thereby to generate the notion of identity and with it objects and individuals. On the other hand, with the acquisition of language one learns to label one's sensations and identify them as this or that

object - for example, this is a red flower and that is an elephant. In S??khya literature, sensation and perception are also referred to as indeterminate and determinate perceptions, respectively.

We shall now present an outline of the S??khya theory of inference. Inference is needed only when we do not know everything about the world. It is the process by which we assert, on the basis of what we perceive or know, something that we have not yet perceived or known. The connection between what is perceived and what is asserted is one of invariable relation. Thus, having observed that smoke and fire invariably and unfailingly occur together, one infers from the perception of smoke the existence of fire. It should be emphasized, however, that the relation between what is perceived and what is inferred must be universal and grounded in experience; that is, mere coincidental (or isolated instances of conjoint) occurrence of phenomena cannot serve as the basis of inference from the perception of one to the existence of the other,

Broadly speaking, S??khya divides all inferences into two classes, vita (affirmative) and avita (negative). The first consists of inferences based on universal affirmative propositions, and the second of those based on universal negative propositions. The first class is further divided into two groups, one group consisting of inferences based on universal affirmative propositions that are granted in empirical experience, and the other of inferences based on universal propositions not so grounded. Let us illustrate each of these three kinds of inference. The smoke-fire example given above belongs to the first group of the first class; The following is an example of inferences of the second group of the first class. Consider the question, how do we know that we have sense organs'. According to the S??khya, it would be absurd to say that we know we have sense-organs because we perceive them, for the sense-organs are those by which we perceive all objects but not the sense-organs themselves: the eye cannot see itself. Nevertheless, says the S??khya, we can infer the existence of the sense-organs by the following argument: Every action requires for its performance some instrument or device. Perceiving is an action. Therefore, since we do perceive, we must possess instruments or means of perception, n=mely, the sense-organs. According to the S??khya this inference is justified, not because we have observed our sense-organs to be invariably related to perceptual acts, but because of our general conception of action as something that requires an instrument. (One might question the S??khya conception of perception as action, but we shall not pursue this objection here.) We shall now illustrate inference based on universal negative propositions. It consists in progressive elimination of all but one of the possible alternatives. Thus one infers that something is a substance by showing that it is neither a quality nor a relation nor an activity nor anything else. We may mention that the S??khya accepts the five-membered syllogism of the Nyaya as the most adequate pattern of inference. This pattern we shall discuss in detail in the chapter on Nyaya.

The S??khya recognizes testimony as appropriate where neither perception nor inference can serve as means to knowledge. Testimony is of two kinds, namely, laukika and vaidika: that which in principle is open to confirmation by perception and inference, and that which is not so open, respectively. The former kind pertains to knowledge of objects constituting the world of ordinary experience, whereas the latter pertains to knowledge of super sensuous, transcendental reality, Thus when the geographer makes the claim that there is a conti-

nent called 'Australia', we accept it as true because we ourselves can in principle certify it on the basis of perception and inference. Similarly, when the microbiologist asserts that there exist certain minute organisms, aided with the appropriate theory and instruments we ourselves can in principle determine the truth or falsity of this assertion. On the other hand, in matters beyond perception and inference, the S??khya accepts the testimony of the Vedas. The reason for this is that the S??khya regards the Vedic seers as men who, by freeing themselves from all the imperfections of mundane existence, had gained insight into ultimate reality. Their utterances are expressions of their direct intuitive knowledge of ultimate reality; consequently, the Vedas constitute the most authoritative and infallible source of knowledge of the transcendental reality. It should be kept in mind, however, that the S??khya does not regard the Vedas as eternal, since they are founded in the transcendental experiences of men who lived and died at certain times and places. Thus the Vedas are infallible, not because they are eternal, but because they are the intuitive insights of perfect men. Nevertheless, the S??khya considers Vedic knowledge timeless in the sense that it is not the exclusive possession of this or that group of men living in a certain place at a certain time, but instead is grounded in the universal, unchanging spiritual experience of all men in all times and places.

IV. Conclusion

In final submission we can say, The S??khya metaphysics and epistemology is dualistic realism, since according to it there are two ultimate principles, prak?ti and Puru?a, which are equally real. Consequently, the S??khya rejects monism, whether materialistic or idealistic. The reason for this rejection is explains that materialistic monism commits the error of affirming the reality of prak?ti (matter) and denying the reality of Puru?a (spirit); on the other hand, idealistic monism is guilty of the reverse error of affirming the reality of Puru?a and denying the reality of Prak?ti. The S??khya points out that neither of these monisms can do justice to the incontrovertible fact of our experience as constituted of the two poles, the subject and the object. For the S??khya, knowledge arises out of the coming together of prak?ti and Puru?a. Both of them complement each other. The former provides the object of knowledge, and the latter explains the principle of consciousness. Both prak?ti and Puru?a are not capable of producing knowledge. The S??khya epistemology as realist holds that external objects actually possess the properties and relations that we apprehend in our perceptions. Nevertheless, the S??khya maintains that the knowing subject is not a passive spectator of the world but plays an active role in the production of knowledge. This does not means that our knowledge is purely subjective and lacks any objective basis. S??khyaholds that the active role of the knowing subject is that, of the innumerable aspects, properties, and relations of the objects constituting the world; the subject selects and concentrates on some and ignores the others. This results in a perspectival theory of knowledge, according to which different persons perceive reality differently because of the differences in their perspectives. What is more, the same person experiences the world differently at different times. How a certain person experiences the world at a certain time depends upon a number of factors, the most important of which include the dispositions of the person as deriving from the karma of his past existence. The point of all these observations is that the S??khya considers reality much richer and more complex than can be grasped

from any single perspective. The S??khya reminds us, however, that this does not mean that perspectives are merely subjective and hence do not reveal the real. Quite the contrary, each perspective reveals to us a certain aspect of the world. In defense of this claim the S??khya points, out that different perspectives overlap, and that this cannot be the case unless there is in reality an objective basis for the perspectives. True, the S??khya admits, more often than not perspectives disagree; but he quickly points out a truth that we are prone to overlook: there can be no disagreement unless there is some agreement; the agreement is due to the fact that the sense-organs, manas, ahamk?ra, and buddhi of different persons have evolved from the single prak?ti. The disagreement is to be accounted for in terms of the differences in the degree and nature of the ignorance that afflicts different individuals.

REFERENCES

Primary Source

1. Anirvana, Sri (1983).Letters from ABaul, Life Within Life.Kolkata: Sri Aurobindo Pathamandir.
2. Ballantyne, J.R. (1984). Sankhya Aphorism of Kapil. Delhi Prakashan.
3. Banerjee, Satischandra (1898).Sankhya Philosophy. Calcutta: Hare Press.
4. Bernard, Theos (1947).Hindu Philosophy. New York: Philosophical Library.
5. Chatterjee, Jagdisha Chandra (1912). Hindu Realism. Allahabad: the Indian Press.
6. Dasgupta, S.N. (1975). A History of Indian Philosophy, Vol.I. Delhi: Motilal Banarsidas.
7. Davies, John (1881, reprint 2000).Hindu Philosophy. London: Routledge.
8. Geden, A.S. (English Trans.), Deussen, Paul (1906). The Philosophy of the Upnishads. Edinburg: T &T Clark.
9. Larson, Gerald James (1998). Classical Samkhya-An Interpretation of its History and Meaning. Delhi: Motilal Banarsidas.
10. Hiriyana, M. (1983). Outline of Indian Philosophy. Bombay: Blackie and Sons.
11. Lakshmanjoo, Swami (Comm.), Hughes, John (Ed.) (2002). Shiva Sutras-The Supreme Awakening. Universal Shaiva Fellowship.
12. Macdonell, Arthur A. (1900). A History of Sanskrit Literature. New York: D. Appleton & Company.
13. Muller, Max (1919). Six System of Indian Philosophy. London: Longmans Green.
14. Prabhavananda, Swami (1963). The Spiritual Heritage of India. New York: Doubleday & Company.
15. Sharma, Dr. Har Dutt (Trans.) (1933). S??khya Karika with Gaudapada's commentary (html format)
16. Sharma, Chandradhar (1960). A Critical Survey of Indian Philosophy. Delhi: MLBD.
17. Weber, Albrecht &Mann, John (Trans) (1892).The History of Indian Literature. London: Kegan Paul, Teench, Trubner, & Co.

General and Spiritual Philosophy of Acharya Rajneesh Jain

Himanshu Singh
M.A. Yoga 4th Sem.
Centre for Yoga and Consciousness,
A.P.S. University, Rewa (M.P.)

Acharya Rajneesh was professor of philosophy, member of Indian philosophical congress, a philosopher a cult leader, International spiritual guess, know to be most controversial spiritual guru ever in post independent India. with his logical, rational and pragmatic oration skill, shook the root of orthodoxy ritual and trends of society of all known previous religion across the world. He forcefully Hammer all the orthodoxies old Tradition that got obsolete in respect to present era, These tradition that create Burden to soul of Human being.

He was Against the suppression, speeches the art of living, Liveliness, when there is celebration, courage, creativity, Importance on free of thought, meditation mindfulness, His work on catharsis, meditation and commentary on existential religion and their past spiritual leader is exceptional one.

Teaching of Acharya Rajneesh -

Preached and gave concept of religion less religion1 which matched with dynamic nature of time that include on importance of free through, momentary living, celebration, joy, consciousness, courage, creativity, mindfulness, though his teaching delivered through his discourses. His teaching emphasis on scientific and absolutely experimental and experiential.

He spoke on almost every aspect and dimension of life, speak on all religious teaching of world, spoke on famous old philosopher and religious Guru of all almost all religion, such as spoke on Jainism, Hinduism, Hassidism, Tantrism, Taoism, Sufism, Chritianity, Buddhism, his discourses on teaching of Patanjali Yog sutra, Bhagvat Geeta, Asbtavakra Geeta, Lao Tzu, George Gurdjieff, Buddha, Mahaveer, Christ, Upanishad, Nanak, Dadu and on Kabir are exceptional one.

He passes their message, teaching and philosophy to the humanity, Act as gave way to teaching of old Guru, Explain their teaching with connection with modern reign through his discouses in a Lucid and understandable way. Acharya Rajneesh was well read person, read almost more than one Lakh Book of old and new Testament both, have very scientific, logical and effective oration skill with humour. His teaching include every aspect of human existence, including Taboo's of society like sex and death.

"I am not teaching philosophy here. What I am saying has nothing to do with philosophy. It is absolutely experimental and experiential. My effort is to create a scientific religion - the psychology of the Buddhas. So I am giving you experiments and I am giving you possibilities to experience something that you have not experienced yet. This is a lab, a workshop. We are bent upon doing something - I mean business here! Philosophy is not the concern at all."[2]

- To avoid pain, they avoid pleasure to avoid death, they would life.

* The greatest fear in the world is opinion of others, and the moment as in unafraid of crowd, you are no longer as non, you become lion. A great arise in your heart, roar of freedom.
* It is beautiful to be alone, it is also beautiful to be in love, to be with people and they are complementary not contradictory.
* Awareness fenction almost like magic.
* Teaching of celebration, celebrate evengthi body to soul, physical to spinimal, sex to super consicoumes.
* Love the person, give person total freedom don't self your freedom.[3]

Osho's Ten Commandments

1] Never obey anyone's command unless it is coming from within you.
2] There is no God other than life itself.
3] Truth is within you, do not search for it elsewhere.
4] Love is prayer.
5] To become a nothingness is the door to truth. Nothingness itself is the means, the goal and attainment.
6] Life is now and here.
7] Live Wakefully.
8] Do not swim, Float.
9] Die each moment so that you can be new each moment.
10] Do not search that which is, is stop and see.4

Concept of Neosanyasism -

Acharya Rajneesh introduced neo Sanyasism, As He Shed idea of old tradition of renunciation of family and society. He preached and focused on new kind of "Sanyas", He teaches a style of detachment from inside while living in the world. He shed the Notion that an Household can't be a sanyasi.

He stated that sanyas is inner state of detachments from sansar, it had no serious connection with outer world. With right kind of experience, knowledge, person can liberate. HE emphasis to reject prejudice Notion from mechanical to conscious act with help of Hypnosis and meditation.

Catharsis, dynamic meditation and new meditation teaching -

Acharya Rajneesh (Osho), presented meditation not as just a practice, but consciousness, awareness and alertness as a part of it, awaking Individual from mechanical doing to conscious act.

He emphasis expressiveness, any feeling emotion, Action can't be expressed, it repressed in deeper level of mind, distort the mental emotional process and crippled the human mind.

Include, western psycho therapy in preparatory stage (including catharsis), evoking repressed emotion and memory as preparatory and initial stage of meditation, To create awareness in metal and emotional pattern.

Suggested and devised Hundred of meditative Technique, Most famous one of this own is "Dynamic Meditation" Active meditation this meditative technique is as scientific as vipassana. This one is very helpful in awaking of kundalini dynamic meditation is comprises of stages unlike of other meditative technique like Latina and so on, first stage is

surrender to in front of nature ask energy and compassion, forceful rapid breathing for 10 min., its provoke tremendous energy, strike to muladhar chakra, second step is leave it as let the action manifest what every way is comes trough body like shouting. Trembling, dancing or whatever comes naturally.

"Second stage is known for catharsis' catharsis means throwing the garbage out."5 Third Stage comprise of asking 'who ami' and sound 'Hu" like that Sound strike at base, and fourth stage is for deep relaxation. Each stage is for 10 min, so dynamic in nature i.e. keep changing avoid the risk of monitory, "After dynamic meditation, any previous meditation like, vipassana, preksha, nirvikal samadhi is very useful".

His work on field of tantrism was notable one, on this way 'His book", "Sex to super consciousness" was famous and controversial one.

He state that sex is existential nature of organism, it can't be suppressed, it can be transform to higher level of conscious level with help of meditation yoga, non suppressive and Mool Bandhi.

Conclusion -

Above study Cleary indicates that Shri Acharya Rajneesh was naturalist, great philosopher, spiritual guru, cult leader with non fearless compassionate heart for Humanity. He was supporter of life, Celebration, creativity courage, non suppressiveness. Meditation, Yoga, He firmly proud of his Indian root in field of spirituality. spoken on almost all old and new Testament of different religion and psychology and philosophy of their cult leader through his discourses, devised more than hundreds of meditation technique, among which dynamic meditation was prominent one. He induced psychotherapy for catharsis as preparatory stage for meditation with respect to modern, era. No doubt he is very prominent figure world wide in post independent India. His Teaching, meditation and philosophy keep relevant in upcoming generation too.

References -

1] India's most dangerous guess, university of California press [https://content.ucpress.edu]
2] OSHO, The secrets of secrets, Talk # 4
3] https://www.the quint.com
4] Biography of OSHO - Study IQ, By Siddhant Agnihotri.
4] Indian journal of psychiatry [Wolter kluwer - med know publication] OSHO - Insight on sex. [Anil Kumar Mysore Nagaraj] [https://www.nebinlm,nini.com] ncbi.nim.nih.gov
5] OSHO : The need for dynamic meditation [OSHO International]
6] OSHO : Meditation is very simple phenomenon [OSHO International].
7] Joshi 1982, [Last accessed 2012 July 20]
8] Yoga the path to Liberation
9] OSHO, from death to deathlessness, # talk # 2
10] OSHO, No where to go but in
11] Life Travels - Vipasana and catharsis
12] Dr. Himmat Singh Sinha, The quest, Acharya Rajneesh Philosophical defense.

Balancing Peace from Inner to Outer

Dr. Richa Kapoor Mehra
Assistant Professor
Department of Philosophy
Amity University, Noida

Like 'democracy', 'justice' and 'human rights', 'peace' has become a buzzword. Peace is defined as a stress-free state of security and calmness that comes when there's no fighting or war, everything coexisting in perfect harmony and freedom. The idea of peace has multiple dimensions. Since the emergence of new nation-states, weapons of mass destruction have gradually emerged. That is why many thinkers have gradually emerged to protect human society with the means of peace and harmony. Peace, in this context, refers to safeguard human life.According to me human life can be safeguarded if there is peace within ourselves. Sri Aurobindo's method of integral yoga can be practiced for implementing inner peace. Integral yoga helps in the transformation of our superficial, narrow and fragmentary human way of thinking seeing, feeling and being into a deep and wide spiritual consciousness.Integral Yogaaims at perfection and transformation of human life,throughthe method of integral yoga, one can achieve cosmic peace and harmony.

Introduction

(1) What is peace?

Every human being wants to lead a peaceful and happy life, and be able to resolve conflicts amicably. So to understand peace, we need to understand conflict, what causes it. We also first need to understand what causes conflict in our own minds to understand conflict in society.Only by understanding and acknowledging the conflicts that arise in our own minds due to the unique nature of the human brain can we understand others.Peace has a unique characteristic in itself. Peace and peaceful social order are closely associated with each other, to sustain peace in the world it is significant to have a balanced and stable mind, as steady mind give rise to peaceful society.

(2) What are the main reasons for the growing violence in our society?

As we all know India is a country of diversity. India is the country of largest diversity, diversity in Languages, in Religion, in Culture, in nature, diversity in clothes, food, caste, colour and many more. So Unity in diversity is the main feature of national integration in India. Unity in our country does not mean the kind of oneness that comes from racial and cultural similarity. It is unity in spite of great differences, in other words, unity in diversity. An important historical event in which this unity was displayed was the freedom movement when all the Indians united against the British rule. India is a very large country. We have the second largest population in the world. About one thousand six hundred fifty-two languages are spoken in our country; from among these eighteen have been given special recognition by our Constitution as National languages of our country. There are many forces that come in the way of our national integration. Often people have very strong feelings about their own religion and language and oppose those of others. Such feelings lead to

clashes between different sects. Such occurrences damage our unity and prove to be a hindrance to our progress.

(3) What can be done to eliminate harsh feelings from our society?

One of the most important reason for developing harsh feelings for others is when one forgets the other is also a human being like us rather we start looking at the differences in the other. As stated by Sri Aurobindo, we should think that the mind of men is sourced from super mind and is a power of super mind. Mind is a part and low expression of super mind. Sri Aurobindo says "matter is the base of life and life is the combination of soul and mind". When body become dead, integration of soul and mind become detached. For that body and matter are as important as body gives intellectual power to mind.

(4) What can be done to establish peace?

Integral yoga

Sri Aurobindo calls his yoga as Integral Yoga, and according to Sri Aurobindo most ways of other Yoga are paths to beyond of human existence and towards reaching spirit as a final objective and away from normal life. According to Sri Aurobindo, mind is the highest term reached in the path of evolution till now but has not yet reached its highest potency and calls current mind as an ignorance seeking truth, but he also states that even though the human being is in ignorance, there is in every human being a possibility of divine manifestation. Sri Aurobindo states that there is a possibility to open oneself to higher divine consciousness which would reveal one's true self, remain in constant union of divine and bring down a super mental force which would transform mind, life and body. To realize the above has been the main objectives of Sri Aurobindo's yoga.

Traditional Meaning of Yoga: The meaning of the word yoga, in its true sense is to join our external consciousness with our true self- the Divine within ourselves- which is ONE everywhere. By the practice of yoga, our consciousness expands as wide as the universe and far beyond.

Meaning Of Integral Yoga: As modern science had advanced greatly over past researches and brought new truth and powers, the yoga of Sri Aurobindo has made an advancement overall past yoga. It is called the Integral Yoga or Supra-mental Yoga where the past yoga's end this integral yoga starts.This yoga aims at the conscious union with the Divine in the super mind and the transformation of the nature. The difference between integral yoga and the traditional yoga is not that they are incompetent but that they proceed from realization of self to liberation. In integral yoga first one must realize self, only afterwards can one realize the super mind.It aims not at a departure out of world and life, but at a change of life and existence.

Sri Aurobindo says, "By Yoga we can rise out of falsehood into truth, out of weakness into force, out of pain and grief into bliss, out of bondage into freedom, out of death into immortality, out of darkness into light, out of confusion into purity, out of imperfection into perfection, out of self-division into unity, out of Maya into God. All other utilization of Yoga is for special and fragmentary advantages not always worth pursuing. Only that which aims at possessing the fullness of God is Purna Yoga or Integral yoga."

According to sri Aurobindo, Integral Yoga means " a methodized effort towards self-perfection by the expression of the potentialities latent in the being, and a union of

individual with the universal and transcendent Existence, we see partially expressed in man and in the cosmos"

Sri Aurobindo states our outward happening have their seeds within. Sri Aurobindo says if we want to create a common sentiment by arising a feeling of sense of brotherhood. India, a mixed nation of many religions, caste has no any common rules and regulation by which they can integrate. India is a nation of different communities, caste, culture and goals. We have been suffering from different goals and lower consciousness. Unity in Diversity is not so easy to balance it. Sri Aurobindo directs to integral yoga to balance peace oneself in the society. He spent most of the life by knowing the ultimate truth and response and duties of the human society. He synthesizes most of the culture, society, state and human life. By spiritual consciousness and ultimate truth he directs to the human being to arise in higher consciousness through meditation, sadhna, aspiration, faith, disinterest, love, peace.

Conclusion

Integral Yoga is the art of harmonious and creative living. It stresses the need for the balanced growth of personality for constructive development of the latent possibilities of one's nature. Integral Yoga warns against extreme tendencies which mislead people into lopsided development. Sri Aurobindo's integral Yoga is a fascinating concept with immense possibilities of application in the realm of national integration and also global peace. Sri Aurobindo Ghosh has emphasized on 'Peaceful Unity' and peaceful social unity of every individual by balancing peace from the inner to the outer.

References

1. The Integral Yoga, Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1993
2. Bases of Yoga, Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1979.
3. Essays on the Gita. New York: The Sri Aurobindo Library, 1950
4. The Human Cycle, New York: The Sri Aurobindo Library, 1950.
5. The Ideal of Human Unity, New York: The Sri Aurobindo Library, 1950.
6. The Life Divine, Pondicherry: Sri Aurobindo International Centre of Educational, 1960.

Analysing Gandhi's Dandi March and Vande Mataram by Speech Act Theory

Rinki Jadwani
Research Scholar
University of Delhi

Prior to the independence of India in 1947, our country has witnessed various movements and struggles for the freedom of our country. Some of these movements played significant role to free India from the British rule, and we cannot deny the role of language in these movements. The language used in those movements shows the strategy, the level of preparation, the zeal, the passion, the warmth, and the incandescence to win the fight.

In the present paper, I have taken Gandhi's Namak Satyagraha, and the role of the poem Vande Mataram in the freedom movement of India. I have attempted to analyse the language of Namak Satyagraha on the basis of speech act theory given by Austin. In analysing Vande Mataram, I have tried to show the importance of context in which we use the language, how Vande Mataram had become a song of protest despite not having any protestive force in the song itself.

Since this paper speaks about language of protest, firstly, it is important to explain the meaning of the word protest. The word 'protest' entails disapproval, dissent, rejection, an objection against the existing situation and demands a situation that will end the conflicts and bring about a better set of circumstances.The language used during any protest does not limit itself to simply stating something, or a truth-falsity claim, it is always aimed towards a change, change in the existing situation, for which the protest is being carried out. Even if one is conducting a protest only by stating or describing some plain facts about the adverse circumstances of a system, or is carrying out a silent protest using banners, pamphlets etc., the intention of the denial and the very presence of the protesters would count these as protest-activities.

Austin, in his speech act theory, shook the very foundations of language and thereby problematized its role to start a new theory of looking into the concept of meaning. This new approach chiefly consists in recasting language through a distinction between constative and performatives - constatives being either true or false, and performatives to be described as either happy or unhappy. But in the later lectures (lecture XI) he claims that even a constative is liable to become happy or unhappy and a performative can be true or false as well. In this lecture, he seems to surrender all the attempts he had made earlier to distinguish these twocategories. The same arguments that he gave in the starting lectures to distinguish the two categories, became later on a means to prove the non-distinction between the two categories.

It seems that at a deeper analysis of these categories of constatives and performatives, he found both of them having overlapping and crisscrossing features, which led him to portray a new picture that there is no conflict between them, which finally enabled him to reach the conclusion that a statement (which is a constative) is as much a performative as a warning or an order is.

To what extent the theoretical framework of Austin would work when we apply this distinction of constatives and performatives to the concrete examples of protests. Keeping this distinction and other nitty grities of the theory in view, analysing first, the dandi march of Gandhi to see this connection of speech acts and protest.

Dandi March of Gandhi

As it is known to everyone, Salt, which is a very basic need of poor, and of every Indian, was taxed by the British government in India. Under a series of laws on salt, British salt Act, 1882. Indians were not allowed to make and sell their own salt, they had to buy imported salt from the British government, and they had to pay tax on the salt as well. Salt tax had a long history and it started with the set up of East India Company in India.

Against this salt law, Mahatma Gandhi decided to protest, against paying tax on salt, he decided to march on foot from Sabarmatito Dandi, to the Arabian Sea coast. Before he started this protest, he criticized salt tax many times and demanded that it should be abolished. Gandhi accepts that it is a very unjust act to charge tax on salt. In Hind Swaraj, he says, "The salt-tax is not a small injustice."

Gandhi adopted Civil disobedience to protest against salt tax. Civil disobedience is the denial to obey the laws of the government. Dandi march of Gandhi was an example of civil disobedience, a Satyagraha in order not to pay the tax levied on salt by the British government. Gandhi started this march on foot on 12 March 1930 and it lasted till 6 April 1930. Gandhi started this non-violent protest with 74 fellow protesters but as he moved from one village to another during their march, many other joined this act of civil disobedience against the salt law of British rule. In this march protesters covered 384 km on foot to reach Dandi. Millions of people joined and gathered in Dandi to make their own salt from sea water as a process to reject the imported salt of the government. Not only at Dandi, People of all over India took part in this protest by breaking salt law and making their own salt illegally because very soon salt protest took the shape of countrywide protest. Dandi march was one of the notable movements in the fight for freedom from British rule.

A protest in the form of the march on foot can be said to be a strategy to sensitize people about the fact of their being wronged by the government, and that they should unite to fight against this; and that by doing so, they would effectually accumulate more and more people in the protest. Gandhi chose this method of a protest-march carried out through a long stretch of space,rather than the other methods of dharna - or sitting in one place. It was only by an expansive and ongoing movement of a protest-march that Gandhi could touch the common string that affected the entire India population, in so far as the salt tax negatively affected their daily lives - irrespective of their specific locations or other positions, It was the mobility of the ongoing march across a vast expanse of the country that enabled a bonding among the people with a sense of spatial and ideological unity. On his way to Dandi, Gandhi visited many villages and delivered speeches - giving simple descriptions of the possible consequences of paying so much tax on salt every year. The plain and simple fact that the common poor man has to pay more than his actual income for a daily commodity was clarified in these speeches. Here we see Gandhi observing the felicity conditions of setting out the factual backdrop - which highlights the constative dimension of the protest speech act, as articulated by Austin.

Gandhi's emphasis in his speeches was on the major projects and movements like Swaraj, swadeshi, wearingkhadi and to boycott all foreign items:

"Our patience has been severely tried. We must free ourselves from the yoke of this Government and we are prepared to undergo any hardships that we may have to suffer in order to secure Swaraj. It is our duty as well as our right to secure Swaraj."

Gandhi's Satyagraha was different from how we conduct protest nowadays. Gandhi always adopted the way of passive resistance - i.e., the phenomenon of resistance trivially marked by a shade of aggression was recast by Gandhi into an innovative kind of passivity. Slogans of 'zindabad' or 'murdabad' were not part of the Gandhian way of protesting. It is well known that Gandhi believed in an element of goodness in every person - so that no one will turn out to be our opponent; that he always pronounced the act done by a person to be wrong and not the person himself; and there is always a possibility of rectifying that action. The idea of Swaraj or self-rule/governance or home rule is at the centre of every Satyagraha, and that could be achieved by discarding the British political, economical, and educational institutions. Denying the usage of taxed salt imported by the British and producing our own salt was also an example of Swaraj, a way to discard requirement offoreign essentials and becoming adequately self-sufficient. To achieve this self-sufficiency one should minimalise one's needs and practise a kind of self-control. Gandhiji's Salt Satyagraha protest teaches us to make a boundary with our needs, failing which this idea of Swaraj cannot be actualized and the protest cannot be successful. The emphasis on the use of khadi, production of salt in own country in the salt march were means to achieve Swaraj - all of which were incorporated in the protest - at least in the shape of its perlocutionary force.

The Salt satyagraha protest demands a special significance in so far as the felicity conditions of protest involves the formation of a new national identity, that of Swaraj, where self-sufficiency is to be achieved through non-violence, self-control and restricting one's material consumption.

Vande Mataram

We can also attempt a treatment of the poem Vande M?taram written by Bankim Chandra Chatterjee (1870) in this context of speech act theory. He included this poem in his novel Anandamath in 1882. VandeM?taram had a significant role in the independence movements in India - freedom fighters took up Vande M?taram as the slogan of their protests. Vande Matram means "I praise thee, Mother". It was not without presuppositions that a poem written in praise of the Motherland converted into a slogan in the struggle for freedom. This consciousness of Motherland (matrabhumi) was already rooted in people of India. This poem portrayed the image of Motherland as Bharat Mata, the map of a nation was personified into goddess whom people started worshipping. This presupposition of Matrabhumi was already part of the collective consciousness of people before using Vande Matram as a catchphrase of their freedom operations. But it must be noted that Bankim Chandra Chatterjee used various names to portray Bharat (India) as Mata like, Sujal?? suphal?m, Malayaja??tal?m, ?asya?y?mal?m and so on. Following is the translation of first two stanzas of the poem which was translated by Rabindranath Tagore in 1909:

The collective trauma about the goddess or Bharat Mata (object of worship for the people in India) being in fetters, a compulsive urge to see their Mother free of fetters connected

this poem to the movements for freedom. Nowadays, this poem is not used in any kind of protest; the current situation in India has not raised fresh occasions for activating a deep structure of protest. Everyone does not know the intricacies of the Sanskrit language in which this song was originally written. It is only the first two words that the freedom fighters used to chant, and generally speaking, many people do not know the rest of the song. What is interesting is that without knowing the grammatical operations of case-endings and number (the plural number of 'वन्दे' and the second case-ending of 'मातरम') the common people can respond to the phonetic strength and the sense of the word '??'. The question is how the felicity conditions can be satisfied with 'वन्दे मातरम' used as a protest in its deep structure. The opening phrase of the song secured a sense of territory that was sought to be marginalized and overpowered by the political and cultural hegemony of the Britishers. The elongated stretch of the notes of the word 'मा..तरम्' symbolizes the stretch of the country (BharatMata). The words 'सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम' carry the land metaphor i.e., the expanded body of the mother coupled with an extra emotive force that evokes the feeling for her sanctity and beauty - all of which serve to satisfy the aspirational felicity conditions. There is again a specific semantic content pertaining to the notion of a motherland invested with a physical beauty which (unlike 'We shall overcome') puts a limit to the range of its application. It again has a specific orientation, once we construct the addressee as 'Bharat Mata' the song cannot be carried over to other contexts.

The song and prayer, 'Vande Mataram' does not have inbuilt illocutionary force of protest, because nowadays it is sung merely as a Vandana (prayer), whereas during the independence movement 'Vande Mataram' was used as a protest song, though the protesive force can never be said to be built into the material content of the language itself. The words of this poem in itself have nothing which makes it a song of protest, it is only praising the Motherland. The situation in which it was used made it a song of protest, a slogan to use in the struggle for freedom. That could be the reason British government banned this poem and many freedom fighters were jailed for singing this poem. The situation of struggle for freedom makes it a song of protest. The mindsets of people that how can a goddess, Bharat Mata, whom people of India worship, remain in fetters. An urge to see their Mother free of fetters connected this poem to the movements for freedom. Nowadays, this poem is not used in any protest for freedom, because the words of the poem are not protestive in nature, and there can be seen a shift in meaning and use of Vande Matram, or Bharat Mata ki Jai. It has become a tool to prove one's nationalistic identity; it is used mostly as a political propaganda.

Every protest comes with its unique, innovative, and creative ways of protesting, be it a silent march from one place to another place, or a march with candles, or shouting, or singing, or just gathering at one place and sitting silently, hunger strikes, showing banners, posters, writing poetry, and many more. The unpredictable and emergent novelties of new protest acts only share the minimal commonality - the commonality of being conventional, or making a break with nature. But this minimal commonality also starts to break down - as each instance of a protest convention brings up a new way of breaking away from nature. The lens through which we have attempted to see the protest highlights the importance of language and makes it possible to analyse the success or failure of protests by analysing the

language that is used in protests. Austin's theory opens up a new dimension to show how language of these freedom movements can function more than only stating the truth and falsity claim of statements.

Refererences

1. Austin, J. L. (1962). How to Do Things with Words. (The William James Lectures delivered at Harvard University in 1955 (ed) J. O. Urmson and M. Sbisa, Oxford: Oxford University Press.
2. Gandhi, M. K. (1938). Hind Swaraj or Indian Home Rule. Ahmedabad: Navajivan Publishing House.
3. Tiwari, Jyotsna. Sabarmati to Dandi (Complete Information of Dandi March & Civil Disobedience). Delhi: Raj Publications.
4. https://en.wikipedia.org/wiki/Vande_Mataram
5. https://en.wikipedia.org/wiki/Vande_Mataram

Yoga Therapy for Diabetes Management

Dr. Tikhe Sham Ganpat
Assistant Professor,
Department of Yoga and Ayurveda,
Sanchi University of Buddhist-Indic Studies,
Sanchi, Madhya Pradesh 464661

Introduction

Diabetesishighly prevalent in both developed and developing countries.1 Psychophysiology of diabetes has been correlated with stress mechanisms, as stress suppresses the body's immune and neuroendocrine function, thereby affectingthe normal psychological state.2 Considering the high cost incurred at various steps of screening, diagnosis, monitoring, and management, it is preferable to implement cost-effective measures of diabetes care.1Yoga is among these measures and has an important positive role to play in combating stressors and improving immune functioning to regain health.2

The postulated mechanism of action of yoga has been hypothesized under two pathways: first, by way of vagal stimulation, and second, by parasympathetic activation and hypothalamus-pituitary-adrenal (HPA)axis modification.2,3 Yogahas been shown to reduce perceived stress and regulate HPA axis activation, thereby improving overall metabolic and psychological profiles, increasing insulin sensitivity, and improving glucose tolerance and lipid metabolism.2,4,5 Along with combating stress, yoga similarlyoffers a promisinglifestyle intervention for decreasing diabetes risk factors and increasing psychological well-being.6Regular exercise, yoga, mindful eating, and stress management form a cornerstone in the management of diabetes.1,5 Similarly, latest report on diabetes suggest that the yoga intervention was highly feasible and acceptable, and produced improvements in blood glucose and psychosocial measures of diabetes management.9

Suggested Yoga Therapy Module for Diabetes

Based on research of yoga on diabetes at Sanchi University of Buddhist-Indic Studies, Madhya Pradesh, India, the suggested standardized yoga therapy for diabetes may be given as below:5,7,8

* sana (postures): S?ryanamask?ra(salutations to the sun), Dhanur?sana (bow pose), T?d?sana (palm tree pose), Yogamudr?sana (yogic union pose), Shash?nk?sana (pose of the moon or hare pose), Supta Vajr?sana (sleeping thunderbolt pose), Paschimott?n?sana (back stretching pose), Bhujang?sana (cobra pose), Ardha Matsyendr?sana (half spinal twist), Hal?sana (plough pose), Sarv?ng?sana (shoulder stand pose), Matsy?sana (fish pose), Gomukh?sana (cow's face pose), Shav?sana (corpse pose)
* Pr?n?y?ma (breathing techniques): N?di Shodhana (alternate nostril breathing), Bhr?mari (humming bee breath), Bhastrik? (bellows breath), Ujj?yi (psychic breath)
* Other: Yoga Nidr? (deep sleep) and meditation on Manipura Chakra (navel center).

Conclusion

Yoga therapyis highly feasible and acceptable, and produced improvements in blood glucose and psychosocial measures of diabetes management.

References

1. Kumar V, Jagannathan A, Philip M, et al.Role of yoga for patients with type II diabetes mellitus: A systematic review and meta-analysis. Complement Ther Med 2016;25:104-112.
2. Joshi SR.Diabetes Care in India.Ann Glob Health 2015;81:830-838.
3. Innes KE, Selfe TK.Yoga for Adults with Type 2 Diabetes: A Systematic Review of Controlled Trials.J Diabetes Res 2016;2016:6979370.
4. Pai LW, Li TC, Hwu YJ, et al.The effectiveness of regular leisure-time physical activities on long-term glycemic control in people with type 2 diabetes: A systematic review and meta-analysis.Diabetes Res Clin Pract 2016;113:77-85.
5. McDermott KA, Rao MR, Nagarathna R, et al. A yoga intervention for type 2 diabetes risk reduction: A pilot randomized controlled trial. BMC Complement Altern Med 2014;14:212.
6. Singh VP, Khandelwal B, Sherpa NT.Psycho-neuro-endocrine-immune mechanisms of action of yoga in type II diabetes.Anc Sci Life 2015;35:12-17.
7. Satyananda S. Asana Pranayama Mudra Bandha, 3rd ed. Munger, Bihar, India: Yoga Publications Trust, 2008.
8. Nagendra HR, Nagaratna R. Yoga for Diabetes,2nd ed. Bangalore, India: Swami Vivekananda Yoga Prakashana, 2011.
9. Bock BC, Thind H, Fava JL, Dunsiger S, Guthrie KM, Stroud L, Gopalakrishnan G, Sillice M, Wu W. Feasibility of yoga as a complementary therapy for patients with type 2 diabetes: The Healthy Active and in Control (HA1C) study. Complement Ther Med. 2019 Feb;42:125-131.

दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) में संचालित व्याख्यानमालाओं तथा पुरस्कारों का विवरण

द्वारा
प्रो.श्रीकान्त मिश्र
सचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.)

श्री रमण महर्षि व्याख्यानमाला

भारत के तामिलनाडु प्रान्त में मदुरै से 30 मील दक्षिण तिरुचुली नामक एक गाँव है, जहाँ एक प्राचीन शिव मंदिर है, जिसकी अभ्यर्थना महान तमिल संत एवं कवि सुन्दरमूर्ति एवं माणिक्क वाचकर ने अपने गीतों में किया है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में इस पवित्र गांव में सुन्दर अय्यर नामक वकील एवं उनकी पत्नी अलगम्माल रहते थे। ये आदर्श दम्पति भक्ति, उदारशीलता एवं दानशीलता से युक्त थे। सुन्दर अय्यर बहुत ही उदार थे, जबकि अलगम्माल एक आदर्शपत्नी थीं। वेंकटरामन, उनसे द्वितीय पुत्र के रूप में पैदा हुए जो बाद में समस्त विश्व में भगवान श्री रमण महर्षि के रूप में जाने गये। उनका जन्म आरुद्रा–दर्शन के दिन 30 दिसम्बर 1879 को हुआ। प्रत्येक वर्ष इस पावन दिन को नटराज शिव की मूर्ति जनसामान्य के दर्शन हेतु एक समारोह के रूप में निकाला जाता है ताकि लोग शिव के अनुग्रह को अनुभव एवं प्राप्त कर सकें। आरुद्रा (1879) के दिन नटराज की मूर्ति तिरुचुली के मंदिर से विभिन्न समारोह के साथ नगर में निकली थी तथा पुनः मंदिर में प्रवेश करने वाली थी, उसी क्षण वेंकटरामन का जन्म हुआ।

जीवन के आरम्भिक वर्षों में वेंकटरामन में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था। उन्हें तिरुचुली के एक प्राइमरी स्कूल में तथा बाद में दिण्डुक्कल के एक स्कूल में भेजा गया। जब वे बारह वर्ष के थे तो उनके पिता का देहावसान हो गया। ऐसी स्थिति में उन्हें परिवार सहित अपने चाचा सुब्ब अय्यर के साथ मदुरै में रहने की आवश्यकता पड़ी। मदुरै में उन्हें पहले स्काट मीडिल स्कूल तथा बाद में अमेरिकन मिशन हाईस्कूल में भेजा गया। वेंकटरामन ने बचपन से ही अपनी अन्तः स्फुर्णा से अनुभव किया कि अरुणाचल कुछ महान, रहस्यमय एवं पहुँच से बाहर है। उनकी आयु के सोलहवें वर्ष में एक वृद्ध रिश्तेदार उनके घर मदुरै पहुँचे। वेंकटरामन ने उनसे पूछा कि वे कहाँ से आये हैं। 'अरुणाचल से', रिश्तेदार का उत्तर था। अरुणाचल के नाम मात्र से वेंकटरामन रोमांचित हो गये तथा अपनी उत्तेजना में उन्होंने कहा "क्या? अरुणाचल से! यह कहाँ है?" उनको उत्तर मिला कि तिरुवण्णामलै ही अरुणाचल है। उस घटना का वर्णन बाद में ऋषि अपनी रचना अरुणाचल स्तुति में करते हैं।

वेंकटरामन के ध्यान को अरुणाचल पर आकर्षित करने की इस घटना के शीघ्र बाद एक दूसरी घटना घटी, जिसने उनकी आध्यात्मिक उत्कंठा को तीव्र किया। उन्हें पेरिय पुराण की तमिल पुस्तक देखने को मिली जो प्रसिद्ध 63 शैव संतों के जीवन का वर्णन करती है। पुस्तक पढ़ते ही वह रोमांचित हो उठे। संतो के उदाहरण ने उन्हें रोमांचित किया तथा उनके हृदय को स्पर्श किया। 16 वर्ष की किशोर आयु में महर्षि ने मृत्यु के अनुभव मे सहज आत्म–विचार द्वारा आत्म–ज्ञान की प्राप्ति के बाद घर छोड़कर अरुणाचल में एक साधु का जीवन अपनाया तथा वहीं वे जीवन पर्यन्त रहे।

14 अप्रैल 1950 की रात्रि को आठ बजकर सैंतालिस मिनट पर जब महर्षि रमण महाप्रयाण को प्राप्त हुए, उनकी महासमाधि के समय आकाश में एक तीव्र ज्योति का तारा उदय हुआ एवं अरुणाचल की दिशा में अदृश्य हो गया।

आध्यात्मिक जगत् के सूर्य सम्पूर्ण विश्व में सुविख्यात एवं आध्यात्मिक पथिकों के मार्गदर्शक श्री रमण महर्षि के अनुयायी तथा उनके शिक्षाओं से अनुप्राणित डॉ. गौतम कलोत्रा, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा इस व्याख्यानमाला का प्रवर्तन किया गया है। इस हेतु डॉ. कलोत्रा द्वारा परिषद् को रूपये 50000/– की राशि स्थाई निधि के रूप में प्रदान की गई है तथा अपेक्षा की गई है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में अद्वैत वेदान्त तथा श्री रमण महर्षि के विचारों पर व्याख्यान आयोजित किया जाय।

स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला

मध्य प्रदेश राज्य जिला सीधी ग्राम चुरहट के निवासी धर्म विजयी राव साहब चुरहट श्री शिव बहादुर सिंह एवं श्रीमती सरस्वती देवी के ज्येष्ठ पुत्र श्री रणबहादुर सिंह का जन्म 21 दिसम्बर 1928 ई. को हुआ था। आपका बचपन से ही अध्यात्म की तरफ झुकाव स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। ग्राम सरपंच और सीधी लोकसभा क्षेत्र के लोकप्रिय निर्दलीय सांसद सहित अनेक रूपों में आप समाज सेवा करते हुए अपने आध्यात्मिक जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करते रहे। आपके प्रयास से रीवा नगर से 12 किलोमीटर दूर लक्ष्मणपुर लौआ ग्राम में स्वामी चिन्मयानन्द जी ने सन् 1983 ई. में एक वानप्रस्थ आश्रम की स्थापना की, जिसमें 60 वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति आकर आध्यात्मिक वातावरण का लाभ लेते हुए जीवन यापन कर सकता है। स्वयं राव साहब रणबहादुर सिंह जी 60 वर्ष की आयु पूर्ण कर समस्त सुख एवं वैभव को त्यागकर अपनी धर्मपत्नी सहित आश्रम के एक कुटिया में वानप्रस्थी के रूप में आकर रहने लगे। लगभग 12 वर्षों तक एक कुटिया में साथ रहने के पश्चात् विधाता की लेखनी के अनुसार सन् 1999 में आपकी लक्ष्मी स्वरूपा धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा कुमारी जी का स्वर्गवास हो गया। वस्तुतः राव साहब श्री रणबहादुर सिंह जी का जीवन पूर्व में ही सन्यस्त हो चुका था, किन्तु धर्मशास्त्रीय मान्यतानुसार संन्यासी को विधिवत् दीक्षा लेकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए। एतदर्थ चिन्मय मिशन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रमुख पूज्य स्वामी तेजोमयानन्द जी ने महाशिवरात्रि पर्व के दिन सन् 2003 ई. को वानप्रस्थ रणबहादुर सिंह जी को वैदिक मंत्रोच्चार तथा धार्मिक विधि से संन्यास की दीक्षा दी। तत्पश्चात् श्री रणबहादुर सिंह जी का नामकरण स्वामी प्रशान्तानन्द जी के रूप में हुआ। लोककल्याण और लोग संग्रह का पर्याय रूप पूज्य स्वामी प्रशान्तानन्द जी का जीवन हम सभी के लिए सदैव प्रेरणास्रोत रहेगा।

परम पिता परमेश्वर एवं पूज्य स्वामी प्रशान्तानन्द जी की कृपा से दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) में "स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला" की स्थापना हेतु स्थायी निधि के रूप में रूपये 50,000/– (पचास हजार) मात्र परिषद् के खाता में जमा करा दिया गया है। चूँकि स्वामी जी जीवन पर्यन्त वेदान्त की, विशेषकर अद्वैत वेदान्त की, युवा वर्ग के जीवन में उपयोगिता को लक्ष्य कर अपना संदेश देते रहे, इसलिए परिषद् से मेरा आग्रह है कि व्याख्यान मुख्यतः युवावर्ग में वेदान्त की उपयोगिता पर केन्द्रित हो।

यद्यपि प्रत्येक कार्य का वास्तविक प्रवर्तक अथवा कर्ता तो परमात्मा ही होता है किन्तु वह कार्य विशेष के लिए निमित्त अवश्य बनता है। बहुत विनम्रता पूर्वक यह आग्रह है कि इस व्याख्यानमाला का प्रवर्तन प्रो. श्रीकान्त मिश्र, अध्यक्ष दर्शन विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा (म.प्र.) तथा वर्तमान सचिव, दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) द्वारा किया जा रहा है।

स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव स्मृति योग व्याख्यानमाला

स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव जी का जन्म शरद पूर्णिमा को सन् 1870 मंदरासार गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री तारणीचरण गंगोपाध्याय एवं माता का नाम श्रीमती नवदुर्गा देवी था। यद्यपि बचपन का नाम विप्रदेव शर्मा था, परन्तु बाद में काली किशोर शर्मा हो गया। आप साधरण गृहस्थ थे तथा मात्र सात रुपये महिने में किसी जमींदार के बच्चों को पढ़ाते थे। बचपन से ही परमहंस श्री रामकृष्ण जी महाराज की फोटो के सामने बैठकर ध्यान करना एवं आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ना आपको बहुत प्रिय था। धीरे–धीरे जब तीव्र वैराग्य का उदय हुआ तो गृहस्थी त्यागकर आप गुरु की खोज में काशी के लिए निकल पड़े। रास्ते में ही दिव्य स्वप्न हुआ कि पुरी जाओ और गुरु से मिलो। काशी यात्रा छोड़ आप पुरी के लिए चल पड़े। पुरी पहुँचकर खोज करते हुए स्वामी गंगाधर तीर्थ जी महाराज से मिले। गंगाधर तीर्थ जी द्वारा पूछने पर अपने परिवार के सम्बन्ध में मिथ्या भाषण करते हुए स्वयं को अकेला बतलाया तथा उनसे संन्यास एवं शक्तिपात दोनों की दीक्षा प्राप्त कर स्वामी श्री नारायण देव तीर्थ नाम से संन्यस्त हो गये।

एक दिन गुरु जी ध्यान में उनके पारिवारिक स्थिति को देखकर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्हें लताड़ लगाते हुए कहा कि "जाओ, तुम्हारी क्रियाएँ बन्द हो जाएँ, जैसे थे वैसे ही हो जाओ।" ग्लानिवश नारायण तीर्थ जी ने समुद्र के किनारे बैठकर अन्न, जल त्यागते हुए शरीर त्यागने की ठान ली। उनके हठ को देखकर गुरु जी ने बुलाया और कहा कि "ऐसी प्रतिज्ञा क्यों कर डाली।" नतमस्तक दशा में नारायण तीर्थ जी ने कहा कि आपकी कृपा पाने को यह प्रतिज्ञा की थी, अन्यथा आप मुझे वापस भेज देते। गुरु जी ने कहा कि "मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता। कलिकाल में एक युग 12 वर्ष का होता है, अतः 12 वर्ष बाद मेरी दी हुई दीक्षा शक्ति पुनः क्रियावती होगी एवं तुम्हारे सकल मनोरथ सिद्ध करेगी। तुम पर भगवान की बहुत कृपा है। वापस जाकर गृहस्थ धर्म का पालन करो।" तब स्वामी श्री नारायण तीर्थ जी ने पूछा कि 12 वर्ष बाद आप कहाँ मिलेंगे? गुरु जी ने कहा कि "अब मिलने की आवश्यकता नहीं है, 12 वर्ष बाद स्वयं क्रियाएँ होने लगेंगी।"

गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर स्वामी नारायण तीर्थ जी वापस आए और विनोटिया में काली मंदिर के पास एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे तथा गुरु प्रदत्त मंत्र का जाप एवं साधना करने लगे। एक दिन अपनी बहन के साथ झोपड़ी में बैठे थे कि मुर्च्छा आ गई और बहन की

गोद में गिर पड़े। जब मुर्च्छा टूटी तो अनेक क्रियाएँ अपने आप होने लगीं। तत्पश्चात् आप जीवन पर्यन्त विनौटिया में ही रहे, जहाँ 1935 में इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु, परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज, इनके गुरु पूज्य श्री स्वामी शंकर पुरषोत्तम तीर्थ जी महाराज तथा स्वामी पुरुषोत्तम तीर्थ जी के गुरु स्वामी नारायण तीर्थ देव जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि योग विज्ञान की उपादेयता को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ नीति दर्शन व्याख्यानमाला

श्री प्रसन्न कुमार चट्टोपाध्याय एवं श्रीमती दुर्गा सुंदरी चट्टोपाध्याय नामक दम्पति के घर स्वामी शंकर पुरुषोत्तम जी का जन्म वैशाख शुक्ल षष्ठी सोमवार संवत् 1811 (सन् 1890) में जिला लक्ष्मीपुर, त्रिपुरा में हुआ था। स्वामी जी के बचपन का नाम रोहिणी कुमार चट्टोपाध्याय था। बचपन में ही माँ काली की पूजा करते समय आप ध्यान मग्न हो गये थे और समाधि में चले गए थे। इस अवस्था का अनुभव करने के पश्चात् आपने संसारी जीवन में प्रवेश न कर आजीवन बाल ब्रह्मचारी रहने का निर्णय किया और वैसा ही जीवन व्यतीत किया।

बाल्यावस्था के पश्चात् गुरु की खोज में महात्माओं की संगति हुई और यह बोध हुआ कि श्री रामकृष्ण परमहंस का पूजन व निवेदन कर कृपा प्राप्त करने पर गुरु की प्राप्ति अवश्य होगी। किशोर रोहिणी ने श्री रामकृष्ण परमहंस का चिन्तन व आराधना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन तन्द्रा में उन्हें लम्बे कद, लम्बी दाढ़ी एवं सांवले रंग के श्री रामकृष्ण जी का दर्शन हुआ। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् रोहिणी कुमार चट्टोपाध्याय बिनौटिया जिला फरीदपुर में निवासरत एक प्रतापी संत हैं। रोहिणी संत से मिलने पहुँच गए। ये संत वही थे जिन्होंने सपने में उन्हें दर्शन दिया था। इनका नाम था स्वामी नारायण तीर्थ देव जी महाराज।

रोहिणी ने स्वामी नारायण तीर्थ जी को अपना गुरु मानकर उनसे शिक्षा प्राप्त करते हुए उनकी सेवा में तत्पर हो गए। सन् 1910 मार्ग शीर्ष संक्रान्ति में गुरु द्वारा शक्तिपात की शिक्षा दी गई तथा शिवमंत्र, शक्तिमंत्र एवं गुरुमंत्र कान में बतला दिया गया। अक्षय तृतीया को ब्रह्मचर्य की दीक्षा देकर ब्रह्मचारी आत्मानन्द प्रकाश नाम प्रदत्त किया। इनका अध्यात्मानुराग, संसार से

विरक्ति, गुरु प्राप्ति का लगन, ब्रह्मचर्य एवं गुरु सेवा अनुकरणीय है। गुरु परिवार, अतिथि एवं आश्रम की सुव्यवस्था आदि को आप गुरु सेवा ही समझते थे। आठ वर्ष तक गुरु के सान्निध्य में रहकर साधना करने के पश्चात् गुरुपद एवं दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त कर आश्रम से जाने की अनुमति प्राप्त हुई। सन् 1926 में गोवर्धन पीठ पुरी के शंकराचार्य श्री स्वामी

भारती कृष्ण जी महाराज से दीक्षा प्राप्त हुई तथा पीठ के उत्तराधिकारी पद के अधिकारी बने। सन्यास दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपका नामकरण स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज के रूप में हुआ।

1931 ई. में स्वामी जी ने उत्तरकाशी में आश्रम स्थापित किया। 1932 ई. में वाराणसी में आपके द्वारा शंकरमठ की स्थापना हुई, जहाँ पर श्री काली जी ने दर्शन दिया। यहीं पर स्वामी जी ने सिद्धयोग–साधन–संस्थान की भी स्थापना की।

स्वामी जी आजीवन लोकसंग्रह के कार्यों में संलग्न रहते हुए दिनांक 28.09.1958 को इस नश्वर शरीर का वाराणसी में परित्याग किया, जिसे मणिकर्णिका घाट में जल समाधि दी गई।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज तथा इनके गुरु पूज्य श्री स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,150/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि भारतीय दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज योग व्याख्यानमाला

काठियावाड़– जूनागढ़ राज्य के विरावल प्रभास पट्टन् के ब्राह्मण परिवार में जन्मे 108 श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी के बचपन का नाम दयाशंकर था। आपके पिता श्री शंकरलाल अवदीच्य तथा माता श्रीमती महादेवी जी ने प्रारम्भिक शिक्षा हेतु पास के पाठशाला में भेजा, जहाँ आपने गुजराती, हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। बचपन से ही साधुओं की सेवा, सत्संग तथा शिवालयों व मंदिरों में जाकर घंटो ध्यान करना बालक दयाशंकर के आध्यात्मिक स्वभाव का परिचायक था। शनैः शनैः माता–पिता व अध्यापकों के मार्गदर्शन में बालक बड़ा होता रहा। किन्तु एक दिन अचानक पिता का देवलोकगमन हो गया, जिसके कारण दयाशंकर की पढ़ाई बंद हो गयी। अब दयाशंकर अपने बड़े भाई के साथ गृहकार्य में संलग्न हो गए। परन्तु पर्याप्त आय न होने के कारण चाचा के साथ बम्बई आ गए और उनके साथ दुकानदारी करने लगे, किन्तु सत्यनिष्ठा आड़े आने के कारण दयाशंकर गृहग्राम वापस आ गए।

दयाशंकर का जन्म उसी प्रभास क्षेत्र में हुआ था, जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपनी लीला संवरण की थी। उस क्षेत्र में गोमती नदी के किनारे एक मठ था, जिसका मठाधीश स्वामी श्री 108 श्री त्रिविक्रम स्वामी जी महाराज थे। सन् 1909 में युवा दयाशंकर जी भी गृहत्याग कर इसी मठ में आ गए और स्वामी श्री त्रिविक्रम जी के सान्निध्य में निवास करते हुए सेवाकार्य में लग

गए। एकबार श्री त्रिविक्रम जी ने दयाशंकर को कहा कि बिखरे हुए शिवलिंगों को गोमती में प्रवाहित कर दो, जिसका अनुपालन करते हुए दयाशंकर ने उन शिवलिंगों को गोमती में प्रवाहित कर दिया, जबकि अन्य शिष्य गुरु के इस आदेश की अवहेलना कर जाते थे। दयाशंकर की निष्ठा देखकर श्री त्रिविक्रम जी ने उन्हें "बड़ा सिद्ध योगी" बनने का आशीर्वाद देते हुए उनकी रूचि पूछा। दयाशंकर ने उनसे योग सीखने की याचना की श्री त्रिविक्रम जी के आदेश से सन् 1911 में श्री आत्मानन्द सरस्वती जी से हठयोग की शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ किया। थोड़े दिन में ही विभिन्न दुरुह आसन एवं प्राणायाम में सिद्ध होकर आप अन्य योग गुरूओं से भी योग की शिक्षा प्राप्त करते रहे। वस्तुतः इनके आध्यात्मिक जीवन में अनेक साधुओं व महात्माओं का साथ हुआ और सभी से आपने कुछ–न–कुछ सीखा। किन्तु 1913 में मिले बाबा श्री कृष्णानन्द का साथ मिलने पर दयाशंकर ने इन्हें अपना गुरु मान लिया। जिनके साथ हरिद्वार, ऋषिकेश आदि स्थानों में विचरण करते हुए बाबा श्री कृष्णानन्द जी उन्हें लेकर 1918 में स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव जी महाराज फरीदपुर जिले के दासेर जंगल के पास विनोटिया ग्राम पहुँचे, जहाँ नारायण तीर्थदेव जी ने शक्तिपात कर इन्हें पूर्ण योगी बनाया। तत्पश्चात् गुरु पद भी प्राप्त हुआ। अब इनका नामकरण 108 श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज के रूप में हुआ। जीवन पर्यन्त योग का प्रचार–प्रसार करते हुए तथा समाज सेवा करते हुए आपने "महायोग विज्ञान" नामक एक ग्रन्थ की भी रचना की। सन् 1934 में स्वामी श्री कृष्णानन्द जी से बिछोह हुआ, तत्पश्चात् 26 जून 1936 को आपने इस नाश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज तथा इनके योग गुरु स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि योग के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी श्री विष्णुतीर्थ स्मृति वेदान्त व्याख्यानमाला

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज का जन्म हरियाणा के जजर तहसील में तिथि विजयादशमी को ब्रह्म मुहूर्त में हुआ था। आपके पिता जी रेलवे में स्टेशन मास्टर थे। आप अपने पिता जी के साथ रायपुर, जबलपुर आदि जगहों पर रहते हुए बी.ए., एम.ए. (गणित) तथा एल एल. बी. तक की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त कुछ दिनों तक वकालत किए व स्वतंत्रता संग्राम आन्दोलन में भी भाग लिए। तत्पश्चात् शिक्षा विभाग में सहायक हेडमास्टर रहे। अपनी धर्मपत्नी के देहावसान के पश्चात् स्वामी श्री योगानन्द जी महाराज, ऋषिकेश से योग की दीक्षा प्राप्त कर चार वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। इसके बाद वाराणसी के स्वामी श्री पुरुषोत्तम

तीर्थ जी महाराज से संन्यास की दीक्षा प्राप्त कर परिव्राजक रहे और भारत भ्रमण करते रहे। आपने सन् 1948 से मध्यप्रदेश के देवास जिले की नारायणकुटी में जीवन पर्यन्त निवास किया और 1969 में समाधि ली।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने दादा गुरु प्रातः स्मरणीय परम स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,100/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यानमाला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि वेदान्त दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्व. हजारी लाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला

स्व. हजारी लाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला का प्रवर्तन स्व. हजारी लाल चौरसिया के पौत्र डॉ. संदीप कुमार चौरसिया, दार्शनिक परामर्शदाता एवं योग विशेषज्ञ, लखनऊ एवं पौत्रवधु डॉ. रेनू चौधरी, सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद पी.जी. डिग्री कॉलेज, प्रयागराज (अंगीकृत इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज) के द्वारा किया गया है। इस हेतु चौरसिया दम्पति द्वारा रूपये 50000/ हजार की धनराशि दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को प्रदान किया गया है।

स्व. हजारी लाल चौरसिया एक महान शिव भक्त थे। उनका जन्म 15 अगस्त 1923 में ग्राम बधुवामऊ, तहसील संडीला, जिला हरदोई, उ.प्र. एवं देहावसान 25 दिसम्बर 1999 को संडीला, हरदोई, उ.प्र. में हुआ था। आप गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर के नाथ पंथ एवं संत परम्परा से जुड़े थे। सादगी एवं सरल स्वभाव के धनी हजारीलाल जी निरंतर शिव नाम का जाप किया करते थे। आपको संत महात्माओं की संगति करना एवं दान करना अत्यधिक प्रिय था। योग शिक्षा एवं दर्शन के प्रति उनका समर्पण परिजन के लिए सदैव प्रेरणा स्रोत रहा। आपके चार पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र डॉ. शिवकुमार चौरसिया के सुपुत्र डॉ. संदीप कुमार चौरसिया पर आपके जीवन का विशेष प्रभाव पड़ा। परिणाम स्वरूप डॉ. संदीप कुमार चौरसिया द्वारा नाथ परम्परा के दर्शन और योग पर आधारित "हठयोग प्रदीपिका का दार्शनिक विवेचन" विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन एवं योग के प्रचार–प्रसार हेतु अनवरत प्रयास किया जा रहा है।

चौरसिया दम्पति का आग्रह है कि उक्त व्याख्यानमाला में व्याख्यान का विषय सामान्यतः नाथ परम्परा एवं योग से सम्बन्धित ही रहे।

स्व. श्री श्याम सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला

स्वर्गीय श्री श्याम सिंह नेगी का जन्म उत्तर प्रदेश से पृथक् हुए देवभूमि कहे जाने वाले नए राज्य उत्तराखंड के पौड़ी गढ़वाल जिले के लैंसडाउन में अनुमानित 1907 में हुआ और अवसान दिनांक 5 दिसंबर 2009 में सागर मध्यप्रदेश में हुआ।

प्राकृतिक सौंदर्य से भरी पहाड़ी जमीन फल फूलों से भरपूर है, परंतु मशीन की कमी लोगों को पारिवारिक पोषण के लिए मैदान में उतरने को विवश कर देती है। आठवीं पास करने के बाद अपने छोटे भाई का हाथ पकड़, एक अंग्रेज अधिकारी के प्रभाव में पुलिस मे भर्ती होने के लिए छोटे नागपुर आ गए। छोटे भाई ने नागपुर और उन्होंने छिंदवाड़ा से अपनी नौकरी की शुरुआत की। 45 वर्षों की सेवा के पश्चात् वे सागर के पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय के विधि विभाग से विधि के शिक्षक के रूप में सेवानिवृत्त हुए। गुलामी से आजादी की ओर संक्रमण की दास्तान, आर्थिक विपन्नता की पारिवारिक पृष्ठभूमि और उतार–चढ़ाव से भरे हुए जीवन के बावजूद शिक्षा के प्रति उनकी रुचि इतनी गहरी थी कि वह पहाड़ से अपने रिश्तेदारों के बच्चों को बुलाकर उनके अध्ययन का खर्च स्वयं वहन करते थे। अपने कार्यकाल के दौरान विस्तृत जनसंपर्क के कारण उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत और मराठी में संभाषण की रोचक शैली विकसित कर ली थी।

जिस समय उत्तर भारत में स्वामी दयानंद की शिक्षाओं का व्यापक जन प्रसार हो रहा था, तब वे भी स्वामी दयानंद के विचारों से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सके। सागर की पुलिस ट्रेनिंग कॉलेज में मध्य प्रदेश कैडर के प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण देते हुए भी, वे सुबह शाम आर्य समाज मंदिर के लिए समय निकाल लेते थे। 15 मई 1965 ई. को जब वे सेवा निवृत्त हुए तब उन्होने सागर जिले के आर्य समाज मंदिर के प्रधान पद को सुशोभित किया और राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब और महाराष्ट्र के आर्य समाजी शिविरों में अपने उदबोधन से लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

वैदिक ज्ञान के प्रति उनकी अगाध निष्ठा के स्मृति स्वरूप श्याम सिंह नेगी जी के सुपुत्र प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर एवं दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) ने अपने पिता के नाम से इस वैदिक व्याख्यान माला का प्रवर्तन किया है। इस हेतु प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी जी ने परिषद् को रुपये 50000/ मात्र स्थाई निधि के रूप में प्रदान किया है।

श्रीकीर्तियोग व्याख्यानमाला

श्रीकीर्तियोग व्याख्यानमाला का प्रवर्तन हमारे परिषद् के संस्थापक सदस्यों में से एक आदरणीया मैडम छाया राय, पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर द्वारा अपने पिता श्री कीर्तिभानु राय एवं माता जी 'श्री' के स्मृति में किया गया है तथा अपेक्षा की गयी है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में योग से सम्बन्धित विषय पर व्याख्यान आयोजित

किया जाय। इस हेतु प्रो. राय ने स्थाई निधि के रूप में रुपये 50000/ परिषद् को प्रदान किए हैं। इस व्याख्यानमाला का परिचय जिस प्रकार प्रो. छाया राय जी ने मुझे भेजा था, जस का तस आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है–

मैंने यह व्याख्यान माला अपने माँ–बाबू जी की स्मृति में उन्हें श्रद्धा–सुमन अर्पित करने हेतु प्रारम्भ की है, क्योंकि मेरे व्यक्तित्व–निर्माण में उनका योगदान अविस्मरणीय है। उनसे ही मुझे सृजनात्मक चिन्तन, सद्भावनाओं के पोषण और सत्कर्म करने की शिक्षा मिली।

विश्वविख्यात पुरातत्त्ववेत्ता राय बहादुर डॉ. हीरालाल जी ने अपने इन्कम टैक्स कमिश्नर भाई के चार पुत्रों में से एक को डॉक्टर, दूसरे को वकील, तीसरे को इन्जीनियर बनाया, पर पिता जी को हवेली व जंगल सहित बन्धा गाँव खरीदकर प्रोत्साहित किया। इस गाँव का नाम ब्रिटिश शासन ने दादा जी के सम्मान में "हीरापुर (बंधा)" रखा। हीरापुर बन्धा के मालगुजार रहते हुए पिता जी ने ब्रिटिशकालीन मालगुजारों की तरह गरीबों का शोषण न करते हुए, ग्रामवासियों के हित में कार्य किया। उदाहरणार्थ सामाजिक ऊँच–नीच का भेद न करते हुए सभी एक ही कुँए से पानी पियेंगे। दादी द्वारा स्थापित शिव मन्दिर में ऊँच–नीच का भेद न करते हुए सभी पुजन–अर्चन करेंगे। आज भी हमारी पीढ़ी–दर–पीढ़ी गाँव के मन्दिर में नियुक्त पुजारी की उपस्थिति में पूजनादि करती आ रही है।

गाँव की लडकियों को अपनी ही पुत्रियाँ मानकर उनके विवाह पर भोजन, आवास की व्यवस्था करना पिताजी का स्वभाव था, जो मेरे कार्यशैली का हिस्सा बना। मुझे सर्वाधिक प्रभावित पिता जी की विभिन्न विद्याओं के अध्ययन की आदत ने किया। प्राकृतिक चिकित्सा, औषधि विज्ञान, घरेलू चिकित्सा आदि ग्रन्थ आज भी मेरे ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं। हमारे पैतृक आवास "रायवाड़ा" कटनी में जब राय ग्रन्थालय की स्थापना हुई, तब उसका दायित्व पिता जी ने ही निभाया। आज उक्त ग्रन्थालय की पुस्तकें सागर विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय में संरक्षित हैं।

माँ का नाम दादा जी ने विवाहोपरान्त 'श्री' रखा व मान–सम्मान दिया। माँ संयुक्त परिवार की समस्त जिम्मेदारियों का निर्वाह शान्त चित्त से करती थी। उत्तरदायित्व निर्वाह की यह आदत मेरे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई। एक ही धुन है भारत को अन्तराष्ट्रीय स्तर पर विश्वगुरु सिद्ध करना।

अंत में इतना ही अनुरोध है कि भारतीय होने के नाते हम सब का दायित्व है कि भारतीय जीवन शैली अपनाएँ, जो आध्यात्मिक तो है ही, वैज्ञानिक भी है। पीढ़ियों के अवदान को न भूलें।

स्व. प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला

प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी का जन्म 08 मई, 1946 को मध्यप्रदेश के सिवनी अंचल, छपारा में हुआ। इन्होंने श्री श्याम सिंह नेगी और श्रीमती श्यामा देवी की पाँचवी संतान और प्रथम पुत्ररत्न के रूप में जन्म लिया। चार कन्याओं के बाद जन्म लेने के कारण जहाँ ये अपनी माताजी को

प्राणों से भी अधिक प्रिय थे, वहीं अपने थानेदार पिता के अनुशासन के प्रथम भागी भी बने। इनकी प्रारंभिक शिक्षा जबलपुर में हुई और उन्हीं दिनों ओशो रजनीश के संपर्क में आकर इन्हे दर्शन को पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई। सागर विश्वविद्यालय से आपने स्नातक 1965 में, स्नातकोत्तर 1967 में एवं पीएच. डी. की उपधि 1973 में प्राप्त की। अपनी दर्शन दीक्षा को अकादमिक स्वरूप प्रदान करते हुये, इन्होंने एस एन कॉलेज खंडवा में 1974 से 1976 तक शिक्षण–कार्य करके अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत की। प्रो. नेगी 1976 में पुनः तदर्थ व्याख्याता के रूप में सागर विश्वविद्यालय लौटे और यहाँ पर उन्होंने प्रो. एस.एस. राय द्वारा संस्थापित एवं प्रो. रासबिहारी दास, प्रो. श्री कृष्ण सक्सेना, प्रो. दयाकृष्ण आदि के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित दर्शन–विभाग को क्रमशः व्याख्याता, उपाचार्य, आचार्य और विभागाध्यक्ष के रूप में 2008 तक पल्लवित और पोषित किया। दर्शन–विभाग के अतिरिक्त प्रो. नेगी संकाय–अध्यक्ष, कार्यकारिणी सदस्य एवं अनेकशः प्रभारी कुलपति के रूप में डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय को अपनी कारुणिक ऊर्जा से संवारते रहे। मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ दर्शन परिषद् को तो इसकी स्थापना से लेकर अंतिम समय तक प्रो. नेगी का स्नेह प्राप्त होता रहा है, साथ–ही–साथ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में भी वे अपने पूरे मन से आजीवन सक्रिय रहे।

अनेक पुस्तकों और अनेकों शोध–पत्रों का प्रकाशन प्रो. नेगी के नाम है, जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन उनकी पुस्तकों में से "महाभारत : समाज संस्कृति दर्शन" एवं "न्याय वैशेषिक दर्शन", तथा सम्पादित पुस्तकों में से "भारतीय दर्शन", एवं समेकित दार्शनिक विमर्श आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रतिपादित विचारों से आगामी दार्शनिक पीढ़ी अनुप्राणित रहेगी। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग का एक और महत कार्य "भारतीय दर्शन बृहद कोश" है, जो भारतीय दर्शन का अब तक का सबसे प्रामाणिक और सबसे बड़ा कोश है। इस कोश के निर्माण में भी प्रो. अर्जुन मिश्र एवं महामहोपाध्याय बच्चू लाल अवस्थी जी के अनन्य सहयोगी के रूप में प्रो. नेगी ने अपनी भूमिका का निर्वहन किया है।

सागर विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त प्रो. नेगी जीवन पर्यन्त दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के अध्यक्ष के दायित्व का सफलता पूर्वक निर्वहन किया। इस दायित्व अवधि के दौरान ही दिनांक 08 मई 2021 को अचानक प्रो. नेगी के स्वर्गवास का समाचार दर्शन जगत् के लिए स्तब्धकारी था। होनी के आगे सब विवश थे। प्रो. नेगी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पूर्व विद्यार्थियों, सहृदयी मित्रों व परिजन ने मिलकर उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए "स्व. प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी व्याख्यानमाला" हेतु स्थायी निधि के रूप में रूपये 50,000/–परिषद् को इस आशय के साथ प्रदान किये कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में स्वतंत्र दार्शनिक विषय पर व्याख्यान आयोजित किये जाएँ।

मालती देवी–पून्नी लाल पटेल स्मृति पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला

ब्रम्हलीन श्रीमती मालती देवी एवं श्री पून्नी लाल पटेल की स्मृति में संयुक्त रूप से प्रो. भूपेन्द्र पटेल (अंग्रेजी विभाग), प्राचार्य, नवीन शासकीय महाविद्यालय, नवागढ़, जिला जांजगीर – चांपा, छत्तीसगढ़ तथा डॉ. श्रीमती त्रिवेणी पटेल (राजनीतिशास्त्र विभाग), प्राचार्य, संस्कृति महाविद्यालय, मेऊ (पामगढ़), जिला जांजगीर – चांपा, छत्तीसगढ़ द्वारा पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला हेतु रूपये 50000 मात्र दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) को समर्पित किया गया है।

स्व. पुन्नी लाल पटेल अविभाजित सी.पी. एण्ड बरार तथा मध्यप्रदेश राज्य में प्राविंशियल फारेस्ट सर्विस में कार्यरत थे। मूलतः छत्तीसगढ़ के रायगढ़ जिला के अंतर्गत खरसिया तहसील के ग्राम ढिमानी में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता श्री बालकराम पटेल प्रगतिशील कृषक थे तथा बच्चों की शिक्षा दीक्षा के प्रति जागरूक थे। स्टेट नटवर हाई स्कूल रायगढ़ में अध्ययन के दौरान स्व. पटेल फुटबाल के राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी थे। इनका जन्म 26 नवम्बर 1920 तथा देहावसान 20 फरवरी 1973 को कांकेर बस्तर में अतिरिक्त सहायक वन संरक्षक के रूप में अपनी शासकीय सेवा के दौरान हुआ। सेवा काल के दौरान ये पर्यावरण संरक्षण, जैवविविध ाता संरक्षण के प्रति अत्यंत जागरूक थे तथा जहां भी इन्होंने कार्य किया– लाखों की संख्या में अपना निजी कार्य समझकर वृहद् शासकीय एवं सामाजिक पौध रोपण कराया, जिसे करगी रोड, कोटा, गौरेला, मरवाही, पेन्ड्रा, धरमजय, गढ़, जनकपुर, सरगुजा, वाड्रफ नगर, रामानुजगंज, बलरामपुर, कांकेर, केशकाल, बड़े डोंगर, छोटेडोंगर, बस्तर के जंगलों में आज भी देखा जा सकता है। सेवाकाल के दौरान ब्रिटिश रूल होने के कारण ये राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत थे। स्वतंत्रता के पूर्व एक बार इन्हें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की ट्रेन यात्रा के दौरान साथ–साथ यात्रा का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। कालांतर में कन्याकुमारी में बन रहे स्वामी विवेकानंद रॉक मेमोरियल के निर्माण के दौरान इन्होंने अभियान के रूप में जनसामान्य से चंदा एकत्रित करते हुए स्वयं अपनी ओर से भी आर्थिक सहयोग किया था।

श्रीमती मालती देवी पटेल उनकी सहधर्मिणी थी। इनका अवतरण वर्ष 1934 तथा महाप्रयाण दिनांक 03.02.2002 में हुआ था। अपने पति के हर रचनात्मक कार्य में उनका हर संभव सहयोग, प्रेरणा एवं संबल था। शिक्षा के प्रति जागरूक होने के कारण इन्होंने अपने सभी पुत्र पुत्रियों का स्तरीय लालन पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्रदान किया।

स्व. झाडूराम मरावी श्रीरामचरितमानस व्याख्यानमाला

श्री झाडूराम मरावी का जन्म छत्तीसगढ़ के केंदा जमींदारी के अंतर्गत ग्राम सरईपाली जिला बिलासपुर में सन् 1938 में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री घासीराम मरावी था जो जमींदारी व्यवस्था के अन्तर्गत मुकद्दम थे। श्री झाडूराम मरावी जी की प्राथमिक शिक्षा जमींदार साहब के देखरेख में हुई। ये बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उस जमाने में केंदा

संगीत और साहित्य का गढ़ माना जाता था। यहाँ विशेष पर्वों में देश के जाने–माने संगीतज्ञ आया करते थे। साथ ही परमपूज्य स्वामी श्री सदानन्द जी, परमहंस अद्वैत आश्रम, बेलगहना, बिलासपुर का भी पिता जी पर अमिट प्रभाव पड़ा था। इसके अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में रामचरित मानस का प्रचार–प्रसार ने भी उन्हें खूब प्रभावित किया। इस प्रकार रामचरितमानस से उनका प्रेम था। उन्हीं की प्रेरणा से मुझे हिन्दी और दर्शनशास्त्र में एम.ए. करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसीलिए मैंने (डॉ. डी. एस. मरावी) सोचा कि पूज्य पिता श्री की स्मृति में 'रामचरित मानस' पर एक व्याख्यानमाला दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) में प्रारंभ की जाय।

प्रस्तुत व्याख्यानमाला हेतु डॉ. डी. एस. मरावी, प्राध्यापक, ठाकुर छेदीलाल महाविद्यालय, चाँपा, छत्तीसगढ़ ने परिषद् को स्थाई निधि के रूप में रुपये 50000 (पचास हजार रुपये) मात्र प्रदान कर अपेक्षा की है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में श्री रामचरित मानस पर केन्द्रित व्याख्यान आयोजित किया जाय।

स्व. प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार

प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी का जन्म 08 मई, 1946 को मध्यप्रदेश के सिवनी अंचल, छपारा में हुआ। इन्होंने श्री श्याम सिंह नेगी और श्रीमती श्यामा देवी की पाँचवी संतान और प्रथम पुत्ररत्न के रूप में जन्म लिया। चार कन्याओं के बाद जन्म लेने के कारण जहाँ ये अपनी माताजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे, वहीं अपने थानेदार पिता के अनुशासन के प्रथम भागी भी बने। इनकी प्रारंभिक शिक्षा जबलपुर में हुई और उन्हीं दिनों ओशो रजनीश के संपर्क में आकर इन्हें दर्शन को पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई। सागर विश्वविद्यालय से आपने स्नातक 1965 में, स्नातकोत्तर 1967 में एवं पी–एच. डी. की उपधि 19,3 में प्राप्त की। अपनी दर्शन दीक्षा को अकादमिक स्वरूप प्रदान करते हुये, इन्होंने एस एन कॉलेज खंडवा में 1974 से 1976 तक शिक्षण–कार्य करके अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत की। प्रो. नेगी 1976 में पुनः तदर्थ व्याख्याता के रूप में सागर विश्वविद्यालय लौटे, और यहाँ पर उन्होंने प्रो. एस.एस. राय द्वारा संस्थापित एवं प्रो. रासबिहारी दास, प्रो. श्री कृष्ण सक्सेना, प्रो. दयाकृष्ण आदि के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित दर्शन–विभाग को क्रमशः व्याख्याता, उपाचार्य, आचार्य और विभागाध्यक्ष के रूप में 2008 तक पल्लवित और पोषित किया। दर्शन–विभाग के अतिरिक्त प्रो. नेगी संकाय–अध्यक्ष, कार्यकारिणी सदस्य एवं अनेकशः प्रभारी कुलपति के रूप में डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय को अपनी कारुणिक ऊर्जा से संवारते रहे। मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ दर्शन परिषद् को तो इसकी स्थापना से लेकर अंतिम समय तक प्रो. नेगी का स्नेह प्राप्त होता रहा है, साथ–ही–साथ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में भी वे अपने पूरे मन से आजीवन सक्रिय रहे।

अनेक पुस्तकों और शोध–पत्रों का प्रकाशन प्रो. नेगी के नाम है, जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन उनकी पुस्तकों में से "महाभारत : समाज संस्कृति दर्शन" एवं "न्याय

वैशेषिक दर्शन", तथा सम्पादित पुस्तकों में से "भारतीय दर्शन", एवं समेकित दार्शनिक विमर्श आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रतिपादित विचारों से आगामी दार्शनिक पीढ़ी अनुप्राणित रहेगी। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग का एक और महत कार्य "भारतीय दर्शन बृहद कोश" है, जो भारतीय दर्शन का अब तक का सबसे प्रामाणिक और सबसे बड़ा कोश है। इस कोश के निर्माण में भी प्रो. अर्जुन मिश्र एवं महामहोपाध्याय बच्चू लाल अवस्थी जी के अनन्य सहयोगी के रूप में प्रो. नेगी ने अपनी भूमिका का निर्वहन किया है।

सागर विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त प्रो. नेगी जीवन पर्यन्त दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के अध्यक्ष के दायित्व का सफलता पूर्वक निर्वहन किया। इस दायित्व अवधि के दौरान ही दिनांक 08 मई 2021 को अचानक प्रो. नेगी के स्वर्गवास का समाचार दर्शन जगत् के लिए स्तब्धकारी था। होनी के आगे सब विवश थे। प्रो. नेगी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पूर्व विद्यार्थियों, सहृदयी मित्रों व परिजन ने मिलकर उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए "स्व. प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार" हेतु स्थायी निधि के रूप में रूपये 50,501/–परिषद् को इस आशय के साथ प्रदान किये कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनो में स्वतंत्र दार्शनिक विषय पर पार्षदों के प्रकाशित पुस्तक पर इसकी ब्याज राशि से पुरस्कार प्रदान किया जाय।

राय बहादुर डॉ. हीरालाल राय ग्रन्थ पुरस्कार

राय बहादुर डॉ. हीरालाल जी का जन्म 01 अक्टूबर 1867 को मुड़वारा में हुआ था। प्रथम संतति होने के कारण इनके माता–पिता ने उनका लालन–पालन बड़े लाड़–प्यार से किया। हीरालाल जी बचपन से ही तीव्र बुद्धि एवं वाक्पटु थे। आप सदैव अपनी कक्षा में प्रथम रहा करते थे। सन् 1881 में आपने मिडिल स्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उस समय तक कोई विद्यार्थी मुड़वारा स्कूल से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हुआ था, इसलिए स्कूल के सभी छात्रों और अध्यापकों ने मिलकर बड़ा हर्ष मनाया। हीरालाल जी को छात्रवृत्ति भी मिली।

फलतः कई शुभचिंतक सज्जनों ने उन्हें जबलपुर जाकर हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए उनके पिता से आग्रह किया, परन्तु उस समय छुआ–छूत का इतना ख्याल था कि यह बड़ी कठिन समस्या आ पड़ी कि जबलपुर में रसोई का प्रबंध कैसे होगा। अंत में यही निर्णय हुआ कि हीरालाल जबलपुर अध्ययन के लिए जायें, परन्तु अपने हाथ से रसोई बनाया करें। अस्तु हीरालाल को दो–चार दिन में माता द्वारा पाक–शास्त्र की टूटी–फूटी शिक्षा मिली और वे जबलपुर जाकर गवर्मेंट हाई स्कूल में भरती हुए। सभी इनके अध्ययन और व्यवहार से प्रसन्न थे, परन्तु भोजन कला के नव–शिक्षित विद्यार्थी हीरालाल कच्ची–पक्की या जली–भुनी रोटी खाकर अपने पठन में जुटा करते थे। फलतः शीघ्र रोगी होकर घर आना पड़ा। स्वस्थ होने पर फिर जबलपुर पहुँचे, परन्तु अब अच्छी रसोई बनाने पर भी ध्यान रहता था।

दो वर्ष में इंट्रेंस पास करके गवर्मेंट कालेज में भरती हुए। स्वभाव के अच्छे और व्यवहार के सच्चे होने के कारण, साथ ही पढ़ने–लिखने में अत्यंत तीव्र बुद्धि होने के कारण उनके

सहपाठी तथा अध्यापक उनको ह्रदय से चाहने लगे। उनकी योग्यता की धाक समस्त कालेज पर जम गई।

1888 में उन्होंने बी.ए. की डिग्री प्राप्त की। उनके सुन्दर–स्वभाव, कार्य–क्षमता तथा अन्य गुणों के कारण उनके प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, सभी उनसे प्रसन्न रहते थे। इसका फल यह हुआ कि बी.ए. की डिग्री प्राप्त करते ही, गवर्मेन्ट कौलेजिएट हाई स्कूल में एक अध्यापक के पद पर अस्थाई रूप से नियुक्ति हो गई। फिर लगभग 6 मास पश्चात् ही, आप मिडिल स्कूलों और हाईस्कूलों के मास्टरों को "पदार्थ–विज्ञान" पढ़ाने के लिए नियुक्त हुए। उस समय यह विषय पहले ही पहल स्कूलों में प्रचलित हुआ था। औरों को इसे पढ़ाने में बड़ी कठिनाई पड़ती, परन्तु इस कार्य को आपने बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया। अफसर लोग उनसे अत्यन्त संतुष्ट रहे। तत्कालीन इंस्पेक्टर जनरल आफ एज्युकेशन एलेकजैंडर मनरो ने इनकी बड़ी प्रशंसा की।

इन दिनों की एक विशेषता उल्लेखनीय है। वह यह कि जिनको आप पढ़ाया करते थे उनमें कुछ इनके शिक्षक भी रह चुके थे। इन पुराने शिक्षकों को, जो अब उनके शिष्य आ बने थे, वे पहले ही जैसा सम्मान करते थे। एक ने इनसे कहा भी कि अब तो आप गुरु हैं और मैं शिष्य हूँ। अब क्यों मेरे आने पर आप खड़े हो जाते हैं और आदर पूर्वक प्रणाम करते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि जो एक बार मेरा परम पूजनीय गुरु हुआ, वह सदा ही मेरा पूजनीय रहेगा।

इस पद पर रहकर आपने स्थानिक कारीगारों द्वारा सरल वैज्ञानिक यंत्र बनवाने का प्रबल–प्रयत्न किया। जो यंत्र स्थानिक कारीगरों द्वारा नहीं बन सकते थे उन्हें विदेश से मँगाने के बदले पंजाब की वैज्ञानिक संस्था से मँगवा कर उस संस्था को इस कार्य में पूर्ण रूप से उत्साहित किया। केवल इतना ही नहीं, शिक्षा–विभाग के डायरेक्टर से अनुरोध कर यह नियम प्रचलित कर दिया कि विज्ञान की समस्त आवश्यक सामग्री, यथासंभव स्वदेशी संस्थाओं से मँगाई जाये।

इस ग्रन्थ पुरस्कार का प्रवर्तन परिषद् की संस्थापक सदस्य प्रो. छाया राय, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर ने किया है। इस हेतु प्रो. राय ने परिषद् को रुपये 50,000/ की स्थाई निधि प्रदान की है तथा अपेक्षा की है कि इस राशि के ब्याज से प्रतिवर्ष पार्षदों द्वारा प्रकाशित किसी एक श्रेष्ठ ग्रन्थ के लिए यह पुरस्कार प्रदान किया जाय।

स्वर्गीय श्री श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार

स्वर्गीय श्री श्रीराम पाण्डेय जी का जन्म 11/04/1917 को एवं देहावसान 03/08/1993 को मध्यप्रदेश में हुआ। आपने सिविल इन्जिनियरिंग 1940 में नागपुर विश्वविद्यालय से द्वितीय श्रेणी में प्राप्त की। आप सागर नगर निगम में सहायक यंत्री एवं जल प्रदाय विभाग में अधीक्षण यंत्री के पद पर कार्यरत रहे। सागर शहर में जल प्रदाय विभाग की स्थापना भी आपने की। आप कर्मठ, ईमानदार, विनम्र स्वभाव एवं मिलनसार व्यक्तित्व के धनी थे। आप अपनी संतानों को प्रेरणा स्रोत के रूप में सदैव मार्गदर्शन करते रहे।

प्रत्येक कार्य हेतु वास्तविक प्रवर्तक तो परम पिता परमात्मा है परन्तु स्वयं के कर्तव्य निर्वहन एवं पितृ ऋण से उऋण होने हेतु विनम्रतापूर्वक उनकी सुपुत्री प्रो. दीपा पाण्डेय, सेवानिवृत्त प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र, शासकीय के.आर.जी. महाविद्यालय, ग्वालियर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) ने अपने पिता स्व. श्री श्रीराम पाण्डेय के नाम से युवा दार्शनिक पुरस्कार हेतु रूपये पचास हजार (50000) की स्थाई निधि दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को प्रदान किया है। प्रो. दीपा पाण्डेय जी के आग्रहानुसार निम्न शर्तों के आलोक में यह पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।

1. स्थाई निधि के ब्याज राशि से यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. प्रतिवर्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
3. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्‌घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
4. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में सर्वश्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
5. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्कार प्राप्तकर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

स्व. प्रो. हेमन्त नामदेव स्मृति नीति दर्शन निबन्ध पुरस्कार

स्व. प्रो. हेमन्त नामदेव जी का जन्म 08 अक्टूबर सन् 1960 को माता लक्ष्मी देवी एवं पिता श्री धन्नालाल जी नामदेव के यहाँ प्राच्य नगरी उज्जयिनी में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा काल से ही आप मेधावी रहे। आपने शासकीय माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय उज्जैन से उच्च शिक्षा प्राप्त कर देवी अहिल्याबाई विश्वविद्यालय, इन्दौर से "पर्यावरण दर्शन–भारतीय दृष्टिकोण के विशेष सन्दर्भ में एक विश्लेषणात्मक अध्ययन" विषय पर प्रो. डी.डी. बन्दिष्टे के कुशल शोध निर्देशन में शोधोपाधि प्राप्त की। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली के सौजन्य से "तनाव प्रबन्धन" सदृश सामयिक विषय पर पोस्ट डाक्टरेट रिसर्च प्रस्तुत किया। प्राध्यापक पद को सुशोभित करते हुए अपने 26 वर्षों की सुदीर्घ अध्यापन परम्परा का निर्वहन किया तथा अनेकशः राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में 35 के लगभग शोध पत्रों का वाचन किया। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में शोध निर्देशक के रूप में पदस्थ होकर दशाधिक शोधेच्छुकों को मार्गदर्शन प्रदान कर लाभान्वित किया। आप विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में कार्यविधि के दौरान बोर्ड ऑफ स्टडीज इन फिलॉसफी के चेयरमैन नियुक्त हुए, इसके साथ ही मध्यप्रदेश के अग्रणी विश्वविद्यालयों के बोर्ड ऑफ स्टडीज इन फिलॉसफी के सदस्य भी रहे। विषय विशेषज्ञ के रूप में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में चयन मण्डल के सदस्य रहते हुए संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा सिविल सर्विस

एग्जामिनेशन के मूल्यांकन हेतु आमंत्रित हुए। आपका एक लम्बा कार्यकाल महाविद्यालयीन प्राचार्य के रूप में तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केन्द्राध्यक्ष आदि पदों पर प्रशासनिक अनुभव के साथ रहा है। आप अखिल भारतीय दर्शन परिषद् एवं मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ दर्शन परिषद् के आजीवन सदस्य तथा कई मानद् निकायों के सम्मानित सदस्य रहे हैं।

इस निबन्ध पुरस्कार का प्रवर्तन प्रो. नामदेव जी के शोध छात्र रहे डॉ. देवदास साकेत, अतिथि विद्वान, दर्शन विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा तथा सुश्री ज्योति गोयल, सहायक प्राध्यापक, शासकीय माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, उज्जैन द्वारा किया गया है। इस हेतु प्रो. नामदेव के दोनों शोधार्थियों के द्वारा रुपये 12500/एवं 12500/ कुल 25000/ की राशि परिषद् को स्थाई निधि के रूप में प्रदान किया गया है तथा अपेक्षा की गई है कि 35 वर्ष तक के विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत निबन्ध में सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लेखक को स्थाई निधि ा के ब्याज से प्रतिवर्ष पुरस्कार प्रदान किया जाय।

सत्र 2020–21 से 2022–23 के दौरान दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को व्याख्यानमालाओं/पुरस्कारों हेतु प्राप्त स्थाई निधि तथा प्रवर्तक (गण) की सूची

क्र.	व्याख्यानमाला/पुरस्कार	प्रवर्तक (गण)	स्थाई निधि की राशि
01	श्री रमण महर्षि व्याख्यानमाला	डॉ. गौतम कलोत्रा	50,000
02	स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला	प्रो. श्रीकान्त मिश्र	50,000
03	स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव स्मृति योग व्याख्यानमाला	डॉ. एच.एन. सिंह	50,000
04	स्वामी श्री शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ नीति दर्शन व्याख्यानमाला	डॉ. एच.एन. सिंह	50,150
05	स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी स्मृति योग व्याख्यानमाला	डॉ. एच.एन. सिंह	50,000
06	स्वामी श्री विष्णुतीर्थ स्मृति वेदान्त व्याख्यानमाला	डॉ. एच.एन. सिंह	50,100
07	स्व. हजारीलाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला	डॉ. संदीप कुमार चौरसिया	50,000
08	स्व. श्याम सिंह नेगी स्मृति वैदिक व्याख्यानमाला	प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी	50,000
09	श्री कीर्ति योग व्याख्यानमाला	प्रो. छाया राय	50,000
10	स्व. प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी व्याख्यानमाला	प्रो. एस.एस. नेगी जी के परिजन शिष्यगण तथा मित्रगण	50,000
11	मालती देवी–पुन्नीलाल पटेल स्मृति पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला	प्रो. भूपेन्द्र कुमार पटेल एवं श्रीमती त्रिवेणी पटेल	50,000
12	स्व. झाडूराम मरावी श्रीरामचरितमानस व्याख्यानमाला	डॉ. धरम सिंह मरावी	50,000
13	स्व. प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार	प्रो. एस.एस. नेगी जी के परिजन, शिष्यगण तथा मित्रगण	50,501
14	रायबहादुर डॉ. हीरालाल राय ग्रन्थ पुरस्कार	प्रो. छाया राय	50,000
15	स्व. श्री श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार	प्रो. दीपा पाण्डेय	50,000
16	प्रो. हेमन्त नामदेव स्मृति नीति दर्शन निबंध पुरस्कार	डॉ. देवदास साकेत एवं डॉ. ज्योति गोयल	25,000
		कुल योग रुपये	7,75,751

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
सचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.)

SOUND Rewa